सम्पादक -

विनोद शंकर व्यास

चौथा खण्ड

प्रथम संस्करण

मधुकरी

चौथा खण्ड

सम्पादक
विनोदशङ्कर व्यास

प्रकाशक

काशी

परिचय

श्री राहुल सांकृत्यायन

राहुलजी की प्रतिभा और अध्ययन का परिचय 'प्रभा' कहानी में प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ता है।

श्री रामकुमार

चित्रकार हैं। पेरिस में चित्रकला का अध्ययन कर चुके हैं। इनकी कहानी पढ़कर भी चरित्रों की रेखायें स्पष्ट हो जाती हैं।

श्रीमती कमला त्रिवेणीशंकर

इनकी कहानी 'सारंगीवाला' में कल्पना और आदर्श का मिश्रण है।

श्री भीष्म सहानी

प्रोफेसर हैं। कहानियाँ सुन्दर लिखते हैं।

श्री ओंकार शरद्

बहुत कुछ आशा है। उत्साही नवयुवक हैं।

श्री तेजबहादुर चौधरी

इनकी कहानी 'हत्याभरन' मुझे अत्यधिक पसन्द आई। ऐसी एक कहानी [illegible] ही कोई कहानी-साहित्य में अपना स्थान बना ले, ऐसी ही यह कहानी है।

श्री मोहन राकेश

राकेशजी प्रतिभाशाली नवयुवक लेखक हैं। कहानियाँ जोरदार लिखते हैं। इनसे हिन्दी कहानी-साहित्य को बहुत बड़ी आशा है।

श्री सत्येन्द्र शरत्

बहुत छोटी अवस्था में ही जीवन के श्रमों का अध्ययन करने का अवसर इन्हें प्राप्त हुआ है। उत्साही और स्वावलम्बी हैं।

पं० सुधाकर पाण्डेय

भविष्य में सुन्दर रचनाएँ लिखेंगे, ऐसी आशा है।

श्री कमलेश्वर

इतनी अल्प अवस्था में एक सफल कहानी लेखक होने की सभी विशेषतायें इनमें हैं।

पं० गिरजाशंकर पाण्डेय

उत्साही और परिश्रमी पत्रकार हैं।

श्री राजेन्द्र यादव

'मधुकरी' के इस खण्ड में सबसे अधिक पृष्ठ-संख्या इनकी कहानी को मिली है। यह कहानी उनके निर्णय पर ही प्रकाशित हुई है।

श्री मार्कण्डेय

प्रतिभाशाली हैं। भविष्य उज्ज्वल है।

श्री ओंकारनाथ श्रीवास्तव

जीवन का स्वाभाविक वर्णन करने में अत्यन्त सफल कहानी-लेखक हैं। इनसे बहुत सुन्दर कहानियाँ लिखने की आशा है।

श्री शिवप्रसाद सिंह

सफल यथार्थवादी चित्रण करने की इनमें योग्यता है। यदि बराबर लिखते रहेंगे तो हिन्दी कहानी साहित्य में अपना एक स्थान बना लेंगे।

श्री विद्यासागर नौटियाल

नवयुवक हैं। विश्वविद्यालय में पढ़ते हैं। इनकी भैंस का कट्या मुझे बहुत पसन्द है।

श्रीमती कृष्णा सोबती

इनकी कहानी बहुत प्रभावशाली है। रुग्णावस्था के कारण अपना जन्मकाल भी नहीं लिख सकीं।

और

मेरी रुग्णावस्था में ही मधुकरी के तीसरे-चौथे दोनों खण्डों का संकलन और प्रकाशन हुआ है। ये दोनों खण्ड पाठकों के सम्मुख हैं, लेकिन अभी तक खाट छोड़कर मैं स्वस्थ नहीं हो सका हूँ। भगवान् की इच्छा।

—:०:—

चौथा खण्ड

१९४९ ई० से १९५५ ई० तक के

कहानी-लेखकों की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ

अनुक्रम

श्री राहुल सांस्कृत्यायन

जन्मकाल	रचनाकाल
१८९३ ई०	१९३९ ई०

प्रभा

साकेत (अयोध्या) कभी किसी राजा की प्रधान राजधानी नहीं बना। बुद्ध के समकालीन कोसलराजा प्रसेनजित् का यहां एक राजमहल जरूर था; किन्तु राजधानी थी श्रावस्ती (सहेटमहेट), वहां से छै योजन दूर। प्रसेनजित के दामाद अजातशत्रु ने कोसल की स्वतन्त्रता का अपहरण किया उसी वक्त श्रावस्ती का भी सौभाग्य लुट गया। सरयू-तट पर बसा साकेत पहले भी नौ व्यापार का ही नहीं, बल्कि पूरब (प्राची) से उत्तरापथ पंजाब के सार्थ-पथ पर बसा रहने से स्थल-व्यापार का भी भारी केन्द्र था। यह पद उसे बहुत समय तक प्राप्त रहा। विष्णुगुप्त चाणक्य के शिष्य चद्रगुप्त मौर्य ने मगध के राज्य को पहले तक्षशिला तक, फिर यवनराज सेलाद (सेल्यूकस) को पराजित कर हिन्दूकुश पर्वतमाला (अफ़गानिस्तान) से बहुत पश्चिम हिरात और आमू दरिया तक फैलाया। चन्द्रगुप्त और उसके मौर्य-वंश के शासन में भी साकेत व्यापार केन्द्र से ऊपर नहीं उठ सका। मौर्य-वंश-ध्वंसक सेनापति पुष्यमित्र ने पहले-पहल साकेत को राजधानी का पद प्रदान किया; किन्तु शायद पाटलिपुत्र की प्रधानता को नष्ट कर के नहीं। बाल्मीकि ने अयोध्या नाम का प्रचार किया; जब उन्होंने अपनी रामायण को पुष्यमित्र या उसके शुंगवंश के शासन-काल में लिखा। इसमें तो शक ही नहीं कि अश्वघोष ने वाल्मीकि के मधुर काव्य का रसास्वादन किया था। कोई ताज्जुब नहीं, यदि वाल्मीकि शुंगवंश के आश्रित कवि रहे हों, जैसे कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के, और शुंग-वंश की राजधानी की महिमा को बढ़ाने ही के लिए उन्होंने जातकों के दशरथ की राजधानी वाराणसी से बदल कर साकेत या अयोध्या कर दी और राम के रूप में शुङ्ग-सम्राट् पुष्यमित्र वा अग्निमित्र की

प्रशंसा की—वैसे ही, जैसे कालिदास ने 'रघुवंश' के रघु और 'कुमार-सम्भव' के कुमार के नाम से पिता पुत्र चद्रगुप्त विक्रमादित्य और कुमारगुप्त की की।

सेनापति पुष्यमित्र अपने स्वामी का वध कर सारे मौर्य सम्राज्य को नहीं ले सका। पंजाब सारा यवनराजा मिनान्दर के हाथ में चला गया; और एक बार तो उसने साकेत पर भी घेरा डाल दिया था, जैसा कि पुष्यमित्र के पुरोहित ब्राह्मण पतंजलि ने लिखा है। इससे यह भी पता लगता है कि पुष्यमित्र के शासन कालके आरम्भिक दिनों में भी साकेत का ख़ास महत्व था, और यह भी कि पतंजलि और पुष्यमित्र के समय अयोध्या नहीं, साकेत ही इस नगर का नाम था।

पुष्यमित्र, पतंजलि और मिनान्दर के समय से हम दो सौ साल और पीछे आते हैं। इस समय भी साकेत में बड़े-बड़े श्रेष्ठी (सेठ) बसते थे। लक्ष्मी का निवास होने से सरस्वती की भी थोड़ी-बहुत कद्र होना ज़रूरी था और फिर धर्म तथा ब्रह्मणों का गुड़-चींटे की तरह आ मौजूद होना भी स्वाभाविक था। इन्हीं ब्राह्मणों में एक धन-विद्या-सम्पन्न कुल था, जिसके स्वामी का नाम काल ने भुला दिया; किन्तु स्वामिनी का नाम उसके पुत्र ने अमर कर दिया। ब्राह्मणी का नाम था सुवर्णाक्षी, उसके नेत्र सुवर्ण जैसे पीले थे। उस वक्त पीले नीले नेत्र ब्रह्मणों और क्षत्रियों में आम तौर पर पाये जाते थे, और पीली आँखों का होना दोष नहीं समझा जाता था। ब्राह्मणी सुवर्णाक्षी का एक पुत्र उसी की भाँति सुवर्णाक्ष, उसी की भाँति पिंगल केश और उसी की भांति सुगौर था।

(२)

वसन्त का समय था। आम की मंजरी चारों ओर अपनी सुगन्धि को फैला रही थी। वृक्ष पुराने पत्तों को छोड़ नये पत्तों का परिधान धारण किये हुए थे। आज चैत्र शुक्ला नवमी तिथि थी। साकेत के नर-नारी सरयू के तटपर जमा हो रहे थे—तैराकी के लिए। तैराकी द्वारा ही साकेतवासी वसन्तोत्सव मनाया करते थे। तैराकी में तरुण-तरुणी दोनों भाग लेते थे और नंगे बदन एक घाट पर। तरुणियों में कितनी ही कर्पूर-श्वेत यवनियाँ (यूनानी स्त्रियां) थीं, जिनका सुन्दर शरीर यवन चित्रकारनिर्मित अनुपम मर्मरमूर्त्ति जैसा था, जिसके ऊपर उनके पिंगल या पाण्डुरकेश बड़े सुन्दर मालूम होते थे। कितनी ही नीलया पीतकेशधारिणी सुवर्णाक्षी ब्राह्मणकुमरियां थीं, जो सौन्दर्य में यवनियों से पीछे न थीं। कितनी

ही घनकृष्णकेशी गोधूमवर्णा वैश्य-तरुणियां थीं, जिनका अचिरस्थायी मादक तारुण्य कम आकर्षक न था। आज सरयूतट पर साकेत के कोने-कोने की कौमार्य रूपराशि एकत्रित हुई थी; तरुणियों की भांति नाना कुलों के तरुण भी वस्त्रों को उतार नदी में कूदने के लिए तैयार थे। उनके व्यायाम-पुष्ट, परिमंडल सुन्दर शरीर कर्पूर से गोधूम तक के वर्ण वाले थे। उनके केश, मुख, नाकपर ख़ास-ख़ास कुलों की छाप थी। आज के तैरा की महोत्सव से बढ़कर अच्छा अवसर किसी तरुण-तरुणी को सौन्दर्य परखने का नहीं मिल सकता था। हर साल इस अवसर पर कितने ही स्वयंवर सम्पन्न होते थे। मां-बाप तरुणों को इसके लिए उत्साहित करते थे। उस वक्त का यह शिष्टाचार था।

नाव पर सरयू-पार जा तैराक तरुण-तरुणियां जल में कूद पड़े। सरयू के नीले जल में कोई अपने सुवर्ण, पाण्डु, रजत या रक्त दीर्घ केशों को प्रदर्शित करते और कोई अपने नीले-काले केशों को नील जल में एक करते दोनों भुजाओं से जल को फाड़ते आगे बढ़ रहे थे। उनके पास कितनी ही क्षुद्र नौकाएँ चल रही थीं, जिनके आरोही तरुण-तरुणियों को प्रोत्साहन देते तथा थक जाने पर उठा लेते थे—हजारों प्रतिस्पर्द्धियों में कुछ का हार स्वीकार करना सम्भव था। सभी तैराक शीघ्र आगे बढ़ने के लिए पूरी चेष्टा कर रहे थे। जब तट एक तिहाई-दूर रह गया, तो बहुत- से तैराक शिथिल पड़ने लगे। उस वक्त पीछे से लपकते हुए केशों में एक पिंगल था और दूसरा पाण्डुश्वेत। तट के समीप आने के साथ उनकी गति और तीव्र हो रही थी। नाव पर चलने वाले साँस रोक कर देखने लगे। उन्होंने देखा कि दो पिंगल और पाण्डुश्वेत केश सब से आगे बढ़कर एक पाँती में जा रहे हैं। तट और नज़दीक आ गया। लोग आशा रखते थे कि उन में से एक आगे निकल जायगा; किन्तु देखा, दोनों एक ही पाँती में चल रहे हैं। शायद नौकारोहियों में से किसी ने उन्हें एक दूसरे को आगे जाने के लिए ज़ोर देते सुना भी।

दोनों साथ ही तीर पर पहुँचे। उनमें एक तरुण था और दूसरी तरुणी। लोगों ने हर्षध्वनि की। दोनों ने कपड़े पहने। खुली शिविकाओं पर उनकी सवारी निकाली गई। दर्शकों ने फूलों की वर्षा की। तरुण-तरुणी एक दूसरे को

नज़दीक से देख रहे थे। लोग उनके तैरने के कौशल ही को नहीं, सौन्दर्य को भी प्रशंसा कर रहे थे। किसी ने पूछा—कुमारी को तो मैं जानता हूँ; किन्तु तरुण कौन है, सौम्य?

'सुवर्णाक्षी-पुत्र अश्वघोष का नाम नहीं सुना?'

'नहीं, मैं अपने पुरोहित के ही कुल को जानता हूँ। हम व्यापारी इतना जानने की फुर्सत कहाँ रखते हैं।'

तीसरे ने कहा—अरे अश्वघोष की विद्या की ख्याति साकेत से दूर-दूर तक पहुँच गई है। यह सारे वेदों और सारी विद्याओं में पारंगत है।

पहला—लेकिन इसकी उम्र तो चौबीस से अधिक की न होगी।

तीसरा—हां, इसी उम्र में। और इसकी कविताएँ लोग झूम-झूम कर पढ़ते गाते हैं।

दूसरा—अरे; यही कवि अश्वघोष है, जिसके प्रेम-गीत, हमारे तरुण-तरुणियों की जीभ पर रहते हैं?

तीसरा—हाँ, यह वही अश्वघोष है! और कुमारी का क्या नाम है, सौम्य?

पहला—साकेत में हमारे यवन-कुल के प्रमुख तथा कोसल के विख्यात सार्थवाह दत्तमित्र की पुत्री प्रभा।

दूसरा—तभी तो! ऐसी सुन्दरता दूसरों में बहुत कम पाई जाती है। देखने में शरीर कितना कोमल मालूम होता है; किन्तु तैरने में कितना दृढ़!

पहला—इसके मां-बाप दोनों बड़े स्वस्थ बलिष्ठ हैं।

नागरोद्यान में जा विशेष सम्मान प्रकट करते हुए लोगों को दोनों तैराकों का परिचय दिया, गया और उन दोनों ने भी लज्जावनत सिर से एक दूसरे का परिचय प्राप्त किया।

(३)

साकेत का पुष्योद्यान सेनापति पुष्यमित्र के शासन का स्मारक था। सेनापति ने इसके निर्माण में बहुत धन और श्रम लगाया था और यद्यपि अब न पुष्यमित्र के वंश का राज्य रहा, न साकेत कोई दूसरी श्रेणी की भी राजधानी, तो भी नैगम

(नगर-सभा) ने उसे साकेत का गौरव समझ उसी तरह सुरक्षित रखा, जैसा कि वह दो सौ वर्ष पूर्व पुष्यमित्र के शासन-काल में था। बाग के बीच में एक सुन्दर पुष्करिणी थी, जिसके नील विशुद्ध जल में पद्म, सरोज, पुण्डरीक आदि नाना वर्णों के कमल खिले तथा हंस-मिथुन तैर रहे थे। चारों ओर श्वेत-पाषाण के घाट थे, जिनके सोपान स्फटिक की भाँति चमकते थे। सरोवर के किनारे पर हरी दूब की काफी चौड़ी मगजी लगी थी। फिर कहीं गुलाब, जुही, बेला आदि फूलों की क्यारियाँ थीं और कहीं तमाल-बकुल अशोक पंक्तियों की छाया। कहीं लता-गुल्मों से घिरे पाषाण तल वाले छोटे-बड़े लतागृह थे और कहीं कुमार-कुमारियों के कुन्दक-क्षेत्र। उद्यान में कई पाषाण, मृत्तिका और हरित वनस्पति से आच्छादित रम्य क्रीड़ा पर्वत थे। कहीं-कहीं जलयन्त्र (फव्वारे) जल-शीकर छोड़ वर्षा का अभिनय कर रहे थे।

अपराह्न में अकसर एक लतागृह के पास साकेत के तरुण-तरुणियों की भीड़ देखी जाती। यह भीड़ उनकी होती, जो भीतर स्थान न पा सके होते। आज भी वहाँ भीड़ थी; किन्तु चारों ओर की नीरवता के साथ। सभी के कान लता-गृह की ओर लगे हुए थे। और भीतर? शिलाच्छादित फर्श पर वह तरुण है, जिसने एक मास पहले तैराकी में विजय प्राप्त करने से इनकार कर दिया था। उसके शरीर पर मसृण (चिकने) सूक्ष्म दुकूल का कंचुक है। उसके दीर्घ पिंगल केश सिर के ऊपर जूट की तरह बँधे हुए हैं। उसके हाथ में मुखर वीणा है, जिसपर तरुण की अँगुलियाँ अप्रयास थिरकती मनमाना स्वर निकाल रही हैं। तरुण अर्द्धमुद्रित नेत्रों के साथ लय में लीन कुछ गा रहा है—दूसरे के नहीं, अपने ही बनाये गीत। उसने अभी, 'वसन्त कोकिला' का गीत संस्कृत में समाप्त किया। संस्कृत के बाद प्राकृत गीत गाना जरूरी था, क्योंकि गायक कवि जानता है, उसके श्रोताओं में प्राकृत-प्रेमी ज्यादा हैं। कवि ने अपनी नवनिर्मित रचना 'उर्वशी-वियोग' सुनाई—उर्वशी लुप्त हो गई और पुरूरवा अप्सरा (पानी में चलने वाली) कहकर उर्वशी को सम्बोधित करते पर्वत, सरिता सरोवर, वन, गुल्म आदि में ढूँढ़ता फिरता है। वह अप्सरा का दर्शन नहीं कर पाता; किन्तु उसके शब्द उसे वायु में सुनाई देते हैं। पुरूरवा के आँसुओं

के बारे में गाते वक्त गायक के नेत्रों से आँसू गिरने लगे, और सारी श्रोतृ मण्डली ने उसका साथ दिया।

संगीत-समाप्ति के बाद लोग एक-एक करके चलने लगे। अश्वघोष जब बाहर निकला, तो कुछ तरुण-तरुणी उसे घेर कर खड़े हो गए। उनमें सूजे आरक्त नयनों के साथ प्रभा भी थी। एक तरुण ने आगे बढ़ कर कहा—महाकवि!

'महाकवि! मैं कवि भी नहीं हूँ, सौम्य!'

'मुझे अपनी श्रद्धा के अनुसार कहने दो, कवि! साकेत के हम यवनों की एक छोटी सी नाट्यशाला है।'

'नृत्य के लिए? मुझे भी नृत्य का शौक है।'

'नृत्य के लिए ही नहीं, उसमें हम अभिनय भी किया करते हैं।'

'अभिनय!'

'हाँ, यवन-रीति का अभिनय एक विशेष प्रकार का होता है, कवि! जिसमें भिन्न-भिन्न काल तथा स्थान के परिचायक बड़े-बड़े चित्र पट रहते हैं और सभी घटनाओं को वास्तविक रूप में दिखलाने की कोशिश की जाती है।'

'मुझे कितना अफसोस है, सौम्य! साकेत में जन्म लेकर भी मैंने ऐसे अभिनय को नहीं देखा।'

'हमारे अभिनय के दर्शक यहाँ के यवन-परिवारों तथा कुछ इष्ट मित्रों तक ही सीमित हैं, इसलिए बहुत से साकेत वासी यवन अभिनय—'

'नाटक कहना चाहिए, सौम्य!'

'हाँ, यवन नाटक को। आज हम लोग एक नाटक करने वाले हैं। हम चाहते हैं कि तुम भी हमारे नाटक को देखो।'

'खुशी से। यह आप मित्रों का बहुत अनुग्रह है।'

अश्वघोष उनके साथ चल पड़ा। नाट्यशाला में रंग के पास उसे स्थान दिया गया। अभिनय किसी यवन (यूनानी) दुःखान्त नाटक का था और प्राकृत भाषा में किया गया था। यवन कुल-पुत्रों और कुल-पुत्रियों ने हर एक पात्र का अभिनय किया था। अभिनेताओं तथा अभिनेत्रियों की पोशाक यवन-देशियों

जैसी थी। भिन्न-भिन्न दृश्यों के चित्रपट भी यवन रीति से बने थे। नायिका बनी थी प्रभा, अश्वघोष की परिचिता। उसके अभिनय कौशल को देख कर वह मुग्ध हो गया। नाटक के बीच में एक उचित अवसर देखकर पूर्व परिचित यवन तरुण ने 'उर्वशी-वियोग' गाने की प्रार्थना की। अश्वघोष बिना किसी हिचक के वीणा उठा रंग मंच पर पहुँच गया। फिर उसने अपने गाने से स्वयं रो, दूसरों को रुलाया। उस वक्त एक बार उसकी दृष्टि प्रभा के कातर नेत्रों पर पड़ी थी।

नाटक समाप्त हो जाने पर नेपथ्य में सारे अभिनेता कुमार-कुमारियों का कवि से परिचय कराया गया। अश्वघोष ने कहा—साकेत में रहते हुए भी मैं इस अनुपम कला से बिल्कुल अनभिज्ञ रहा। आप मित्रों का मैं बहुत कृतज्ञ हूँ, कि आपने मुझे एक अज्ञात प्रभा लोक का दर्शन कराया।

'प्रभालोक' कहते समय कुछ तरुणियों ने प्रभा की ओर देखकर मुस्कुरा दिया। अश्वघोष ने फिर कहा—मेरे मन में एक विचार आया है। तुमने जैसे यवन नाटक के प्राकृत रूपान्तर का आज अभिनय किया, मैं समझता हूँ, उसी ढंग के अनुसार हम अपने देश की कथाओं को ले अच्छे नाटक तैयार कर सकते हैं।

'हमें भी पूरा विश्वास है, यदि कवि! तुम करना चाहो, तो मूल यवन नाटक से भी अच्छा नाटक तैयार कर सकते हो।'

'इतना मत कहो, सौम्य! यवन नाटककार का मैं शिष्य भर ही होने लायक हूँ। अच्छा, यदि मैं उर्वशी वियोग पर नाटक लिखूँ?'

'हम उसका अभिनय भी करने के लिए तैयार हैं; लेकिन साथ ही पुरूरवा का पार्ट तुम्हें लेना होगा।'

'मुझे उज्र न होगा, और मैं समझता हूँ, थोड़ा-सा अभ्यास कर लेने पर मैं उसे बुरा न करूँगा।'

'हम चित्रपट भी तैयार करा लेंगे।'

'चित्रपट पर हमें पुरूरवा के देश के दृश्य अंकित करने होंगे। मैं भी चित्र कुछ खींच लेता हूँ। अवसर मिलने पर उसमें मैं कुछ मदद करूँगा।'

'तुम्हारे आदेश के अनुसार दृश्यों का अंकित होना अच्छा होगा। पात्रों की बेश भूषा का निर्देश भी, सौम्य, तुम्हें ही देना होगा। और पात्र ?'

'पात्र तो, सौम्य, सभी अभी नहीं बतलाए जा सकते। हां उनकी संख्या कम रखनी होगी। कितनी रखनी चाहिये ?'

'सोलह से बीस तक को हम असानी से तैयार कर सकते हैं।'

'मैं सोलह तक ही रखने की कोशिश करूँगा।'

'पुरूरवा, तो सौम्य! तुम्हें बनना होगा और उर्वशी के लिए हमारी प्रभा कैसी रहेगी ? आज तुमने देखा उसके अभिनय को।'

'मेरी अनभ्यस्त आंखों को तो वह निर्दोष मालूम हुआ।'

'तो प्रभा को ही उर्वशी बनना होगा। हमारी मण्डली में जो काम जिसको दिया जाता है, वह उससे इनकार नहीं कर सकता।'

प्रभा के नेत्र कुछ संकुचित होने लगे थे, किन्तु प्रमुख तरुण के 'क्यों प्रभा!' कहने पर उसने जरा रुक कर 'हाँ' कर दिया।

(४)

अश्वघोष ने प्रमुख यवन तरुण—बुद्धप्रिय—के साथ कुछ यवन नाटकों के प्राकृत-रूपान्तरों को पढ़ा और उनके स्थान आदि के संकेत के बारे में बात-चीत की। नाटक के चित्रपटी का नाम करण उसने यवन (यूनानी) कला के स्मरण के रूप में यवनिका रखा। नाटक को संस्कृत-प्राकृत, गद्य-पद्य दोनों में लिखा। उस समय की प्राकृत संस्कृत के इतना समीप थी कि सम्भ्रान्त परिवारों में उसे आसानी से समझा जाता था। यही 'उर्वशी वियोग' प्रथम भारतीय नाटक था, और अश्वघोष था प्रथम नाटककार। कवि का यह पहला प्रयास था, तो भी वह उसके 'राष्ट्रपाल', 'सारिपुत्र' आदि नाटकों से कम सुन्दर नहीं था।

रंग की तैयारी तथा अभिनय के अभ्यास में तरुण-कवि को खाना-पीना तक याद नहीं रहता था। इसे वह अपने जीवन की सुन्दरतम घड़ियां समझता था। रोज घण्टों वह और प्रभा साथ तैयारी करते थे। तैयारी के दिन उनके हृदयों में पड़ा प्रेम-बीज अब अंकुरित होने लगा था। यवन तरुण-तरुणी

अश्वघोष को आत्मीय के तौर पर देखना चाहते थे, इसलिए वह इसके सहायक होना अपने सौभाग्य की बात समझते थे। एक दिन घड़ियों के तूलिका संचालन के बाद अश्वघोष नाट्यशाला के बाहर क्षुद्रोद्यान में रखी आसन्दिका पर जा बैठा। उसी समय प्रभा भी वहाँ आ गई। प्रभा ने अपने स्वाभाविक मधुर स्वर में कहा—कवि, तुमने उर्वशी-वियोग गीत बनाते वक्त अपने सामने क्या रखा था?

'उर्वशी और पुरूरवा के, कथानक को।'

'कथानक तो मैं भी जानती हूँ। उर्वशी को अप्सरा करके तुमने बार-बार सम्बोधित किया था?'

'उर्वशी थी ही अप्सरा।'

'फिर उस में पुरूरवा को उर्वशी के वियोग में सरिता, सरोवर, पर्वत, वन सब में ढूँढ़ने में विह्वल चित्रित किया था।'

'पुरूरवा की उस अवस्था में यह स्वाभाविक था।'

'फिर उर्वशी वियोग के गायक ने लतागृह में अश्रुधारा को वीणा की भाँति गीत का संगी बना दिया था।'

'गायक और अभिनेता को तन्मय हो जाना चाहिए, प्रभा!'

'नहीं, तुम मुझे साफ़ बतलाना नहीं चाहते।'

'तुम क्या समझती हो?'

'मैं समझती हूँ, तुमने किसी पुरानी उर्वशी के वियोग का गान नहीं गाया था।'

'और फिर?'

'तुम्हारी उर्वशी—उर-वसी (हृदय में बसी)—थी, वह अप्सरा—अप=सरयू के जलमें, सरा= तैरनेवाली—थी।'

'और फिर?'

'इस उर्वशी का पुरूरवा किसी हिमालय-जैसे पर्वत, वनखंड, सरिता, सरोवर और गुल्म में नहीं बल्कि साकेत की सरयू, पुष्पोद्यान के सरोवर, क्रीड़ा-पर्वत, वन और गुल्म को ढूँढ़ता फिरता था।'

'और फिर ?'

'उसके आँसू किसी पुराने पुरूरवा सी सहानुभूति में नहीं, बल्कि अपनी ही आग को बुझाने के लिए निकले थे।'

'और एक बात मैं भी कहूँ, प्रभा !'

कहो, अब तक मैंने ही अधिक कहा।'

'और उस दिन लतागृह से निकते वक्त मैंने तुम्हारे इन मनहर नीले नयनों को आरक्त और अधिक सूजे देखा था।'

'तुमने अपने गान से रुलाया था।'

'तुमने अपने वियोग से वह गीत प्रदान किया था।'

'किन्तु, तुम्हारे गीत की उर्वशी कोई पाषाणी थी, कवि ? कमसे कम तुमने उसे वैसा ही चित्रित किया था।'

'क्योंकि मैं व्याकुल और निराश था।'

'क्या समझ कर ?'

'मैं उस अचिरप्रभा (बिजली) के दर्शन का सौभाग्य न प्राप्त कर सकूँगा। वह कब की मुझे भूल गई होगी।'

'तुम इतने अकिंचन थे, कवि ?'

'जब तक आत्म-विश्वास का कोई कारण न हो, तब तक आदमी अकिंचन छोड़ अपने को और क्या समझ सकता है।'

'तुम साकेत ही नहीं, हमारे इस विस्तृत भूखंड के महिमा-प्राप्त कवि हो। तुम साकेत के सरिता तरण के विजेता हो। तुम्हारी विद्या की प्रशंसा हर साकेतवासी की जिह्वा पर है। और नारी की दृष्टि से देखो, तो साकेतकी सुन्दरियां तुम्हें अपनी आँखों का तारा बना कर रखने को तैयार हैं।'

'किन्तु इससे क्या ? मेरे लिए तो अपनी उर्वशी सब-कुछ थी। मैंने जब दो सप्ताह उसे नहीं देखा, जीवन निस्सार मालूम होने लगा। सच कहता हूँ प्रभा ! मैंने अपने चित्त को कभी इतना निर्बल नहीं पाया था। यदि एक सप्ताह और न तुम्हें देख पाया होता, तो न-जाने क्या कर डालता।'

'कवि ! तुम इतने स्वार्थी न बनो। तुम अपने देश के शाश्वत गायक

हो। तुमसे अभी वह क्या-क्या आशा रखता है। तुम्हारे इस उर्वशी-वियोग नाटक का जानते हो, कितना बखान हो रहा है?'

'मैंने नहीं सुना।'

'पिछले सप्ताह मेरे बन्धु एक यवन व्यापारी भरुकच्छ (भड़ौच) से यहां आये थे। भरुकच्छ में यवन नागरों की भारी संख्या रहती है। हमारे साकेत के यवन (यूनानी) तो हिन्दू हो गये हैं; किन्तु भरुकच्छ वाले अपनी भाषा को भूले नहीं हैं। भरुकच्छ में यवन देश से व्यापारी और विद्वान आया करते हैं! हमारे यह बन्धु यवन साहित्य के बड़े मर्मज्ञ हैं। उन्होंने तुम्हारे नाटक की उपमा एम्पीदोक्लस और युरोपिद्— श्रेष्ठ यवननाटककारों—की कृतियों से दी। वह इसे उतरवा कर ले गये हैं। कहते थे—मिस्र का राजा तुरमाय (तालिमी) बड़ा नाट्य-प्रेमी है, उसके पास यवन भाषान्तर कर इसे भेजेंगे। भरुकच्छ से मिश्र को बराबर जलपोत आया जाया करते हैं। जिस वक्त मैं उनके वार्त्तालाप को सुन रही थी, उस वक्त मेरा हृदय अभिमान से फूल उठा था।'

'मेरे लिये तुम्हारे हृदय का अभिमान ही सब-कुछ है, प्रभा!'

'कवि! तुम अपना मूल्य नहीं जानते।'

'मेरे मूल्य को कसोटी तुम थीं, प्रभा! अब मैं उसे जानता हूँ।'

'नहीं, तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिये! तुम्हें प्रभा के प्रेमी अश्वघोष और युग के महान् कवि अश्वघोष को अलग-अलग रखना होगा। प्रभा के प्रेमी अश्वघोष को चाहे जो कुछ कहो-करो, किन्तु महान् कवि को उससे ऊपर, सारी बसुन्धरा का समझना होगा।'

'तुम जैसा कहोगी, इस बात में मैं तुम्हारा अनुसरण करूँगा।'

'मैंने अपने को इतनी सौभाग्यशालिनि होने की कभी अशा न की थी।'

'क्यों?'

'सोचती थी, तुम मुझे भूल चुके होगे।'

'तुम इतनी साधारण थीं।'

'तुम्हारे सामने थी और अब भी हूँ।'

'तुमसे मुझे कविता का नया वर मिला है। मैं अपनी कविताओं में अब

नई प्रेरणा, नई स्फूर्ति पाता हूँ। 'उर्वशी वियोग' गीत तुम्हारी प्रेरणा से प्रकट हुआ और यह नाटक भी। नाटक को मैं देश की अपनी चीज़ बना रहा हूँ, प्रभा? किन्तु तुमने कैसे समझा कि मैं तुम्हें भूल जाऊँगा?'

'कहीं से भी मैं अपने को तुम्हारे पास पहुँचने लायक नहीं पाती थी। एक एककर जब मैं तुम्हारे गुणों से पूर्णतया परिचित हो गई, तो उससे निराश ही होती गई। साकेत की एक-से-एक सुन्दरियों को मैंने तुम्हारे नामपर बावली होते देखा, इससे भी आशा नहीं हो सकती थी। फिर सुना, तुम उच्च कुल के ब्राह्मण हो। यद्यपि मैं ब्राह्मणों के बाद उच्च स्थान रखनेवाले राजपुत्र यवन की कन्या हूँ, तो भी कुलीन ब्राह्मण—जो माता-पिता की सात पीढ़ियों तक की छान-बीन किये बिना ब्याह नहीं करता—कैसे मेरे प्रेम का स्वागत करेगा?'

'मुझे खेद है प्रभा! जो अश्वघोष ने तुम्हारे चित्त को इस तरह दुखाया।'

'तो तुम प्रभा—' कहते-कहते वह रुक गई।

अश्वघोष ने प्रभा के वाष्पपूर्ण नेत्रों को चूम, कण्ठ से लगा कर कहा 'प्रभा अश्वघोष सदा तुम्हारा रहेगा काल भी तुम्हें उससे पराई नहीं बना सकता।'

प्रभा के नेत्रों से छलछल आँसू बह रहे थे और अश्वघोष कण्ठ से लगाये उसके आँसुओं को पोंछ रहा था।

उर्वशी-वियोग बहुत अच्छा खेला गया और एक से अधिक बार। साकेत के सभी सम्भ्रान्त नागरिकों ने उसे देखा। उन्हें कभी ख्याल भी न था कि अभिनय की कला इतनी पूर्ण, इतनी उच्च हो सकती है। अश्वघोष ने अन्तिम यवनिकापात के समय कई बार दोहराया था कि मैंने सब कुछ यवन रंगमंच से लिया है, किन्तु उसके नाटक इतने स्वभूमिज थे कि कोई उन पर किसी प्रकार के विदेशी प्रभाव का गन्ध भी नहीं पाता था।

जिस तरह अश्वघोष के संस्कृत-प्राकृत गीत और कविताएँ साकेत और कोसल की सीमा पार कर गये थे, उसके नाटक उससे भी दूर तक फैल गये। उज्जयिनी, दशपुर, सुप्पारक, भरुकच्छ, शाकला (स्यालकोट) तक्षशिला, पाटलि-पुत्र जैसे महानगरों में—जहाँ कि यवनों की काफी संख्या और उनकी नाट्य-

शलाएँ थीं—उसके नाटक रंग-मंच पर बहुत जल्द पहुँचे, और फिर सारे ही सामन्तों और व्यापारियों में वह बहुत प्रिय हुए।

(५)

अश्वघोष का रंग मंच पर अभिनय और यवन-कन्या से प्रेम उसके माता-पिता से छिपा नहीं रह सकता था। इसे सुन कर पिता ख़ास तौर से चिन्तित हुए। ब्राह्मण ने सुवर्णाक्षी को पहले समझाने के लिए कहा। माता ने जब कहा कि हमारे ब्राह्मण कुल के लिए ऐसा सम्बन्ध अधर्म है, तब ब्राह्मणों के सारे वेद-शास्त्रों के ज्ञाता अश्वघोष ने मां को पुराने ऋषियों के आचरणों के सैकड़ों प्रमाण दिये (जिनमें से कुछ को पीछे उसने अपनी 'वज्रच्छेदिका' में जमा किया जो आज भी 'वज्रच्छेदिकोपनिषद' के नाम से उपनिषद्-गुटका में सम्मिलित है) किन्तु मां ने कहा—यह तो सब ठीक है, बेटा, किन्तु आज के ब्राह्मण उस पुराने आचरण को नहीं मानते।

'तो ब्राह्मणों के लिए मैं एक नया सदाचार उपस्थित करूँगा।'

माँ अश्वघोष की युक्तियों से सन्तुष्ट नहीं हो सकती थी किन्तु जब उसने कहा कि प्रभा और मेरे प्राण अलग नहीं रह सकते, तो वह पुत्र के पक्ष में हो गई और बोली—पुत्र, मेरे लिए तू ही सब कुछ है।

अश्वघोष ने एक दिन प्रभा को मां के पास भेजा। मां ने रूप के समान ही गुण और स्वभाव में भी आगरी इस कन्या को देख आशीर्वाद दिया।

किन्तु ब्राह्मण इसे मान नहीं सकता था। उसने एक दिन अश्वघोष से सीधे कहा—पुत्र! हमारा श्रोत्रियों का श्रेष्ठ ब्राह्मण कुल है। हमारी पचासों पीढ़ियों से सिर्फ कुलीन ब्राह्मण कन्याएँ ही हमारे घर में आया करती हैं। आज यदि इस सम्बन्ध को तुम स्वीकार करते हो, तो हम और हमारी आगे आने वाली सन्तान सदा के लिए जातिभ्रष्ट हो जायँगे, हमारी सारी मान-मर्यादा जाती रहेगी।

अश्वघोष के लिए प्रभा का त्याग अचिन्तनीय था।

ब्राह्मण ने फिर प्रभा के माता पिता से अनुनय विनय की, किन्तु वह

असमर्थ थे। अन्त में उसने प्रभा के सामने पगड़ी रखी। प्रभा ने इतना ही कहा कि मैं अश्वघोष से आपकी बात कहूँगी।

(६)

प्रभा और अश्वघोष अभिन्न सहचर थे। चाहे सरयू तीर हो, चाहे पुष्पोद्यान, यात्रोत्सव, नृत्यशाला, नाट्यशाला या दूसरी जगह, एक के होने पर दूसरे का वहां रहना जरूरी था। प्रभा सूर्य प्रभा की भांति अश्वघोष के हृदय-पद्म को विकसित रखती थी। दूध सी छिटकी चांदनी के प्रकाश मे दोनों अकसर सरयू की रेत में जाते और प्रणय लीला में ही अपना समय नहीं बिताते बल्कि वहां कितनो हो बार जीवन की दूसरो गम्भीर बातें भी छिड़ जातीं। एक दिन उस चांदनी में सरयू की काली धारा के पास श्वेत सिकता पर बैठी प्रभा के रूप का चित्र वह अपने मन में खींचने लगा। एकाएक उसके मुँह से उद्गार निकल आया—प्रभा, तुम मेरी कविता हो तुम्हारी ही प्रेरणा को पाकर मैंने उर्वशी-वियोग लिखा। तुम्हारी यह रूपराशि मुझसे कितने ही काव्य-सौन्दर्य की रचना कराएगी। कविता भीतर की अभिव्यक्ति बाहर नहीं है, बल्कि वह बाहर की अभिव्यक्ति भीतर है, इस तत्व को मुझे तुमने समझाया, प्रिये!

प्रभा अश्वघोष की बात को सुनते-सुनते शीतल सिक्तातल पर लेट रही। उसके दीर्घ अम्लान केशों को बालू पर फैलते देख अश्वघोष ने उसके सिर को अपनी गोद में ले लिया। नेत्रों को ऊपर की ओर करके प्रभा अश्वघोष के मुख की रूपरेखा देख रही थी। अश्वघोष की बात को समाप्ति पर पहुँचते देख प्रभा ने कहा—मैं तुम्हारी सभी बातों को मानने के लिये तैयार हूं! काव्य वस्तुतः साकार सौन्दर्य से प्रेरित हुए बिना पूर्ण नही होता। मैं भी तुम्हारी काव्यमय चित्रण करती, और मूक चित्रण मैं करती भी हूँ; किन्तु कविता मेरे बस की बात नहीं है। मैंने उस दिन कहा था कि तुम्हें अपने भीतर दो अश्वघोषों को देखना चाहिए, जिनमें युग के महान् कवि शाश्वत अश्वघोष का ही ख्याल मुख्य होना चाहिये; क्योंकि वह एक व्यक्ति का नहीं, बल्कि विश्व की

महानिधि है। कालकाराम के उस विद्वान भिक्षु की बात याद है न, जिसे हम परसों देखने गए थे।

'वह अद्भुत मेधावी मालूम पड़ता है।'

'हाँ, और बहुत दूर-दूर तक घूमा भी। उसका जन्म मिस्र की अलसन्दा (सिकन्दरिया) नगरी का है।'

'हाँ, मैंने सुना है। एक बात मुझे समझ में नहीं आती, प्रिये! यवन सारे ही बौद्धधर्म को क्यों मानते हैं?'

'क्योंकि वह उनकी मनोवृत्ति और स्वतन्त्र प्रकृति के अनुकूल मालूम होता है।'

'लेकिन बौद्ध सबको विरागी, तपस्वी और भिक्षु बनाना चाहते हैं?'

'बौद्धों में गृहस्थों की अपेक्षा भिक्षु बहुत कम होते हैं और बौद्ध गृहस्थ-जीवन का रस लेने में किसी से पीछे नहीं रहते।'

'इस देश में कितने ही धर्म हैं, आख़िर यवनों का बौद्ध धर्म पर इतना पक्ष-पात क्यों? यह फिर भी समझ में नहीं आता।'

'यह बौद्ध धर्म ही सबसे उदार धर्म है। जब हमारे पूर्वज भारत में आए, तो सब म्लेच्छ कहकर हमसे घृणा करते थे। आक्रमणकारी यवनों की बात मैं नहीं कर रही हूँ, यहाँ बस जानेवाले अथवा व्यापार आदि के सम्बन्ध से आनेवाले यवनों के साथ भी यही वर्ताव था। किन्तु बौद्ध उनसे कोई घृणा नहीं करते थे। यवन वस्तुतः अपने देश में भी बौद्ध धर्म से परिचित हो गए थे।'

'अपने देश में भी?'

'हाँ, चन्द्रगुप्त मौर्य के पौत्र अशोक के समय कितने ही बौद्ध-भिक्षु यवन लोक (यूनानी लोगों) में पहुँचे थे। हमारे धर्म रक्षित इस देश में आकर भिक्षु नहीं बने। वह मिस्र में अलसन्दा (सिकन्दरिया) के बिहार में भिक्षु हुए थे।'

'मैं उनसे फिर मिलना चाहता हूँ, प्रभा!'

'जरूर मिलना चाहिये। वह तुम्हें और गम्भीर बातें बतलाएँगे—बौद्ध-धर्म के बारे में ही नहीं, यवन-दर्शन के बारे में भी।'

'यवन भी दार्शनिक हुये हैं?'

'अनेक महान् दार्शनिक, जिनके बारे में भदन्त धर्म-रक्षित तुम्हें बतलाएँगे। किन्तु, प्रिय, कहीं बौद्ध-दर्शन सुन प्रभा से वैराग्य न कर लेना।'—कह प्रभा ने अपनी बाँहों में अश्वघोष को बाँध लिया, मानों उसे कोई छीने लिए जा रहा हो।

'कुछ बातें तो कालकाराम की मुझे भी बहुत आकर्षक मालूम हुईं। ख्याल आता था, यदि हमारा सारा देश कालकाराम-जैसा होता।'

प्रभा ने बैठ कर कहा—नहीं, प्रिय! कहीं तुम मुझे छोड़कर कालकाराम में न चले जाना।

'तुम्हें छोड़ जाना जीते जी! असम्भव प्रिये! मैं कह रहा था वहाँ की भेद-भाव-शून्यता के बारे में। देखो, वहाँ यवन धर्मरक्षित, पार्शव (पर्सियन) सुमन जैसे देश-देशान्तरों के विद्वान् भिक्षु रहते हैं और साथ ही हमारे देश के ब्राह्मण से चण्डाल तक सारे कुलों के भिक्षु एक साथ रहते, एक साथ खाते-पीते और एक साथ ज्ञान अर्जन करते हैं। कालकाराम के उन बूढ़े काले-काले भिक्षु का क्या नाम है?'

'महास्थविर धर्मसेन। वह साकेत के सभी विहारों के भिक्षुओं के प्रधान हैं।'

'सुना है, उनका जन्म-कुल चण्डाल है। और उनके सामने मेरे अपने चचा भिक्षु शुभगुप्त उकड़ूँ बैठ कर प्रणाम करते हैं। ख्याल करो, कहाँ शुभगुप्त एक समृद्ध श्रोत्रिय ब्राह्मण-कुल के विद्वान पुत्र और कहाँ चण्डालपुत्र धर्मसेन!'

'किन्तु महास्थविर धर्मसेन भी बड़े विद्वान् हैं।'

'मैं ब्राह्मणों के धर्मकी दृष्टिसे कहता हूँ, प्रभा! क्या उनका बस चलता, तो धर्मसेन मनुष्य भी बन सकते थे, देवता बनकर पूजित होने की तो बात ही और है?'

'बुद्ध ने अपने भिक्षु-संघ को समुद्र कहा है। उस संघ में जो भी जाता है, वह नदियों की भाँति नाम-रूप छोड़ समुद्र बन जाता है।'

'और बौद्ध गृहस्थ भी, प्रिये! वैसा ही क्यों नहीं करते?'

'बौद्ध गृहस्थ देश के दूसरे गृहस्थों से छिन्न-भिन्न होकर रह नहीं सकते। आखिर उनके ऊपर परिवार का बोझ होता है।'

'मैं तो बहुत अच्छा समझता, यदि कालकाराम के भिक्षुओं की भाँति सारे पुर और जनपद (देहात) के लोग भेद-शून्य हो जाते—न कोई जाति का भेद होता न कोई वर्णका।'

'एक बात मैंने तुमसे नहीं कही, प्रिये! तुम्हारे पिता ने एक दिन मेरे सामने पगड़ी रख दी, और कहने लगे कि प्रभा! अश्वघोष को तू मुक्त कर दे।'

'गोया तुम्हारे मुक्त करने पर वह अपने पुत्र को पा सकेंगे। तुमने क्या कहा, प्रभा?'

'मैंने कहा, आप की बात मैं अश्वघोष से कहूँगी।'

'और तुमने कह दिया। मुझे ब्राह्मणों के पाखण्डों से अपार घृणा है। घृणा से सारा गोत्र जलता है। एक ओर वह कहते हैं कि हम अपने वेद-शास्त्र को मानते हैं। मैंने बड़े परिश्रम और श्रद्धा से उनकी सारी विद्याएँ पढ़ीं, किन्तु वह क्या मानते हैं, मुझे तो कुछ समझ में नहीं आता। शायद वह केवल अपने स्वार्थ को मानते हैं। जब किसी बात को उनके पुराने ऋषियों के वचनों से निकाल कर दिखलाओ, तो कहते हैं—इसका आजकल रिवाज़ नहीं है। रिवाज़ को ही मानों या ऋषि-वाक्यों को ही। यदि पुरानी वेद-मर्यादा को किसी ने तोड़ा, तभी न नया रिवाज़ चला? कायर, डरपोक, स्वार्थी ऐसों को ही कहते हैं। बस इन्हें मोटे बछड़ों का मांस और अपनी भूयसी-दक्षिणा चाहिए, यह कोई भी ऐसा काम करने के लिए तैयार हैं, जिससे इनके आश्रयदाता राजा और सामन्त प्रसन्न हों।'

'ग़रीबों और जिनको यह नीच जातियाँ कहते हैं, वह सभी गरीब हैं—के लिए इनके धर्म में कोइ स्थान नहीं है।'

'हाँ, यवन शक, आभीर दूसरे देशों से आई जातियों को इन्होंने क्षत्रिय, राजपुत्र मान लिया, क्योंकि उनके पास प्रभुता थी, धन था। उनसे इन्हें मोटी मोटी दक्षिणा मिल सकती थी। किन्तु अपने यहाँ के शूद्रों, चण्डालों, दासों को इन्होंने हमेशा के लिए वहीं रखा। जिस धर्म से आदमी का हृदय ऊपर नहीं उठता, जिस धर्म में आदमी का स्थान उसकी थैली या डंडे के अनुसार होता है, मैं उसे मनुष्य के लिए भारी कलंक समझता हूँ। संसार बदलता है; मैंने

ब्राह्मणों के पुराने से आज तक के ग्रन्थों में आचार व्यवहारों को पढ़ कर वहाँ साफ़ परिवर्तन देखा है; किन्तु आज इन से बात करो, तो वह सारी बातों को सनातन, स्थिर मनवाना चाहते हैं। यह केवल जड़ता है, प्रिये !'

'मैं तो कारण नहीं हो रही हूँ इन उद्‌गारों के लिए, मेरे घोष !'

'कारण होना प्रशंसा की बात है मेरी प्रभा ! तुमने मेरी कविता में नया प्राण, नई प्रेरणा दी है। तुम मेरी अन्तर्दृष्टि में भी नया प्राण, नई प्रेरणा दे मेरा भारी हित कर रही हो। किसी वक्त समझता था कि मैं ज्ञान के छोर पर पहुँच गया। ब्राह्मण इस झूठे अभिमान के बहुत आसानी-से शिकार हो जाते हैं, किन्तु अब जानता हूँ कि ज्ञान ब्राह्मणों की श्रुतियों उनकी ताल तथा भुर्जपत्र की पोथियों तक ही सीमित नहीं है, वह उनसे कहीं विशाल है।'

'मैं एक स्त्री-मात्र हूँ।'

'और जो स्त्री-मात्र होने से किसी को नीच कहता है, उसे मैं घृणा की दृष्टि से देखता हूँ।'

'यवनों में स्त्रियों का सम्मान तब भी दूसरों से ज्यादा है। उन में आज भी चाहे निस्सन्तान मर जाय, किन्तु एक स्त्री के रहते दूसरे से ब्याह नहीं हो सकता।'

'और यह ब्राह्मण सौ सौ से ब्याह कराते फिरते हैं, सिर्फ दक्षिणा के लिए, छिः ! मैं खुश हूँ, जो कोई यवन ब्राह्मण-धर्म को नहीं मानता।'

'बौद्ध होने पर भी पूजा-पाठ के लिए हमारे यहाँ ब्राह्मण आते हैं।'

'जब उन्होंने अपने स्वार्थ के लिए यवनों को क्षत्रिय स्वीकार कर लिया है, तो उतना क्यों नहीं करेंगे—दक्षिणा की जो बात ठहरी।'

'तो क्या मैं तुम्हारे ब्राह्मणत्व के अभिमान को दूर करने में कारण तो नहीं बनी !'

'बुरा नहीं हुआ। यदि ब्राह्मण-अभिमान मुझ में और तुम में भेद डालना चाहता है, तो वह मेरे लिए तुच्छ, घृणास्पद वस्तु है।'

'यह जान कर मुझे कितनी खुशी है कि तुम मुझे प्रेम करते हो, घोष !'

'अन्तस्तम से प्रिये ! तुम्हारे प्रेम से वंचित अश्वघोष निष्प्राण जड़ रह जायगा।'

'तो मेरे प्रेम का पुरस्कार, बरदान भी देना चाहते हो ?'

'उसी एक प्रेम को छोड़ कर सब कुछ।'

'मेरा प्रेम यदि मेरे शाश्वत अश्वघोष, युग के महान् कवि अश्वघोष को ज़रा भी हानि पहुँचा सका, तो उसे धिक्कार है।'

'साफ़ कहो, प्रिये !'

'प्रेम में मैं बाधा नहीं डालना चाहती, किन्तु मैं उसे तुम्हारे शाश्वत निर्माण में सहायक देखना चाहती हूँ। और यदि मैं न रही—'

अश्वघोष ने विक्षिप्त की भाँति खड़े हो प्रभा को उठा कर जब दृढ़ता-पूर्वक अपनी छाती और गले से लगाया, तो प्रभा ने देखा, उसके गाल भींगे हुए हैं। वह आश्वघोष को बार-बार चूमती और बार-बार दुहराती रही—मेरे घोष! फिर थोड़ा शान्त होने पर प्रभा ने कहा—सुनो प्यारे, मेरा प्रेम तुम से कुछ बड़ी चीज माँगना चाहता है, उसे तुम्हें देना चाहिये।

'तुम्हारे लिए कुछ भी अदेय नहीं है प्रिये !'

'फिर तुमने मुझे बात भी समाप्त नहीं करने दी ?'

'किन्तु तुम तो वज्र-अक्षर अपने मुँह से निकालना चाहती थी।'

'लेकिन उस वज्र-अक्षर को शाश्वत अश्वघोष के हित के लिए कहना जरूरी है। मेरा प्रेम चाहता है कि महान् कवि अश्वघोष अपने शाश्वत कवि-रूप की भाँति प्रभा के प्रेम को भी शाश्वत समझे, उसे सामने बैठी प्रभा के शरीर से न नापे। शाश्वत अश्वतघोष की प्रभा शाश्वत तरुणी, शाश्वत सुन्दरी है। मैं बस इतना ही तुम्हारे मन से मनवाना चाहती हूँ।'

'तो वास्तविक प्रभा की जगह तुम काल्पनिक प्रभा को मेरे सामने रखना चाहती हो ?'

'मैं दोनों को वास्तविक समझती हूँ, मेरे घोष! फ़र्क इतना ही है कि उनमें से एक सिर्फ सौ या पचास वर्ष रहने वाली है, दूसरी शाश्वत। तुम्हारी प्रभा तुम्हारे 'उर्वशी-वियोग' में अमर रहेगी। मेरे प्रेम को अमर रखने लिए तुम्हें अमर अश्वघोष की ओर ध्यान रखना होगा। और अब रात बहुत बीत गई, सरयू का तीर भी सोया मालूम होता है, हमें भी घर चलना चाहिए।'

'और मैंने अमर प्रभा का एक चित्र अपने मन पर अंकित किया है।'

'प्रियतम! बस, यही चाहती हूँ।'—कह कर अश्वघोष के कपोलों-पर अपने रेशम-जैसे कोमल केशों को लगा वह नीरव खड़ी रही।'

(७)

एक बड़ा आँगन है, जिस के चारों ओर बराम्दा और पीछे तितल्ले मकान को कोठरियाँ हैं। बराम्दों में अरगनों पर पीले वस्त्र सूख रहे हैं। आँगन के एक कोने में एक कुआँ तथा पास ही एक स्नान-कोष्ठक है। आँगन की दूसरी जगहों में कितने ही वृक्ष हैं, जिन में एक पीपल का है। पीपल के गिर्द वेदी है और फिर हटकर पत्थर का कटघरा, जिस पर हजारों दीपकों के रखने के लिए स्थान बने हुये हैं। प्रभा ने घुटने टेक उस सुन्दर वृक्ष की वन्दना करके कहा—प्रिय! इसी जाति का वह वृक्ष था, जिसके नीचे बैठकर सिद्धार्थ गौतम ने अपने प्रयत्न, अपने चिन्तन द्वारा मन की भ्रान्तियों को हटा बोध प्राप्त किया और तब से वह बुद्ध के नाम से प्रख्यात हुये। सिर्फ उसी मधुर स्मृति के लिए हम इस जाति के वृक्ष के सामने सिर झुकाते हैं।'

'अपने प्रयत्न, अपने चिन्तन द्वारा मन की भ्रान्तियों को हटा बोध प्राप्त करने का प्रतीक! ऐसे प्रतीक की पूजा होनी चाहिये, प्रिये! ऐसे प्रतीक की पूजा अपने प्रयत्न—आत्म-विजय—की पूजा है।'

फिर दोनों भदन्त धर्मरक्षित के पास गए। वह उस वक्त आँगन के एक वकुल वृक्ष के नीचे बैठे थे, जहाँ नवपुष्पित फूलों की मधुर सुगन्धि फैल रही थी। प्रभा ने बौद्ध-उपासिका की भाँति पंच-प्रतिष्ठित से (पैर के दोनों पंजों-घुटनों, हाथ की दोनों हथेलियों और ललाट को धरती पर रखकर) वन्दना की अश्वघोष ने खड़े ही खड़े सम्मान प्रदर्शन किया। फिर दोनों ज़मीन पर पड़े चर्म-खंडों को लेकर बैठ गए। भदन्त के शिष्य अश्व-घोष को बात चीत करने के लिए आया समझ वहाँ से हट गये। साधारण शिष्टाचार की बातों के बाद अश्वघोष ने दर्शन की बात छेड़ी। धर्मरक्षित ने कहा—'ब्राह्मण-कुमार! दर्शन को भी बुद्धों—ज्ञानियों—के धर्म में बन्धन और भारी बन्धन (दृष्टि-संयोजन) हाक गया है।'

'तो भदन्त ! क्या बुद्ध के धर्म में दर्शन का स्थान नहीं है ?'

'स्थान क्यों नहीं, बुद्ध का धर्म दर्शन मय है; किन्तु बुद्ध उसे बेड़े की भाँति पार उतरने के लिए बतलाते हैं, सिर पर उठाकर ढोने के लिए नहीं।'

'क्या कहा, बेड़े की भाँति ?'

'हाँ, बिना नाववाली नदी में लोग बेड़ा बांधकर उससे पार उतर जाते हैं; किन्तु पार उतर कर बेड़े की उन लकड़ियों को उपकारी समझ सिरपर ढोते नहीं फिरते।'

'अपने धर्म के लिए भी जिस पुरुष को इतना कहने की हिम्मत थी, उसने ज़रूर सत्य और उसके बल को देखा होगा। भदन्त ! बुद्ध के दर्शन-की कोई ऐसी बात बतलाएँ, जिसके जानने से हमें अपने मन से भी बहुत-सा समझ जाने में सुभीता हो।'

'अनात्मवाद है, कुमार ! ब्राह्मण आत्म को नित्य, ध्रुव, शाश्वत तत्व को मानते हैं। बुद्ध-जगत के भीतर-बाहर किसी ऐसे नित्य, ध्रुव शाश्वत तत्व को नहीं मानते, इसलिए उनके दर्शन को अनात्मवाद—अनित्यता, क्षण-क्षण उत्पत्ति-विनाश—का दर्शन कहते हैं !'

'मेरे लिए यह एक बात ही काफ़ी है, भदन्त ! बेड़े की भांति धर्म तथा अनात्मवाद की घोषणा करनेवाले बुद्ध को अश्वघोष शतशः प्रणाम करता है। अश्वघोष जिसको ढूँढ़ता था, उसे उसने पा लिया। मैं अपने भीतर अनुभव कर रहा था कुछ ऐसी ही लहरों को; किन्तु मैं उसे नाम नहीं दे पाता था। आज बुद्ध की शिक्षा को लोक ने ठीक से माना होता, तो दुनियां दूसरी ही होती !'

'ठीक कहा कुमार ! हमारे यवन देश में भी महान् दर्शनिक पैदा हुए हैं, जिन में पिथागोर, हेराक्लितु तो भगवान् के समय जीवित थे, सुक्रात, देमोक्रितु, अफ़लातूँ, अरस्तू उनसे थोड़ा बाद में हुए। इन यवन दार्शनिकों ने गम्भीर चिन्तन किया; किन्तु हेराक्लितु को छोड़ सभी शाश्वतवाद—नित्यवाद—से ऊपर नहीं उठ सके। वर्त्तमान का उन्हें हद से ज्यादा मोह था। यही कारण था कि वह भविष्य को भी उससे बाँध

रखना चाहते थे। हेराक्लितु अवश्य बुद्ध की भाँति जगत् को किसी दो क्षण भी वैसा ही नहीं मानता था; किन्तु इसमें उसका एक वैयक्तिक स्वार्थ था।'

'दर्शन-विचार में वैयक्तिक स्वार्थ!'

'पेट सभी के पास होता है, कुमार! उस वक्त हमारे एथेन्स नगर में गण—बिना राजा का राज्य—था। पहले हेराल्कितु के परिवार की तरह के बड़े-बड़े सामन्त गण शासन के सूत्रधार थे, पीछे उनको हटाकर व्यापारियों—सेठों—ने शासन-सूत्र अपने हाथ में लिया। इस अवस्था से हेराक्लितु असन्तुष्ट था। वह परिवर्तन चाहता था, किन्तु आगे जाने के लिये नहीं, बल्कि पीछे की ओर लौटने के लिए।'

'हमें परिवर्तन चाहिये, किन्तु आगे बढ़ने के लिये, पीछे लौटने के लिये नहीं, मैं समझता हूँ, भदन्त! अतीत मुर्दा है।'

'बिल्कुल ठीक कहा, कुमार! बुद्ध परिवर्तन चाहते थे, और बेहतर जगत् को लाने के लिये। भिक्षु-संघ को उन्होंने उसी भविष्य के जगत् के लिए एक नमूने के तौर पर पेश किया।'

'जहाँ जात-पाँत नहीं, जहाँ ऊँच-नीच नहीं।'

'जहां सबके लिये भोग समान है, जहां सबके लिये सेवा करना समान है। तुमने हमारे महास्थविर धर्मसेन को बाहर झाड़ू लगाते देखा होगा?'

'वह काले-काले?'

'हाँ, वह हम में सबसे श्रेष्ठ हैं। हम रोज पंच-प्रतिष्ठित से उनकी वन्दना करते हैं। सारे कोसल-देश के भिक्षु-संघ के वह नायक है।'

'सुना है, वह चण्डाल-कुल के हैं?'

'भिक्षु-संघ कुल नहीं देखता कुमार! वह गुण देखता है। वह अपनी विद्या और अपने गुणों से हमारे नायक हैं, हमारे पिता हैं। उनके भिक्षा-पात्र में यदि पात्र चुपड़ने भर की भी कोई चीज मिल जाती है, तो वह बिना साथियों को दिये नहीं खाते। यह बुद्ध की शिक्षा है। पहनने के तीन कपड़ों, मिट्टी के भिक्षा-पात्र, सूई-जल-छक्का, अस्तुरा और कमरबन्द के सिवाय हमारी सारी चीजें संघ की हैं। यह घर, बाग, पंच, पीठ आदि सब संघ के हैं। हमारे

किसी-किसी विहार में खेत भी हैं, वह भी संघ के हैं। संघ देख-सुनकर एक आदमी को भिक्षु बनाता है, किन्तु जो संघ में प्रविष्ट हो गया—भिक्षु बन गया—वह सबके समान है।

'इस तरह का संघ यदि सारे देश के लिये बनता?'

'वह कैसे हो सकता है, कुमार? राजा और धनी कब दूसरों को बराबर होने देंगे? भिक्षुओं ने एक दास को संघ में दाखिल कर लिया था। संघ में दाखिल होते ही वह अदास—सबके समान था, किन्तु जिसका वह दास था, उसने हल्ला मचाना शुरू किया। दूसरे दास-स्वामी भी उसके साथ शामिल हो गए। राजा स्वयं हजारों दासों के स्वामी होते हैं। वह भी अपनी सम्पत्ति पर इस तरह का प्रहार कैसे सह सकते? बुद्ध क्या करते, उन्होंने वचन दिया कि आगे से संघ दास को भीतर नहीं लेगा। हमारा संघ विषमता पूर्ण समुद्र में एक छोटा सा द्वीप है, इसीलिए वह सुरक्षित नहीं है, जब तक कि संसार में इस तरह की गरीबी, इस तरह की दासता है।'

(८)

शरत की पूनो थी। शाम से ही चन्द्रमा का थाल पूर्व क्षितिज पर उग आया था, और जैसे-जैसे क्षितिज पर फैली सूर्य की अन्तिम लाल किरणें आकाश छोड़ रही थीं, वैसे ही वैसे चन्द्रमा की शीतल श्वेत किरणें प्रसरित हो रही थीं। अश्वघोष अब अधिकतर प्रभा के घर पर रहा करता था। दोनों छत पर बैठे थे, उसी समय प्रभा ने कहा—प्रियतम! मुझे सरयू की लहरें बुला रही हैं—वह लहरें, जिन्होंने सबसे पहले तुम्हारा स्पर्श मेरे पास पहुँचाया था, जिन्होंने हमें प्रेम-सूत्र में बाँधा था। तब से दो वर्ष हो गए, किन्तु वह दिन आज ही बीता मालूम होता है। हमने कितनी चांदनी रातें सरयू की रेत पर बिताई। वह कितनी मधुर होती हैं। आज फिर मधु-चांदनी है! प्रिय चलो चलें सरयू के तीर।

दोनों चल पड़े। धारा नगर से दूर थी। चादनी में चमकते सफेद बालू पर वह दूर तक चलते गए। प्रभा ने अपने चप्पलों को हाथ में ले लिया था! उसे पैरों के नीचे दबती सिकता का स्पर्श सुखद लगता था! उसने अश्वघोष

की कटि को अपने दोनों हाथो से लपेट कर कहा—प्रिये ! इस सरयू की सिकता का स्पर्श कितना आह्लादक है ?

'पैरों में गुद्‌गुदी लगती है।'

'जिससे हर्षातिरेक हो रोमांच हो उठता है। प्यारी सरयू सरिता !'

'मैं कई बार सोचता था, प्रिय ! कि हम दोनों भाग चलें। भाग चलें उस देश में, जहाँ हमारे प्रेम की कोई ईर्ष्या करने वाला न हो। जहाँ तुम प्रेरणा दो मैं गीत बनाऊँ और फिर वीणा पर हम दोनों गावें। यहाँ सिकता पर इस रात्रि में मैं अपनी वीणा नहीं ला सकता। लोग आ पहुँचेंगे। उनमें से कितनों की आखें ईर्ष्या कलुषित होगीं।'

'प्रिय ! बुरा न मानना। मैं कभी-कभी सोचती हूं, जब मैं न रही - '

अश्वघोष ने बाहों में कसकर प्रभा को छाती से लगा लिया और कहा—नहीं प्रिये ! कदापि नहीं। हम इसी तरह रहेंगे।

'मैं दूसरे अभिप्राय से कह रही हूँ, प्रिय ! मान लो, तुम न रहे, मैं अकेली रह गई। दुनिया में ऐसा होता है कि नहीं ?'

'होता है।'

'अपनी बार तुम नहीं तिलमिलाए, घोष। तुम्हारे न रहने पर शोक का पहाड़ केवल मेरे ऊपर टूटेगा इसीलिए न ?''

'तुम मेरे साथ कितनी निष्ठुरता दिखला रही हो, प्रभा !'

प्रभा ने ओठों को चूमकर अश्वघोष को हर्षोत्फुल्ल करते हुए कहा—'जीवन की कई दिशायें होती हैं। सदा पूर्णिमा ही नहीं, अमावस्या भी आती है। मैं यही कह रही थी कि एक के अभाव में दूसरे को क्या करना चाहिये तुम्हारे न रहने पर जानते हो, मैं क्या करूँगी ?''

मुँह गिरा कर लम्बी साँस ले अश्वघोष ने कहा—कहो।

'मैं अपने जीवन का हर्गिज अन्त न करूँगी। भगवान् बुद्ध ने आत्म-हत्या को मूर्खतापूर्ण निन्दनीय कर्म कहा है। तुमने देखा न मैंने इधर वीणा में बहुत सफलता प्राप्त की है।'

'बहुत। प्रभा ! कितनी ही बार तुम्हें वीणा देकर मैं निश्चिन्त हो गाता हूँ।'

'हां, तो उस वक्त मेरा अशाश्वत मुझसे छिन जायगा, किन्तु मैं शाश्वत अश्वघोष—युग-युग के कवि—की आराधना करूँगी। तुम्हारी वीणा पर तुम्हारे गानों को गाऊँगी, सारे जम्बूद्वीप में और उससे बाहर भी, जीवन भर जब तक कि हमारा जीवन-प्रवाह किसी दूसरे देश-काल में साकार हो फिर न सम्मिलित हो जायेगा। और मेरे न रहने पर तुम क्या करोगे, प्रियतम?'

इन शब्दों को सुनकर अश्वघोष का अन्तस्तम से लेकर सारा शरीर काँप गया, जिसे प्रभा ने अनुभव किया। अश्वघोष बोलने का प्रयत्न कर रहा था किन्तु उसका कंठ सूख गया था और उसकी आंखें बरसना चाहती थीं कुछ क्षण के प्रयत्न के बाद उसने क्षीण-स्वर में कहा—बड़ी निष्ठुरा होगी वह घड़ी! किन्तु प्रभा! मैं भी आत्म-हत्या न करूँगा। तुम्हारे प्रेम की प्रेरणा जो-जो गीत मेरे उसर में पैदा करेगी, उन्हे मैं गाऊँगा जीवन के अन्त तक। मैं तुम्हारे शाश्वत अश्वघोष—अश्वघोष का कंठ रुद्ध हो गया।

'सरयू की धार सो रही है, प्रिय! चलो, हम भी चलें।'

(६)

ग्रीष्म ऋतु थी। माता सुवर्णाक्षी बीमार हो गई। अश्वघोष दिन रात माँ के पास रहता था। प्रभा भी दिन-भर वहीं रहती। चिकित्सा का कोई असर न हुआ, और सुवर्णाक्षी की अवस्था गिरती ही गई। पूनो आई दूध की-सी चाँदनी छिटकी। सुवर्णाक्षी ने आज चाँदनी में ऊपर ले चलने को कहा। छत पर उसकी चारपाई पहुँचाई गई। उसका शरीर सिर्फ हड्डियों का कंकाल रह गया था। रह-रहकर अश्वघोष के हृदय में टीस लगती। माँ ने धीमे स्वर, किन्तु स्पष्ट अक्षरों में कहा—पुत्र! यह चाँदनी कितनी सुन्दर है!

उसी वक्त अश्वघोष के कानों मे प्रभा के शब्द गूँजने लगे—मुझे सरयू की लहरें बुला रही हैं। उसका कलेजा सिहर उठा। मां ने फिर कहा—प्रभा कहां है, पुत्र!

'पिता के घर गई, मां! शाम तक तो यहीं थी।'

'प्रभा! मेरी बेटी! अच्छा पुत्र, उसे कभी न भूलना...'

शब्द समाप्त भी न होने पाए थे कि एक खांसी आई, और दो हिचकियों के बाद सुवर्णाक्षी का शरीर निश्चल हो गया।

सुवर्णाक्षी गई। सुवर्णाक्षी-पुत्र का हृदय फटने लगा। वह रात-भर रोता रहा।

दूसरे दिन मध्याह्न तक वह मां के दाह-कर्म में लगा रहा। फिर उसे प्रभा याद आई। वह दत्तमित्र-भवन गया। मां-बाप समझते थे, प्रभा अश्वघोष के पास होगी। अश्वघोष का हृदय रात के प्रहार से जर्जर हो रहा था, अब और चिन्तित हो उठा। वह प्रभा के शयनकक्ष में गया। वहां सभी चीजें सँभाल कर रखी हुई थीं। उसने पलंग पर फैलाई सफेद चादर को हटाया। वहां उसने अपने चित्र को देखा। प्रभा ने उसे एक आगन्तुक यवन चित्रकार से तैयार करवाया था, और इसके लिए अनिच्छा-वश अश्वघोष को कितने ही घण्टों बैठना पड़ा था। चित्र पर एक म्लान जूही की माला पड़ी थी। चित्र के नीचे नीचे प्रभा की मुद्रा से अंकित लपेटा ताल पत्र-लेख था। अश्वघोष ने उसे उठा लिया। रस्सी के बन्धन पर मुहर लगी काली मिट्टी अभी सूखी न थी। अश्वघोष ने रस्सी को हटा कर प्रभा की मुहर लगी मिट्टी को रख लिया। लम्बे पत्ते को फैलाने पर प्रभा के सुन्दर अक्षरों में वहां पांच पंक्तियां थीं—

'प्रियतम! प्रभा विदाई ले रही है। मुझे सरयू की लहरों ने बुलाया है। मैं जा रही हूं। तुमने मेरे प्रेम के लिए कोई वचन दिया है, याद है? मैं प्रभा के चिर-तारुण्य, उस के सदा एक-से रहनेवाले सौन्दर्य को दिए जा रही हूँ। अब तुम्हारी आंख को पके बालों, टूटे दांत, वलित कटिवाली प्रभा कभी नहीं देखने को मिलेगी। मेरा प्रेम। मेरा यह शाश्वत यौवन तुम्हें प्रेरणा देगा। तुम उस प्रेरणा की अवहेलना न करना। प्रियतम! यह न ख्याल करना कि मैं तुम्हारे कुटुम्ब की कलह का ख्यालकर आत्म-हत्या कर रही हूं—सिर्फ तुम्हें काव्य प्रेरणा देने के लिये मैं अपने अक्षुण्ण यौवन को प्रदान कर रही हूँ। प्रियतम! प्रभा तुम्हारा अन्तिम मानस आलिंगन और चुम्बन कर रही है।'

कई बार आँखों से आँसुओं को पोंछकर अश्वघोष ने पत्र को समाप्त किया।

उसके बाद पत्र उसके हाथ से गिर गया। वह खुद चारपाई पर बैठ गया। उस का हृदय सुन्न हो रहा था। हृदय की गति के रुकने की वह तन्मय हो प्रतीक्षा कर रहा था। वह मिट्टी की मूर्त्ति की भांति शून्य आँखों से ताकता रहा। कितनी ही देर तक इन्तजार करने के बाद प्रभा के पिता-माता आए। उसकी उस अवस्था को देख वह बहुत शंकित हो गए। फिर पास में पड़े पत्र को उन्होंने पढ़ा। माँ के मुँह से चीत्कार निकली और वह धरती पर गिर पड़ीं। दत्त-मित्र नीरव अश्रुधारा बहाने लगे। अश्वघोष वैसे ही टकटकी लगाए देखता रहा। प्रभा के मां-बाप देर तक उसकी यह अवस्था देख चुपचाप चले गए। शाम हुई, रात आई, किन्तु वह वैसे ही बैठा रहा। उसके आंसू सूख गए और हृदय को काठ मार गया था। बड़ी रात गए वह वैसे ही बैठे-बैठे ऊँघ कर लेट गया।

सबेरे जब प्रभा की माँ आई, तो देखा कि अश्वघोष प्रकृतिस्थ हो किसी चिन्ता में बैठा है। माँ ने पूछा—मन कैसा है?

'माँ? अब मैं बिल्कुल ठीक हूँ। प्रभा ने जो काम मुझे सौंपा है, अब मैं वही करूँगा। मैंने नहीं-समझा था; किन्तु प्रभा जानती थी। वह मेरे कर्त्तव्य को बतला गयी है। आत्म-हत्या नहीं, प्रभा ने आत्म-दान दिया। हाँ, उस आत्मदान को आत्म-हत्या में बदलना मेरे हाथ में है; किन्तु मैं ऐसा कृतघ्न नहीं हो सकता।'

माँ ने अश्वघोष के भाव को समझा। अश्वघोष उठ खड़ा हुआ। माँ ने देखकर पूछा—कहाँ चले, बेटा!

'भदन्त धर्मरक्षित से मिलना चाहता हूँ और सरयू को देखना भी।'

'भदन्त धर्मरक्षित नीचे बैठे हैं, और सरयू देखने मैं भी चलूँगी।' कहते-कहते उसका गला भर आया।

अश्वघोष ने नीचे जा भदन्त धर्मरक्षित की पंचप्रतिष्ठित से वन्दना करके कहा—भन्ते! मुझे अब संघ में शामिल कीजिए।

'वत्स। तुम्हारा शोक दारुण है।'

'दारुण है, किन्तु मैं उसके कारण नहीं कह रहा हूँ। प्रभा ने मुझको इसके लिए तैयार किया है। मैं जल्दी नहीं कर रहा हूँ।'

'तो भी तुम्हें कुछ दिन ठहरना होगा, संघ इतनी जल्दी नहीं करेगा।'

'मैं प्रतीक्षा करूँगा, भन्ते ! किन्तु संघ की शरण में रहकर।'

'पहले तुम्हें अपने पिता से आज्ञा लेनी होगी। माता-पिता की आज्ञा के बिना संघ किसी को भिक्षु नहीं बनाता।'

'तो मैं आज्ञा लेकर आऊँगा।'

अश्वघोष घर से निकला। माँ उसके स्वस्थ-मस्तिष्क-जैसे वचन सुनकर भी शंकित हृदय थीं, इसलिए वह भी पीछे-पीछे चलीं। सरयू पर नाव कर दोनों ने दिन भर नीचे की ओर धार को ढूँढ़ा, किन्तु कुछ पता नहीं मिला। अगले दिन और नीचे गए, किन्तु कहीं कुछ न था।

अश्वघोष ने घर जा पिता से भिक्षु होने के लिए आज्ञा मांगी, किन्तु इकलौते बेटे को वह क्यों आज्ञा देने लगा? फिर उसने कहा—मैं मां और प्रभा के शोक से पीड़ित हो ऐसा नहीं कर रहा हूँ, तात ! मैंने अपने जीवन के लिए जो कार्य चुना है, उसका यही रास्ता है। तुम देख रहे हो मेरे स्वर, मेरी चेष्टा में किसी प्रकार के चित्त-विकार की छाप नहीं है। मुझे इतना ही कहना है—यदि मुझे जीवित रखना चाहते हो, तो आज्ञा दे दो, तात !

'अच्छा तो कल शाम तक सोचने का अवसर दो।'

'मैं सात दिन तक इन्तज़ार कर सकता हूँ, तात !'

दूसरे दिन शाम को पिता ने आखों में आसू भरकर भिक्षु बनने की आज्ञा दे दी।

साकेत के आर्य सर्वास्तिवाद संघ ने अश्वघोष को भिक्षु बनाया। महास्थविर धर्मसेन उसके उपाध्याय और भदन्त धर्मरक्षित आचार्य बने। भदन्त धर्मरक्षित उसी समय नाव से पाटलिपुत्र (पटना) जानेवाले थे, उनके साथ ही अश्वघोष ने भी साकेत छोड़ा।

(१०)

भिक्षु अश्वघोष को पाटलिपुत्र के अशोकाराम (मठ) में रहते दस साल हो गए थे। उन्होंने बौद्ध धर्म के साथ बौद्ध-दर्शन तथा यवन-दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया। मगध के महासंघ के विद्वानों में अश्वघोष का बहुत

ऊँचा स्थान था। इसी समय पश्चिम से शक सम्राट् कनिष्क पूर्व की विजय करते पाटलिपुत्र पहुँचा। पाटलिपुत्र और मगध इस वक्त बौद्ध धर्म के प्रधान केन्द्र थे। कनिष्क की बौद्धधर्म में भारी श्रद्धा थी। उसने भिक्षुसंघ से गन्धार ले जाने के लिए एक योग्य विद्वान् माँगा। संघ ने अश्वघोष को प्रदान किया।

राजधानी पुरुष पुर (पेशावर) में जाकर अश्वघोष ने अपने को एक ऐसे स्थान में पाया, जहां, शक, यवन, तरुष्क (तुर्क), पारसी तथा भारतीय संस्कृतियों का समागम होता था। यवन-नाट्य कला को अश्वघोष पहले ही भारतीय साहित्य में स्थान दिला चुके थे। यवन-दर्शन के गम्भीर विवेचन के बाद उन्होंने उसकी कितनी ही विशेषताओं, विश्लेषण-शैली तथा अनुकूल तत्वों को ले भारतीय दर्शन—विशेष कर बौद्ध-दर्शन—को यवन-दर्शन की देन से समृद्ध किया। अश्वघोष ने बौद्धों के लिए यवन-दर्शन से लेने का रास्ता खोल दिया। फिर तो दूसरे भारतीय विचारक भी मजबूर हुये, और वैशेषिक तथा न्याय इस रास्ते में सबसे आगे बढ़े—परमाणु, सामान्य,द्रव्य, गुण, अवयवी आदि तत्व इन्होंने यवन-दर्शन से लिए।

प्रभा ने हृदय को विशाल कर दिया था, इसलिए भदन्त अश्वघोष-को निज पर का विचार नहीं था। प्रभा की प्रेरणा से उन्होंने अनेक काव्य, नाटक कथानक लिखे, जिनमें कितने ही लुप्त हो गये। फिर भी प्रकृति उनसे विशेष प्रसन्न मालूम होती हैं, तभी तो मध्य एशिया की महा बालुका राशि (गोबी ने) सत्रह सौ वर्ष बाद उनके 'सारिपुत्र प्रकरण' (नाटक) को प्रदान किया। उनके 'बुद्ध-चरित' और 'सौन्दरानन्द' अमर काव्य हैं। उन्होंने प्रभा के दिये बचन को अच्छी तरह निबाहा, और प्रभा के अम्लान सौन्दर्य ने उनके काव्यों को सुन्दरतम बनाया, जन्मभूमि साकेत और माता सुवर्णाक्षी को उन्होंने कभी विस्मृत नहीं होने दिया और अपनी कृतियों में सदा अपने लिए 'साकेतक आर्यसुवर्णाक्षी-पुत्र अश्वघोष लिखा।

श्री रामकुमार

जन्मकाल रचनाकाल
१६२४ ई० १६३६ ई०

कहानी-जो कभी लिखी न गई

उन दिनों भाई फिर बेकार हो गये थे जिससे घर के वातावरण में फि एक तनाव सा पैदा हो गया था। खाली रहने पर भी घर पर न बैठने कीर उनकी पुरानी आदत थी। अत: वे दिन-दिन भर घर से गायब रहते थे। क्या करते थे, यह किसी को मालूम नहीं था और न ही किसी ने उनसे पूछा था। जब वे रात को लौटते तो हम सब खाना खा चुके होते थे और मां काफी देर तक राह देखने के बाद उनका खाना कटोरदान में बन्द करके कमरे में एक कोने में रख जाती थीं।

भाई के सामने कभी मां उनके प्रति अपनी सहानुभूति को प्रकट नहीं करती थीं अत: मेरे बैंक से लौटते ही दरी पर आकर बैठ जातीं और जोर जोर से लम्बी सांसें खैंचा करतीं और उन सांसों के साथ 'हाय राम' 'हे परमात्मा' के शब्द उनके मुख से निकलते। भाई के विषय में चर्चा चलाने की यह उनकी भूमिका होती थी, कभी उनकी बातों में दिलचस्पी दिखाने का उपक्रम करते हुए मैं उनके चेहरे की ओर देखा करता और कभी अखबार खोल कर घुटनों के ऊपर रख लेता।

'तूने शंभू की पतलून देखी, पांओचे किस कदर फट गये हैं······जूतों पर इतनी धूल जम गई है कि...'

भाई की पतलूनों की हालत वास्तव में बहुत खस्ता हो चुकी थी। कमीज़ों के कालर भी फट चुके थे। उनके कमरे में घुसते ही पसीने से लथपथ उनके कपड़ों से एक तेज़ बदबू चारों ओर फैल जाया करती थी।

'न जाने, बेचारा कहां कहां धूल फांकता फिरता है। एक आध महीना

नहीं कमायेगा तो घर मे कोई अकाल नहीं पड़ जायेगा।' फिर मेरी ओर बड़ी कातर दृष्टि से देखती हुई कहतीं—तू ही समझा रे मेरी बात उसे बुरी लगती है।

मैं चुपचाप सामने दीवार पर लगे कैलेंडर पर गांधी जी की फोटो की ओर देखता रहा।

'उसे ढाढस देता रहा कर। तू बराबर का लड़का है, तेरी बात ज़रूर सुनेगा।'

मैं मां के झुर्रियों भरे चेहरे की ओर खीझ कर ताकता। उनके बालों की लटें बहुत तेजी से सफेद हुई जा रही थीं। उनका पतला दुबला क्षीण शरीर ऐसा जान पड़ता मानों अपनी यात्रा की अन्तिम मंजिल तक आ पहुँचा हो। ऊपर से वे जितना प्रकट करती थीं, अन्दर से वह दुःख कितना बड़ा होता था, वह अनुमान लगाना मेरे वश की बात नहीं थी।

मुझे कहानियां लिखने का शौक था और तीन चार महीनों में एक आधक कहानी लिख देता था। कभी कभी कोई कहानी किसी दैनिक पत्र के साप्ताहि में छप जाती तब मेरी प्रसन्नता की सीमा नहीं रहती थी।

कभी मुझे कुछ लिखते देख कर मां मेज़ के पास आकर खड़ी हो जातीं और गम्भीर मुद्रा में कहतीं—अरे, तू दूसरों की कहानियां लिखा करत है, कभी मेरी भी कहानी लिख दे न······

मैं हंसने लगता। उनके इस वाक्य को जितनी बार मैं सुनता था, मुझे हंसी आ जाती थी।

'हां हां, लिख दे रे··· झूठी कहानियां गढ़ता है, सच्ची क्यों नहीं लिखता।'

मां के पास रामायण के अतिरिक्त, 'देवदास' की किताब और थी जिसे वे प्रायः फुर्सत के समय रोज ही पढ़ा करती थीं। 'देवदास' की कहानी उन्हे बहुत पसन्द थी पढ़ती जाती थीं और रोती जाती थीं। कहती थीं कि पार्वती ने बहुत दुख उठाया, उस जैसी जिंदगी भगवान किसी को न दे।

मैं हंस कर कहता—मां यह सच्ची थोड़े ही है जो तुम रोती हो।

परन्तु वे पूर्ण विश्वास के साथ जोर देकर कहतीं --सच्ची है जरूर सच्ची है। उन्हें जाने बिना इस तरह की कहानी लिखी ही नहीं जा सकती।

उनकी बात का विरोध करने का साहस मुझ में नहीं होता था।

वे फिर आँखों से आंसू पोंछती हुई कहतीं—मेरी भी कहानी लिख दे। फिर जो उसे पढ़ेगा, रोया करेगा।

पिता के साथ कभी मां को घुल मिल कर बातें करते हुए नहीं देखा था। वे प्राय: चुप रहते थे और जब बोलते थे तब हमेशा अपना क्रोध ही प्रकट किया करते थे। नहीं जानता कि उन्हें हम दोनों लड़कों से स्नेह था या नहीं। सुबह अखबार पढ़ते थे, दिन में सोते थे और रात को गीता पढ़ा करते थे।

मैं बैंक से लौटता तो झट मां मेरे कमरे में आ जाती मानों मेरी प्रतीक्षा ही कर रही थी। मुझ से लगभग आधा घंटा रोज बातें करने का उनका नियम सा बंध गया था। प्राय: वे भाई के विषय में ही बातें किया करती थीं।

'बुढ़ापे में इनकी बुद्धि सठिया गई है। पहले तो ऐसे नहीं थे······'पिता की बुराइयां करते समय उन्हें बड़ी सान्त्वना सी मिलती थी।

'मुझे याद है जब तुम दोनों छोटे-छोटे थे तो वे अकसर कहा करते थे कि एक को वकालत पढ़ा कर वकील बनाऊँगा और दूसरे को डाक्टर। शायद उन्हें इसी बात का सदमा है कि तुम दोनों में से न कोई वकील बना और न ही डाक्टर······'

मुझे हंसी सी आने लगी—अब एक बैंक में क्लर्क है और दूसरा बेकार···

'अरे जमाना भी तो कितना बदला है, दो वक्त की रोटी जुट जाये, वही गनीमत है।'

एक बार पिता की भाई से किसी बात पर झड़प सी हो गई। कुछ देर तक तो मां रसोई में सब कुछ सुनती रहीं, जब उनसे सहा नहीं गया तो पिता के पास आकर खड़ी हो गईं और तनिक तेज स्वर में कहने लगीं—तुम क्यों रात दिन मेरे बच्चों के पीछे पड़े रहते हो। लग जायेगी नौकरी, उसके पीछे इस बिचारे की जान थोड़े ही ले लोगे।

पिता क्रोधित होकर बड़बड़ाते हुए अपने कमरे में चले गये। फिर भाई ने

हल्के स्वर में मां के व्यवहार के प्रति अपना क्रोध जतलाने के लिए उन्हें डांटा और बिना खाये पिये ही बाहर चल दिये।

शाम को जब बैंक से लौटा तो आधा घंटा तक मां को अपने कमरे में न आये देखकर मैं अन्दर गया। मां अंधेरे में हाथ का तकिया बनाये चारपाई पर आंखें बन्द किये हुए लेटी हुई थीं।

'तबियत तो ठीक है न ?'

'ठीक है।' उन्होंने उसी प्रकार लेटे-लेटे ही उत्तर दिया।

'फिर लेटी हुई क्यों हो ?'

वे चुप रहीं और सामने खाली दीवार की ओर ताकती रहीं।

उस दिन बहुत मुद्दत बाद मैंने उन्हें इतने पास से और इतने ध्यान से देखा था। शायद दिन में उन्होंने अपने बालों में कंघी नहीं की थी जिससे उनके बाल रूखी लटें बन कर उन के चेहरे के दोनों ओर बिखरे हुए थे। उनकी आंखे लाल जान पड़ीं। कभी कभी उनके अकेलेपन को देखकर मुझे बहुत दुःख होता था। पड़ोसियों के घरों में घंटा दो घंटे बिता आती थीं, फिर तो सारा दिन घर में ही अकेले काटना पड़ता था। गर्मियों की लम्बी दोपहरियां और जाड़ों की रातें मां के लिए एक समस्या बन कर आ खड़ी होती थीं।

'तुम क्यों हम लोगों को लेकर अपना मन दुखाती हो। पिता जानें, भाई जानें, तुम्हें क्या लेना-देना है।'

मेरी बात उन्होंने सुनी नहीं। मुझे ऐसा लगा मानों कोई वस्तु लगातार उनके मन को कुरेदे जा रही हो।

'अब उठो, हाथ मुँह धो लो......'

वे चारपाई पर ही उठ कर बैठ गई और रुंधे स्वर में बोलीं—मैं भगवान से और कुछ नहीं मांगती। मेरे मरने पर तुम दोनों सहारा लगा दोगे तो मैं तर जाऊंगी। मेरी मुक्ति हो जायेगी।

'छोटी छोटी बातों में अपना मन न दुखाया करो मां......'

वे यकायक सुबक कर रो उठीं जिससे मैं अनायास ही चौंक गया। इस घबड़ाहट में सान्त्वना का एक भी शब्द मेरे मुख से नहीं निकला। उन्होंने धोती

के छोर से अपनी दोनों आंखें ढंक लीं। मैं उनके हाथों की उभरी हुई नसों की ओर देखता रहा जो कमरे की धीमी रोशनी में चमक रही थीं।

'उनके और मेरे संस्कार कभी नहीं मिले। जानती हूं, जब मर जाऊँगी तो बात-बात पर मुझे याद किया करेंगे, लेकिन तब मैं देखने थोड़े ही आऊंगी....'

उस रात को मां कितनी हो देर तक रामायण पढ़ती रही लेकिन वे अपना दुःख रामायण की चौपाइयों में भूल सकीं हैं, इस बात का विश्वास कम था।

भाई भी अन्य दिनों की अपेक्षा देर से लौटे। उनका खाना तिपाई पर रखा हुआ था।

'इतनी देर कहां लगा दी?'—मैंने उनकी ओर देखते हुये पूछा।

परन्तु उन्होंने मेरी बात का कोई उत्तर नहीं दिया। वे चुपचाप धूल से भरे अपने जूते उतारने लगे। कपड़े बदल कर जब वे छत पर सोने के लिए जाने लगे तो मैंने कहा—तुम्हारा खाना तिपाई पर रक्खा है।

'मुझे भूख नहीं'।—उन्होंने बिना मेरी ओर देखे कहा।

'मां सुबह देखेंगी तो उन्हें दुःख होगा।'

'तो मैं क्या करूं? सब के दुःख-सुख का ठेका तो मैंने अपने ऊपर नहीं ले रक्खा है।' और वे छत पर चले गये।

कुछ क्षणों तक कटोरदान में बन्द भाई के लिए रक्खे हुए खाने की ओर मैं देखता रहा। फिर मैंने उसे खोला! पांच पराठे थे और आलू की सब्जी, थोड़ा प्याज और आम का अचार था, मैंने पुराने अखबार के कागज में इन सबको लपेटा और गेंद सी बनाकर कमरे की खिड़की में से नाले में उछाल दिया।

घर में किसी बात पर झगड़ा हो जाने के बाद चार-पांच दिन तक किसी से बात-चीत न करना मां की पुरानी आदत थी। वे चुपचाप रसोई का काम किया करतीं, अपने कमरे में फर्श पर चटाई बिछा कर चुपचाप लेटी रहतीं या रामायण पढ़ा करतीं। पड़ोसियों के घर तक वे नहीं जाती थीं। जब कभी मैं बातचीत करने की कोशिश करता तो 'हां' या 'न' में टाल दिया करती थीं।

एक बार किसी पत्रिका में मेरी कहानी छपने पर दस रुपये का मनी-आर्डर आया तो मां फूली न समाईं। सारे पड़ोस में घूम-घूम कर उन्होंने सब को यह

समाचार सुनया। मेरी प्रसन्नता की भी सीमा नहीं थी। शाम को उसी खुशी में मैंने एक रुपये की बर्फी मंगाई।

मां मेरे पास आकर खड़ी हो गई'—अब तो तू बहुत बड़ा लेखक बन गया है। कुछ दिनों में तेरी भी 'देवदास' जैसी किताब छप जायेगी।

रुपये पाकर मुझे अपनी महानता का विश्वास हो गया था। मैंने उत्साह के साथ-साथ कहा—'अब मैं भी एक नावेल लिखूँगा, एक मोटी सी किताब...

'उसके कितने रुपये मिलेंगे ?'

'अच्छा नावेल होने पर हजारों मिल सकते हैं।' मेरे दिमाग़ में एक नावेल का ख़्याल बड़ी तेज़ी से चक्कर काटने लगा।

'किसकी कहानी लिखेगा ?'

'यह तो अब सोचना पड़ेगा।'

'मैं कहती हूँ कि मेरी कहानी ही लिख दे। तब किताब ज़रूर बिकेगी!'

'नहीं मां, तुम पर लिखा नावेल नहीं बिक सकता। 'देवादास' जैसा होना चाहिए।'—मैंने मां के चेहरे की ओर देखते हुए कहा।

'मेरी कहानी लिखेगा तो 'देवदास' से भी अच्छी किताब होगी। मुझे आज भी जब अपना बचपन याद आता है तो मन भारी हो जाता है। जब मेरा ब्याह हुआ तो १३ वर्ष की थी, सुसराल में मेरी तबियत नहीं लगती थी, चौबीसों घंटे मां की याद आया करती थी, और तेरे दादा—कितना तेज़ मिजाज था उनका, इन्होंने कभी मुझे दरवाजे से बाहर कदम नहीं रखने दिया......'

'नहीं मां ये सब पुराने जमाने की बातें हैं, इनमें किसी को दिलचस्पी नहीं होगी।' मैंने मां को बीच में ही रोक दिया। मुझे भय था कि कहीं मां अपना सारा इतिहास न दोहराने लगें।

परन्तु इन्होंने शायद मेरी बात नहीं सुनी—अगर मुझे लिखना आता तो अपने मन की सारी बिथा लिख देती। मेरी कोई भी साध पूरी नहीं हुई। सोचती थी कि बुढ़ापे में इस माया जाल से छुटकारा पाकर तीर्थयात्रा करूँग, लेकिन......

'तुम्हें तीर्थ करने की क्या जरूरत है ? तीर्थ तो उन लोगों के लिए हैं मां जो जिंदगी भर पाप करते हैं।'

प्रसन्नता से मां की आंखें चमकने लगीं। उन्हें मुझ से ऐसा वाक्य सुनने की उम्मीद नहीं थी। 'मेरे पिछले जन्म के पाप अभी तक जमा हैं, मैं उन्हें धो डालना चाहती हूं!'

मैं इस बात को जानता था कि मां का घर में और घर के लोगों में कितना लगाव है। किसी रिश्तेदार की शादी बरात में जातीं तो चार पांच दिनों से अधिक बाहर नहीं रह पाती थीं। उनका मन घर के लिये व्याकुल होने लगता था।

भाई के विषय में मां को प्रतिक्षण चिन्ता लगी रहती थी। वे अनुभव करती थीं कि भाई के कारण उनके प्राण सदा एक पतली सी डोर से लटके रहते हैं जो कब टूट जाये, उसका भरोसा नहीं था। पिता को जब कभी अवसर मिलता था तो वे चूकते न ही थे, न मां के सामने और नहीं मेरे सामने। कभी अपने दोस्तों के लड़कों की चर्चा करते थे, कभी शम्भू की अकर्मण्यता को दोषी ठहराते और मैं मन ही मन हंसा करता था कि हम दोनों भाइयों में से न कोई वकील बन सका और न डाक्टर।

एक दिन मां ने बड़ी कातर दृष्टि से मेरी ओर देखते हुए पूछा—अरे क्या तेरे बैंक में कोई जगह खाली नहीं है ?

मैं उनकी बात का मतलब समझ गया क्योंकि यह प्रश्न भी कोई नया नहीं था—बैंक में कहां जगह है। वहां तो उल्टे लोगों को निकाला जा रहा है।

मां चौंक गईं मानों बिजली छू गई हो—क्या तुझे भी······

मैं मन ही मन मुस्कुराता हुआ मां के चेहरे की बदली हुई मुद्रा को देखने लगा। यदि अपनी नौकरी छूट जाने की खबर उन्हें सुनाऊँ, तब तो शायद उनका हार्ट फेल ही हो जाये। मैं धीरे-धीरे कहने लगा—मैं तो परमानेंट हूँ न, मेरा कोई खतरा नहीं है।

उनकी जान में जान आई—तूने मुझे डरा ही दिया था। फिर मेरी ओर

देखती हुई बोलीं—अपने किसी दोस्त से ही पूछ। उनके दफ्तर वगैरह में कोई जगह खाली हो तो शम्भू को लगवा दे।

मैं मां की बातों से ऊब रहा था। 'कह तो रक्खा है।' मैंने उदासीन स्वर में उन्हें टालने की कोशिश की।

'इस तरह भला वह कै दिन जियेगा। तूने देखा नहीं, उसकी छाती किस तरह अन्दर को धस गई है।'

मुझे मां की इस बात को सुनकर क्रोध सा आ गया। सुबह से लेकर अंधेरा हो जाने तक मैं जो लकड़ी की कुर्सी पर बैठा-बैठा लेजरों पर झुका रहता हूँ, क्या उससे मेरी छाती बहुत फूल गई है? उनकी नजर कभी मेरी ओर क्यों नहीं जाती?

उस दिन इतवार था! भाई कमरे के एक कोने में पड़े टीन के बक्स के ऊपर बैठे अखबार पढ़ रहे थे! मैं कुर्सी पर बैठा अपनी कमीज का कालर सी रहा था। उस दिन बैंक नहीं जाना था, इस विचार से मेरा हृदय सुबह से ही खुशी से फूला जा रहा था। प्रातःकाल से ही कोई नई कहानी लिखने का विचार कर रहा था परन्तु प्लाट का मेरे दिमाग में आना उतना ही असम्भव प्रतीत हो रहा था जितना कि भाई को नौकरी मिलना! मुझे यह सोचकर बड़ा आश्चर्य हो रहा था कि दूसरे लेखक किस प्रकार इतनी ढेर सी किताबें लिख लेते होंगे।

कभी २ भाई पर एक सरसरी निगाह डाल लेता था! उनके साथ कभी स्वतन्त्रता के साथ बातचीत न कर सका मानों दोनों के बीच कोई दीवार बनी हुई हो! यदि हम पड़ोसी होते या बैंक में एक साथ काम करते होते तो शायद अच्छे मित्र बन सकते थे। तीन दिन से शेव न करने के कारण उनकी दाढ़ी बढ़ी हुई थी और कनपटियों के पास की नीली नसें मुझे दूर से चमकती दिखाई दे रही थीं। मुझे उनकी स्थिति पर तरस आने लगा।

तभी दरवाजे पर किसी की परछाई देखकर मैंने अपनी नजर उठाई तो पिता को कमरे में आता देख क्षण भर के लिए कांप उठा। वे हमारे कमरे में बहुत कम आते थे और जब आते थे किसी निश्चित उद्देश्य को लेकर। इस उद्देश्य की कल्पना से ही मैं सिर से लेकर पांव तक कांप उठा था।

भाई ने भी अपनी झुकी नजर ऊपर उठाकर पिता को देखा। उन्होंने समझा कि वे शायद अखबार मांगने आये हों। अतः अखबार उठाकर उन्होंने पिता की ओर बढ़ा दिया।

पिता ने अखबार नहीं लिया और खुली खिड़की के पास जाकर खड़े हो गए।

कुछ क्षणों तक कमरे में एक वीभत्स सन्नाटा छाया रहा। मैं कनखियों से से कभी पिता की ओर और कभी भाई की ओर देखता परन्तु वे न मेरी ओर देख रहे थे और न एक दूसरे की ही ओर। मेरी कमीज का कालर सिल चुका था परन्तु फिर भी मैं उसके आस पास टांके लगाये जा रहा था।

'आखिर तुमने सोचा क्या है? दिन २ भर तक आवारों की तरह बाहर घूमते रहते हो। इससे क्या बनेगा?'

भाई के हाथों में अखबार कांप रहा था। मैंने उनकी पतली २ लम्बी उंगलियां देखीं जिनके नाखूनों में मैल भरी हुई थी। भाई को देख कर मुझे अपने बैंक के एकाउंटेंट की याद आ जाती थी। उसकी शकल सूरत भाई से बहुत कुछ मिलती जुलती थी। यदि भाई भी उसकी तरह कोट,पतलून और टाई पहनें तो उसी की भाँति सुन्दर और चुस्त लगें।

'मैं जिंदगी भर तक तुम्हें खिला नहीं सकता। मुझे भी आखिर अपने बुढ़ापे के लिए कुछ बचा कर रखना है।' पिता गम्भीर मुद्रा में अपनी बात कहे जा रहे थे मानो रटा रटाया भाषण दोहरा रहें हो। 'तुम उसी दम तक इस घर में टिके हुए हो, जब तक तुम्हें पका पकाया भोजन मिलता है। जिस दिन हमें रोटियां खिलाने का दिन आयेगा, तो भाग खड़े होगे।'

तभी अखबार के फर्र फर्र करने की जोर से आवाज़ आई जिससे मैंने चौंक कर भाई की ओर देखा। अखबार की तह करके उन्होंने उसे फर्श पर फेंक दिया और झटके के साथ बक्से पर से उठ खड़े हुए थे। दाढ़ी बढ़ जाने के कारण उनका चेहरा मुझे काफी डरावना दिखाई दे रहा था।

'तो आप चाहते क्या हैं।' भाई ने कड़क कर पूछा।

'कितनी बार कहूँगा कि अब मैं तुम्हें खिला नहीं सकता। अपना .
और खाओ।'

'आप जरा धीरे-धीरे बोलिए, नीचे तक आपकी आवाज जा रही है।'

पिता खिड़की से एक कदम आगे बढ़ आये। मुझे ऐसा जान पड़ा जैसे अब वे भाई पर प्रहार करेंगे जैसा कि हमारे बचपन के समय किया करते थे परन्तु दूसरा कदम उन्होंने नहीं बढ़ाया—

'तुझे बात करने की भी तमीज नहीं है। अपने आप को समझता क्या है? आवारा......'

तभी दरवाजे के पास मां की छाया दिखाई दी परन्तु वे कमरे के भीतर नहीं आईं।

'तो आप साफ साफ कहिये कि आप मुझे घर से निकाल देना चाहते हैं?'

'ऐसा ही समझ ले'

'अच्छी बात है......'यह कह कर भाई ने दीवार में लगी अलमारी खोली और अपने कपड़ों को तलाश करने लगे। दो फटी कमीजों और एक खाकी पैंट के अतिरिक्त और कुछ उनके पास नहीं था। वे उनकी ही पोंटली बांधने लगे।

तभी मां बिजली की भांति कमरे में घुसीं और उस दिन जीवन में पहला अवसर था जब मैंने उन्हें बिना किसी भय या हिचकिचाहट के पिता के सामने इस प्रकार खड़े हुए देखा—तुम मेरे बच्चों को इस घर से नहीं निकाल सकते। इस घर पर जितना तुम्हारा हक है उतना ही मेरा भी है।' मां की आवाज कांप रही थी।

'तू चुप रह, निकल जायेगा तो पता चलेगा......'

'तो मैं भी इस घर में नहीं रहूँगी।'

'तुम चुप रहो मां।'—भाई ने पोटली को बगल में दबाते हुए कहा।

मैं भय से कांप रहा था। मुझ में इतना साहस नहीं था कि खड़ा हो सकूं।

पिता बुड़बुड़ाते हुये अपने कमरे में चले गए।

मां भाई के पैरों से लिपट कर जोर जोर से रोने लगीं—मेरी लाश पर

.थां लगाकर फिर जहां तेरा मन आए, वहां चले जाना फिर मैं रोकने .हीं आऊंगी। अपने जीते जी मैं तुझे इस तरह घर से नहीं जाने दूँगी।

भाई उस दिन जा नहीं सके। उस दिन घर में मातम सा छाया रहा। मुझे अपनी छुट्टी के इस प्रकार नष्ट हो जाने पर दुःख हो रहा था, कहानी लिखना भी असम्भव सा जान पड़ रहा था। जब मैं अपना दिमाग किसी प्लाट में उलझाने की कोशिश करता तो सदा ही सुबह की घटनायें मेरे मस्तिष्क में चक्कर लगाने लगतीं थीं।

परन्तु अगले दिन सुबह जो भाई घर से निकले तो फिर लौट कर वापस नहीं आये। मां ने हमें खाना खिला कर भाई का भोजन कटोरदान में बन्द करके मेरे कमरे में रख दिया। उस दिन शाम को मेरे बैंक से लौटने पर वे मुझसे कोई-बातचीत भी नहीं करने आई थीं। मैंने कुर्सी पर बैठे बैठे ही उनके कांपते हाथों की ओर देखा। न जाने वे क्या सोच रही थीं।

उन्होंने धीमे स्वर में मुझ से कुछ फासले पर खड़े होकर पूछा – शंभू अभी तक नहीं आया। मुझे ऐसा जान पड़ा मानों अपने प्रश्न का उत्तर सुनने में उन्हें ·ोई दिलचस्पी न हो।

'अभी तो दस ही बजे हैं मां, आते ही होंगे।'

उन्होंने एक लम्बी सांस ली और अपनी चारपाई पर जाकर लेट गईं। मां का प्रश्न सुनकर मैं किसी भावी आशंका से एक बार कांप उठा था। कहानी की बात सोचने पर मैंने ऐसा अनुभव किया कि यदि मां पर कहानी लिखूं तो उसे छपी हुई देख कर मां को बहुत खुशी होगी। इन्हीं विचारों में खोये हुए कब कुर्सी पर बैठे बैठे मेरी आंख लग गई, इस बात का पता मुझे नहीं लगा। अपना सिर किसी को हिलाते हुए देखकर मैंने हड़बड़ा कर अपनी आंखें खोलीं।

'शम्भू अभी तक नहीं आया।' मां मेरे पास ही खड़ीं खिड़की से बाहर देख रही थीं।

'क्या बजा है।' यह कह कर ब्रेकेट पर रक्खी घड़ी पर मैंने दृष्टि डाली। डेढ़ बज रहा था।

'वो अब नहीं आयेगा। मैं जानती थी कि एक दिन वो इसी तरह गायब हो जायेगा·····'

मैं चुपचाप मां के चेहरे की ओर देखता रहा। उनके गालों की उभरती हुई हड्डियां मानों रेतीली पाहाड़ियां हों, उनकी आंखों के नीचे अर्ध गोलाकार बनाते हुये गड्ढे और चेहरे पर अनगिनत सिकुड़नें जिनका अन्त और आरम्भ नज़र नहीं आता था। इतनी गहरी पीड़ा और उदासी कभी मैंने उनके चेहरे पर पहले नहीं देखी थी। मैं सोच रहा था कि अब मां सुबक सुबक कर रोयेंगी, अपने भाग्य को कोसेंगी परन्तु वे चुपचाप खड़ी रहीं। खोजने पर भी उनकी आंखों में मुझे आंसू दिखाई नहीं दिये मानों आज वे रेगिस्तान के दो विशाल मैदान बन गईं हों वे चुपचाप मेरी कुर्सी के पास खड़ी खुली खिड़की के बाहर ताकती रहीं।

'आ जायेंगे मां, आज नहीं तो कल भाई जरूर आ जायेंगे·····'

परन्तु उन्होंने मानों मेरी बात सुनी ही न हो—अब वो नहीं आयेगा, कभी नहीं आएगा'। वे धीरे धीरे कदम बढ़ाती हुई कमरे से बाहर चली गईं।

अगले दिन भी जब बैंक से लौटा तब भी शम्भू का कोई पता नहीं था। मुझे चिंता हुई। इस आशंका से कांप उठा कि कहीं उन्होंने रेल के नीचे आकर अपने प्राण तो नहीं गंवा दिये। मैं पिता के कमरे में गया। वे दीवार क सहारा लगाये दरी पर बैठे कुछ पढ़ रहे थे। उन्होंने नजर उठा कर मेरी ओर देखा। मुझे देखकर वे चौंके नहीं मानों वे मेरी प्रतीक्षा ही कर रहे थे। मुझे उनपर क्रोध आ रहा था।

'भाई अभी तक नहीं आये·····'

वे कुछ नहीं बोले, टकटकी लगाये मेरी ओर देखते रहे। मैं उनके चेहरे के भावों को पढ़ने का प्रयास करने लगा परन्तु असफल रहा।

क्षण भर के बाद वे बहुत धीमे स्वर में बोले—हाँ, शम्भू अभी तक नहीं आया।

मुझे उनका गला रुंधा सा जान पड़ा। उस क्षण मुझे ऐसा जान पड़ा मानों शम्भू के चले जाने पर उनको एक बड़ा मानसिक आघात पहुँचा हो।

उस रात को कितनी देर तक मैं स्टेशन पर प्लेटफार्मों के चक्कर काटता रहा। गाड़ियां आती रहीं, इंजनों की सीटियों से सारा स्टेशन कांप उठता था। भाई को यहां पाने की उम्मीद बहुत कम थी लेकिन कहीं न कहीं उनकी तलाश करने तो जाना ही था, सड़कों पर घूमने के बदले स्टेशन पर आना उचित समझा।

उस दिन के बाद मां ने जो चुप्पी साधी सो कभी न टूटी। मैं उन्हें बहलाने का भरसक प्रयत्न किया करता था। बैंक से लौटकर रोज ही मैं उनके कमरे में चला जाता, इधर उधर की बातें करके उनका जी बहलाने की कोशिश करता, कभी अपनी कहानियों की चर्चा करता, लेकिन उन्हें मानों अब किसी भी बात में दिलचस्पी नहीं रही थीं। वे चुपचाप मेरी सब बातें सुनतीं रहतीं, कभी मुस्कुराने की कोशिश करतीं परन्तु उनकी उदासीनता मुझसे छिपी न रहती।

कितना समय बीत चुका सो नहीं जानता। मेरी कितनी ही कहानियां छपी हैं, तीन संग्रह भी निकल चुके हैं और जान पहिचान के लोगों के कथनानुसार साहित्य में मेरा एक स्थान बन गया है। लेकिन जब कभी कोई नई कहानी लिखने बैठता हूँ तो मां का यह वाक्य 'मेरी भी कहानी लिख दे रे··· झूठीं लिखता है, सच्ची क्यों नहीं लिख देता······'बार बार मेरे मस्तिष्क में गूंजता है, मेरी कलम रुक जाती है। लेकिन जानता हूँ कि लाख कोशिश करने पर भी मां की कहानी नहीं लिख सकूंगा।

—*—

श्रीमती कमला त्रिवेणीशंकर

जन्मकाल	रचनाकाल
१६२० ई०	१६३६ ई०

सारंगीवाला

प्रभात की पहली किरण नये दिन का सन्देशा लेकर भूलोक पर उतरी, पङ्खड़ियों ने अंगड़ाई लेकर मुंह खोला और नन्ही रानी ने माँ की गोद में करवट ले कर अपनी भोली-भाली आंखें खोलकर मुस्कराते हुए कहा—अम्मा...

कपोलों पर मृदु चुम्बन का चिन्ह देकर मां ने रानी बेटी को पलंग पर बैठा दिया और कोट लेने के लिये कमरे में उठ कर चली गई।

तभी एक मीठी सी झंकार रानी बेटी के कानों में पड़ी, और व्याकुल सी हो पंलग के पाये का सहरा ले कर वह पलंग से उतर कर नीचे की ओर भागी।

दरवाज़े पर एक बूढ़ा सारङ्गी बजा रहा था। फटे-पुराने कपड़े, कौड़ियों और घुमचियों से गुंथा हुआ झोला, और फूटा हुआ भिक्षा-पात्र। रानी देखती रही दूर खड़ी हुई, फिर धीरे-धीरे बढ़ी...झिझकी...झोला देख कर उसे भय लग रहा था, फिर बढ़ी और धीरे-धीरे उसने सारङ्गीवाले की पीठ पर हाथ रख कर कहा—बाबा!

बूढ़ा अन्धा था, तो भी उसकी चेतन शक्तियां जाग्रत थीं, उसने बालिका के स्पर्श की अनुभूति पाते ही अपने दोनों हाथों से नन्हीं रानी को टटोलकर गोद में उठा लिया और बोला---क्या है बेटी!

रानी घबराई सी थी, फिर भी बोली—औल बजाओ।

'अच्छा बेटी...फिर एक बार पुकारो।'

'बाबा...।'

'बाबा-बाबा...' बूढे ने दुहराया। उसका। रोम लरो पुलक उठा और वह सारङ्गी उठा कर दूने उत्साह से बजाने लगा। ऊपर खिड़की से मां ने देखा—

भिक्षा ले कर नीचे आई। किन्तु बूढ़ा तन्मय था बजाने में और बेटी उसकी पीठ पर हाथ रक्खे आत्मविभोर सी खड़ी सुन रही थी।

भीख लो—मां ने कहा।

'भीख......'

बूढ़े के हाथ रुके। नन्दरानी ने देखा बूढ़े की आंखों से आंसुओं की धार बही चली आ रही है। उसने रुद्ध कण्ठ से कहा—नहीं मां! आज भीख नहीं लूंगा, आज इस द्वार पर मैं जो कुछ पा गया हूँ वही मेरे लिए बहुत कुछ है?

बहुत कुछ?—नन्दारनी ने आश्चर्य से पूछा—भिखारी क्या 'बहुत कुछ' मिल गया तुम्हें!

'अहा! क्या पूछती हो मां, दुनियां तो चुटकियों से भिखारी की झोली भरती है, लेकिन रानी बेटी ने आज 'बाबा' कह कर मेरा जी अपनी प्यार भरी पुकार से भर दिया। मेरे जीवन का सारा सन्ताप हर लिया।'

उसने एक बार रानी बेटी को गोद में उठाकर प्यार से चूमा और फिर उतारते हुए कहा—ले जाओ मां, तुम्हारी गोदो की शोभा बनी रहे।

आश्चर्य की मूर्ति बनी नन्दरानी ने देखा—भिखारी धीरे-धीरे दोनों सीढ़ियां टटोल कर उतर गया।

सशङ्क चित्त से वह बेटी को लिए ऊपर आई—भिखारी के शब्द कानों में गुँज रहे थे—तुम्हारी गोदी की शोभा बनी रहे।

* * *

और अब यह रोज़ ही का क्रम चल निकला। प्रभात की किरण फुटती, सारङ्गी का मृदु गुंजन उठता, रानी दौड़ पड़ती। 'बाबा-बाबा'...कहती हुई वह भिखारी की पीठ से सट कर खड़ी हो जाती। घंटों सारङ्गी बजती रहती, नन्दरानी भिक्षा ले आती। कभी-कभी रानी के पिता जी भी आ खड़े होते। कुछ पूछना चाहते हुए भी वे कुछ पूछ न पाते! बूढ़े का स्नेह मानों संगीत के लय में कण-कण बन कर रानी बेटी पर बरस पड़ता, और लगता रानी बेटी दिनों दिन चन्द्र-कला की भांति बढ़ती जा रही है।

लडखड़ाते पांव अब सीधे पड़ने लगे, तोतली बोली अब साफ़ हो गयी, रानी बेटी अब स्वयं नन्हें-नन्हें हाथ भरे भिक्षा लेकर आती, बूढ़े की झोली में

मानों अन्नपूर्णा की भीख आ पड़ती, तृप्ति के चिन्ह झुर्रियों से भरे पोपले मुख पर उमड़ आते। रानी बेटी अब झोली से नहीं डरती, अब वह घुमचियों और कौड़ियों से खेलती रहती···'बाबा और बजाओ···और बजाओ बाबा', कहती हुई वह बूढ़े के कन्धे पर झुक जाती। सारङ्गी वाले की अंधी आँखें सजल हो जातीं।

कौन जानता अंधे के जर्जर शरीर में कितना महान् कितना सुन्दर, कितना स्नेह भरा हृदय छिपा हुआ है।

रानी बेटी अब स्कूल जाने लगी, बूढ़ा फेरी से लौटता तो रानी के द्वार पर बैठ कर श्रम मिटाता। रानी अपनी किताबें लिये आती, बूढ़े को किस्से सुनाती, संगी साथियों के नाम बतलाती, सारङ्गी सुनती कि इतने में झुटपुटा बढ़ता, मां की पुकार सुन पड़ती तब बूढ़ा उठ जाता—जाओ बेटी अब कल आऊँगा।

* * *

नये-पौधों में कल्ले फूटे, कलियां लगी और फूल खिलने लगे। रानी बेटी के शैशव ने भी अंगड़ाई लेकर सूचना दी जीवन-बसंत के आगमन की। यौवन अंग-अंग पर मुस्कराने लगा। आंखों में लज्जा आई, ओठों पर गम्भीरता आने लगी, रूठना-मचलना कम हो गया, अब रानी बेटी ने देखा—शैशव की स्मृति में केवल बूढ़ा सारंगीवाला ही बच रहा है। अब वह भी दोनों वक्त आता। पर अब थोड़ा अन्तर था, रानी द्वार पर प्रतीक्षा करती नहीं मिलती, स्वयं दौड़ कर भी नहीं जा पाती। बूढ़ा द्वार पर से पुकारता—रानी बेटी···रानी बेटी··· और पिता जी नीचे से आवाज़ देते—रानी तेरा बाबा आया है।

'अच्छा पिता जी!'

रानी भिक्षा लिये आती, झोली खींच कर भर देती, फिर मुस्करा कर कहती—बाबा बजाओ न!

अच्छा बेटी—और बूढ़े के अभ्यस्त हाथ गज के साथ-साथ मानों नृत्य कर उठते। रानी के ओठों पर वही बाल्य मुस्कान फिर थिरक जाती, वही घुमचियों और कौड़ियों से गुंथी हुई झोली, रानी गिनती रहती खेलती रहती तन्मयता से, फिर बोल उठती—अच्छा बाबा, अब जा रही हूँ आज इम्तहान देना है।

इम्तहान देना है! बूढ़ा चौंकता। इतनी बडी हो गई रानी, वह सोच में

पड़ जाता, क्या कहे वह रानी बेटी को ? राजा बेटे को तो वह कह सकता है—वकील हो जाओ ! बैरिस्टर हो जाओ ! डाक्टर हो जाओ। लेकिन रानी बेटी की महत्ता तो इसमें नहीं है।

और वह मुस्करा कर कहता—अच्छा बेटी पास हो जाओ।

रानी मुस्करा पड़ती—हो जाऊंगी बाबा।

* * * *

'रानी बेटी...रानी बेटी', सारङ्गी वाले ने पुकारा। पर उसकी ध्वनि प्रतिध्वनित होकर लौट आई। रानी बेटी आज नहीं आई और न उत्तर आया। वह द्वार के सामने झोली रख कर बैठ गया। उसने सारंगी उठाई, बजाने का प्रयत्न किया, किन्तु असफल रहा। हाथ उसके कांप रहे थे, रानी बेटी नहीं आई ? नहीं आई ? क्या हुआ, क्या...रानी बेटी को, बूढ़े के हृदय में मानो अनिष्ट की आशंकाओं के तूफान उमड़ चले। तीन दिन घुटने सूज जाने से वह स्वयं नह आ सका था, तो क्या रानी बेटी रूठ गयी है ?

बूढ़ा मुस्कराया, मन ही मन—श्री कृष्ण ने अपनी बांसुरी से राधा को मनाया था, आज अपनी सारंगी से मैं रानी बेटी को मनाऊंगा। उसने फिर गज उठाया, तब तक दरवाजे पर एक मोटर आकर रुक गई आदमियों के उतरने की आहट हुई, किसी ने झुककर उसके कान में कहा—बूढ़े लौट जाओ आज रानी बेटी की हालत ठीक नहीं है।

बूढ़े पर मानो बिजली गिरी 'रानी बेटी को क्या हुआ ? रानी बेटी को—मुझे बताओ, मुझे बताओ, कहता हुआ वह दौड़ा, दीवाल से टकराया, किसी ने अपने हाथों के सहारे उठाकर कहा—बूढ़े रानी को डिपथोरिया हो गया है, एक-एक मिनट उसके लिये खतरनाक होता जा रहा है भाई।

'मैं देखूँगा मालिक ! एक बार मुझे देख लेने दीजिये ?'

'देख लेना भाई, अभी, तो डाक्टर साहब देख रहे हैं।' पिता ने कांपते स्वर में कहा।

बहुत से लोगों का आना जाना होता रहा, डाक्टरों का समूह एक कमरे में बैठा विचार कर रहा था। कीमती से कीमती इन्जेक्शन लग रहे थे किन्तु रानी का कष्ट प्रतिपल बढ़ता जा रहा था।

नन्दरानी का आर्त स्वर सुन पड़ा—बूढ़े तुम फ़क़ीर हो, तुम्हारी दुआयें मेरी बच्ची को बचा लेंगी...तुमने कहा था—तुम्हारी गोद की शोभा बनी रहे...उसे बचाओ, उसे बचा लो बाबा !

निस्पन्द बूढ़े में पुनः चेतना का संचार हुआ, उसने घुटने टेक कर खुदा से दुआ मांगी। बोला—मां, सब्र करो। मां मैंने अपनी इतनी बड़ी जिन्दगी में खुदा से कुछ नहीं मांगा है, आंखें तक नहीं ! लेकिन एक दिन अपने आप खुदा ने रानी बेटी को देकर मुझे 'बाबा' बनाया था। आज उसी का जीवन मैं मांग लूंगा। मुझे यक़ीन है, वह इतना बेइंसाफ नहीं, मेरी बेटी को वह जरूर लौटा देगा।

नन्दरानी ने देखा—बूढ़े की आंखों से आज आंसुओं कि फिर धार बह रही है—वही धार जिसे देख कर उसे पहले दिन शंका हुई थी, शायद उस जन्म में रानी इसकी कोई हो। अन्यथा सन्तान के लिये मां से अधिक आंसू किसके निकलेंगे ?

रात बीत रही थी। प्रत्येक पल में रानी का जीवन-दीप झिलमिला रहा था। माता-पिता के अतिरिक्त स्वजन संबन्धियों से घर भर उठा था, डाक्टरों का तांता रात भर लगा रहा।

बूढ़ा सुबह होने के पहले ही वापस हुआ, पर उसके मुँह पर थकान न थी रात भर उसने दरगाह में मिन्नतें मानी थीं, और अजान के पहले ही चुटकी भर राख लिये परम विश्वास के साथ वापस हुआ था।

सीढ़ियों के पास ही उसे पिता ने देखा, बोले—इधर आग है बूढ़े, आओ भाई इधर बैठ जाओ, इतनी टंढक में क्यों निकल पड़े ?

'मालिक ! रानी बेटी कैसी है...'

'कैसी बतलाऊं भाई, अभी आंखें नहीं खुली, अवाज भी नहीं निकल पा रही है, डाक्टरों का कहना है अभी खतरे के भीतर ही है।'

'मालिक, एक बार मुझे देखने दीजिये'—बूढ़े के स्वर में मानो दीनता फूट निकली।

'आओ !'

बूढ़े को सहारा देकर वे भीतर ले चले, रानी की सांस बड़े कष्ट से आ रही थी।

डाक्टर की अनुमति पाकर बूढ़े ने अपने हाथों से टटोल कर रानी का स्पर्श किया, सर से लेकर पांव तक हाथ फेरता रहा, उसके बाद ज़रा सी राख रानी के आठों के भीतर कर दी।

रानी के ओंठ हिलने लगे, नन्दरानी चीख पड़ी, डाक्टरों ने दौड़ कर देखा—नब्ज गिरती जा रही थी, बूढ़े ने रानी के माथे पर हाथ रख कर कहा—मां, धीरज रखो। रानी बेटी बच जायगी, तुम्हारी गोदी की शोभा मलिन न होगी, मेरा विश्वास करो, मेरी दुआयें खुदा के यहाँ कबूल हो गई है।

और उसने सारङ्गी उठा ली—दूसरे क्षण एक मधुर संगीत मलय के साथ-साथ चारों ओर बरस पड़ा। सभी मौन थे, मुग्ध थे सब की आंखों में आश्चर्य था कौतूहल था। मौत की भयावनी छाया जो रात भर पलंग के चारों ओर मंडराती रही थी, वह मानो अपने आप हटती जा रही थी। रानी के ओठ हिलते-हिलते रुक गये; हल्की-सी एक खांसी आई, कफ हट गया और धीरे-धीरे पलक-पंखुरियाँ खुल गईं, उसने धीरे से कहा—'बा...बा...।'

पिता ने झुक कर कहा—बेटी।

सारङ्गी का स्वर रुका, बूढ़े ने एक बार फिर अपने हाथों को रानी के माथे पर और कपोलों पर फेर कर कहा—बेटी, बोलो बेटी...एक बार और बोलो.. उसका गला अपने आप जैसे रुकने लगा।

अस्फुट स्वर में रानी बोली—बाबा बजाओ।

बूढ़े के हाथ फिर उठे, उसने तन्यय होकर प्रभाती बजायी। रानी की आंखें धीरे-धीरे झप गईं। डाक्टरों ने देखा, नब्ज़ ठीक थी और उसे नींद आगई थी।

स्वर न टूटने पर भी बूढ़े का हाथ धीमा पड़ने लगा, उसके झुर्रियों वाले मुखमण्डल पर अद्भुत शान्ति और आनन्द छलका पड़ा रहा था।

अचानक लय टूट गई, गज गिरा, बूढ़े के हाथ लटक गये। डाक्टर ने झुक कर देखा अश्चर्य के साथ! किन्तु बूढ़े के प्राण अब शेष न थे। वह अपने नेक दिल खुदा को शुक्रिया देने के लिये जा चुका था।

—०—

श्री भीष्म सहानी

जन्मकाल रचनाकाल

१९१५ ई० १९४० ई०

शिष्टाचार

जब तीन दिन की अनथक खोज के बाद बाबू रामगोपाल एक नौकर ढूँढ-कर लाये, तो उनकी क्रुद्ध श्रीमती और भी बिगड़ उठीं। पलंग पर बैठे-बैठे उन्होंने नौकर को सिर से पाँव तक देखा, और देखते ही मुंह फेर लिया:

'यह बनमानस कहाँ से पकड़ लाये हो? इससे मैं काम लूंगी, या इसे लोगों से छिपाती फिरूंगी?'

इसका उत्तर बाबू रामगोपाल ने अंग्रेजी में दिया:

'जानती हो तलब क्या होगी? केवल बाहर रुपये। इतना सस्ता नौकर तुम्हें आजकल कहां मिलेगा?'

'तो काम भी वैसा ही करता होगा।' श्रीमती अंग्रेज़ी में बोलीं।

'यह मैं क्या जानूँ। नया आदमी है, हाल ही में अपने गाँव से आया है।'

श्रीमती जी की भवें चढ़ गईं:

'तो इसे काम करना भी मैं सिखाऊंगी? अब मुझ पर इतनी दया करो जो किसी दूसरे नौकर की खोज में रहो। जब मिल जाए तो मैं इसे निकालदूंगा।'

बाबू रामगोपाल तो यह सुनकर अपने कमरे में चले गये और श्रीमती दल-हीज़ पर खड़े नौकर का कुशल-क्षेम पूछने लगीं। नौकर का नाम हेतू था और शिमले के नज़दीक एक गाँव से आया था। चपटो नाक, छोटा माथा, बेतरह से दाँत, मोटे-मोटे हाथ और छोटा-सा कद, श्रीमती ने गलत नहीं कहा था। नाम-पता पूछ चुकने के बाद श्रीमती अपने दाएं हाथ की उंगली पिस्तौल की तरह हेतू की छाती पर दाग कर बोलीं:

'अब दोनों कान खोल कर सुन लो। जो यहाँ चोरी-चकारी की तो सीधा हवालात में भिजवा दूंगी। जो यहाँ काम करना है तो पाई-पाई का हिसाब ठीक देना होगा।'

श्रीमती का विचार नौकरों के बारे में वही कुछ था जो अक्सर लोगों का है कि सब मक्कार, गलीज़ और लम्पट होते हैं। किसी पर विश्वास नहीं किया जा सकता। सभी झूठ बोलते हैं, सभी पैसे काटते हैं, और सभी हर वक्त नौकरी की तलाश में रहते हैं, जो मिल जाए तो उसी वक्त घर से बीमारी की चिट्ठी मँगवा लेते हैं। इसीलिए श्रीमती जी का व्यवहार नौकरों के साथ नौकरों का सा ही था। यूँ भी घर में उनकी हुकूमत थी। जो उन्हें पतिदेव पर गुस्सा आता तो अंग्रेजी में बात करतीं, और जो नौकर पर गुस्सा आता तो गालियों में बात करतीं। दोनों की लगाम खींच कर रखतीं। उनकी तेज़ नज़र पलंग पर बैठे-बैठे भी नौकर के हर काम की जानकारी रखती, कि नौकर ने कितना घी इस्तेमाल किया है, कितनी रोटियाँ निगल गया है, अपनी चाय में कितने चमचे चीनी उंडेली है। जासूसी नावलों की शिक्षा के फलस्वरूप उन्हें नौकरों की हर क्रिया में षड्यन्त्र नज़र आता था।

काम चलने लगा। हेतू कुरूप तो था ही, इस पर उजड्ड और गँवार भी निकला उसके मोटे-मोटे स्थूल हाँथों में काँच के गिलास टूटने लगे, परदों पर धब्बे पड़ने लगे, और घर का काम अस्त-व्यस्त रहने लगा। श्रीमती दिन में दस-दस बार उसे नौकरी से बरख़ास्त करतीं। पर तो भी हेतू की पीठ मज़बूत थी, दिन कटने लगे, और बाबू रामगोपाल की खोज दूसरे नौकर के लिये शिथिल पड़ने लगी। नौकर उजड्ड और कुरूप था, पर दिन में केवल दो बार खाता था, उस पर वेतन केवल बारह रुपये। जो किसी चीज़ का नुकसान करता तो उसकी तनख्वाह कटती थी। दिन बीतने लगे, हेतू के कपड़े मैले हो कर जगह-जगह से फटने लगे, मुँह का रंग और भी काला पड़ने लगा, और गाँव का जाट धीरे-धीरे एक शहरी नौकर में तबदील होने लगा। इसी तरह तीन महीने बीत गये।

पर यहाँ पहुँच कर श्रीमती एक भूल कर गईं। कहते हैं स्त्री में संकीर्णता का इलाज पुरुष के पास तो नहीं, पर प्रकृति के पास अवश्य है। श्रीमान और

श्रीमती के एक छोटा सा बालक था जो अब चार बरस का हो चला था, और प्रथानुसार उसके मुंडन संस्कार के दिन नजदीक आ रहे थे। चुनांचि घर में बड़े उत्साह और प्यार से मुण्डन की तैयारियाँ होने लगीं। बेटे के वात्सल्य ने श्रीमती जी की आँखें आटे, दाल और घी से हटा कर रंगबिरंगे खिलौनों और कपड़ों की ओर फेर दीं, शामयाने और बाजे का प्रबन्ध होने लगा। मित्रों-सम्बधियो को निमन्त्रण-पत्र लिखे जाने लगे, और धीरे-धीरे चाबियों का गुच्छा श्रीमती जी के दुपट्टे के छोर से निकलकर नौकर के हाथों में रहने लगा।

आखिर वह शुभ-दिन भी आ पहुँचा। श्रीमान और श्रीमती के घर के सामने बाजे बजने लगे। मित्र-सम्बधी मोटरों टाँगों पर बच्चे के लिए उपहार ले ले कर आने लगे। फूलों, फानूसों और मित्र-मण्डली के हास्यविनोद से घर का सारा वातावरण जैसे खिल उठा था। श्रीमान् और श्रीमती काम में इतने व्यस्त थे कि उन्हें पसीना पोंछने की भी फुरसत न थी।

ऐन उसी वक्त हेतू कहीं बाहर से लौटा और सीधा श्रीमान के सामने आ खड़ा हुआ।

'हूजूर मुझे छुट्टी चाहिये, मुझे घर जाना है।'

श्रीमान् उस वक्त दरवाजे पर खड़े अतिथियों का स्वागत कर रहे थे, हेतू के इस अनोखे वाक्य पर हैरान हो गये।

'क्या बात है?'

'हुजूर मुझे घर से बुलाया है, मुझे आप छुट्टी दे दें।'

'छुट्टी दे दें! आज के दिन तुम्हें छुट्टी दे दूँ?' —श्रीमान् का क्रोध उबलने लगा। 'जाओ अपना काम देखो। छुट्टी-वुट्टी नहीं मिल सकती। मेहमान खाना खाने वाले हैं, और इसे घर जाना है।'

हेतू फिर भी खड़ा रहा, अपनी जगह से नहीं हिला। श्रीमान झुंझला उठे।

'जाते क्यों नहीं? छुट्टी नहीं मिलेगी।'

फिर भी जब हेतू टस से मस न हुआ तो श्रीमान का क्रोध बेकाबू हो गया, और उन्होंने छूटते ही हेतू के मुंह पर एक चांटा दे मारा।

'उल्लू के पट्ठे, यह वक्त तूने छुट्टी मांगने का निकाला है।'

चांटे की आवाज दूर तक गई। बहुत से मित्र-सम्बन्धियों ने भी सुनी, और आंख उठा कर भी देखा, मगर यह देखकर कि केवल नौकर को चांटा पड़ा है, आंखें फेर लीं।

श्रीमती को जब इसकी सूचना मिली तो वह जैसे तन्द्रा से जागीं। हो न हो इसमें कोई भेद है। मैं भी कैसी मूर्ख जो इस लम्पट पर विश्वास करती रही, और सब ताले खोल कर इसके सामने रख दिये। इसने न मालूम किस-किस चीज पर हाथ साफ किया है, जो आज ही के दिन छुट्टी मांगने चला आया है। भागी हुई बाहर आईं, और बराण्डे में खड़ी हो कर हेतू को फटकारने लगीं। उन्होंने वह कुछ कहा जो हेतू के कानों ने पहले कभी न सुना था। कुछ एक सम्बन्धी इकट्ठे हो गये, और जलसे में विघ्न पड़ता देख कर श्रीमान को समझाने लगे। एक ने हेतू से पूछा।

'क्यों, घर क्यों जाना चाहते हो?'

हेतू चुपचाप खड़ा रहा, पहले कुछ कहने लगा, फिर इधर-उधर देखकर रुक गया और बोला:

'जी काम है।'

'क्या काम है?'

हेतू ने फिर धीरे से कह दिया।

'जी काम है।'

इस पर श्रीमती का गुस्सा तो फिर भड़क उठा, मगर बाकी लोग तो बात को निबटाना चाहते थे, हेतू को चुपचाप धकेल कर परे हटा दिया। फिर पति-पत्नी में अंग्रेज़ी में परामर्श हुआ। आख़िर दोनों इसी नतीजे पर पहुँचे कि इस वक्त चुप हो जाना ही ठीक है। मुण्डन के बाद इसका इलाज सोचेंगे।

हेतू बजाय इसके, कि फिर काम में जुट-जाता, बराण्डे के एक कोने में जाकर बैठ गया और न हूँ न हाँ, चुपचाप इधर-उधर ताकने लगा। इस पर श्रीमान् आपे से बाहर होने लगे। पहले तो देखते रहे फिर उसके पास जाकर, उससे कड़ककर बोले।

'काम करेगा या मैं किसी को बुलाऊं ?'

हेतू ने फिर वही रट लगाई।

'साहब, मुझे जाने दो, मैं जल्दी लौट आऊंगा, मुझे काम है।'

आखिर जब जलसे में बहुत से लोगों का ध्यान उसी तरफ जाने लगा तो दो एक मित्रों ने सलाह दी कि उसका नाम-पता लिख लिया जाए, उसकी तनख्वाह रोक ली जाए और उसे जाने दिया जाए। चुनांचि श्रीमान् ने अपनी डयारी खोली, उस पर हेतू का पूरा पता लिखा, नीचे अंगूठा लगवाया, और धक्के मार कर बाहर निकाल दिया।

दूसरे दिन श्रीमती ने अपना एक एक ट्रंक खोल कर अपनी चीजों की पड़ताल शुरू की। अपने जेवर, सिल्क के जड़ाऊ सूट, चाँदी के बटन, एक-एक कर के जो याद आया गिन डाला। मगर बड़े घरों में चीजों की सूची कहाँ होती है और एक-एक चीज किसे याद रह सकती है। श्रीमती जल्दी ही थक कर बैठ गईं।

'तुमने उसे जाने क्यों दिया ? कभी कोई नौकरों को यूं भी जाने देता है ! अब मैं क्या जानूं क्या-क्या उठा ले गया है ?'

'जाएगा कहाँ, उसकी तीन महीने की तनख्वाह मेरे नीचे है।'

'वाह जी, सौ-पचास की चीज ले गया तो बीस रुपये तनख्वाह की वह चिन्ता करेगा ?'

'तुम अपनी चीजों को अच्छी तरह देख लो। अगर कोई चीज भी गायब हुई तो मैं पुलिस में इत्तला कर दूँगा। मैंने उसका पता-वता सब लिख लिया है।'

'तुम समझे बैठे हो कि उसने तुम्हें पता भी ठीक लिखवाया होगा ?'

महीना भर बीत गया। हेतू की कोई खबर न मिली। उसकी जगह एक दूसरा नौकर आ गया और घर का काम पहले की तरह चलने लगा। जब श्रीमती जी को कोई चीज न मिलती तो वह हेतू को गालियाँ देतीं। पर श्रीमान् धीरे-धीरे दिल ही दिल में अफ़सोस करने लगे। कई बार उनके जी में आया कि उसके पैसे मनीआर्डर करा के भेज दें मगर फिर कुछ श्रीमती के डर से, कुछ अपनेसन्देह के कारण, रुक जाते।

एक दिन, शाम का वक्त था। श्रीमान् थके हुए दफ्तर से घर लौट रहे थे, जब उनकी नज़र सड़क के पार एक धर्मशाला के सामने खड़े हुये हेतू पर पड़ गई। वही फटे हुये कपड़े, वही शिथिल कुरूप चेहरा। उन्हें पहचानने में देर नहीं लगी। झट से सड़क पार कर के हेतू के सामने जा खड़े हुए, और उसे कलाई से पकड़ लिया।

'अरे तू कहाँ था इतने दिन? गाँव से कब लौटा है?'

'अभी-अभी लौटा हूँ साहब।' हेतू ने जवाब दिया।

'काम कर आया है अपना?'

हेतू ने धीरे से कहा।

'जी।'

'कौन-सा ऐसा जरूरी काम था जो जलसे वाले दिन भाग गया?' हेतू चुप रहा।

'बोलते क्यों नहीं क्या काम था? मैं कुछ नहीं कहूँगा, सच-सच बता दो।'

सहसा हेतू की आंखों में आंसू आ गये। होंठ बात करने के लिये खुलते, मगर फिर बन्द हो जाते। बार-बार आंसू छिपाने का यत्न करता मगर आंखें ऐसी छलक आई थीं कि आंसुओं को रोकना असंभव हो गया था।

बाबू रामगोपाल पसीज उठे।

'क्यों क्या बात है?' उसका कन्धा सहलाते हुए बोले।

'जी मेरा बच्चा मर गया था।' लड़खड़ाती हुई आवाज में हेतू ने कहा।

बाबू रामगोपाल को सुनकर दुःख हुआ। थोड़ी देर तक चुपचाप खड़े उसके मुंह की ओर देखते रहे, फिर बोले:

'मगर तुमने उस वक्त कहा क्यों नहीं? तुम से बार-बार पूछा गया मगर तुम कुछ भी न बोले?'

हेतू ने धीरे से कहा।

'जी, वहां कैसे कहता?'

'क्यों?'

'खुशी वाले घर में यह नहीं कहते। हमारे में इसे बुरा मानते हैं।'

और श्रीमान, स्तब्ध और हैरान उस उजड्ड गंवार के मुंह की ओर देखने लगे।

——oo——

श्री ओंकार शरद

जन्मकाल रचनाकाल
१९२६ ई० १९४३ ई०

लंका महराजिन

ननिहाल की बात है। लड़कपन में जब कभी जाता था, महराजिन के विषय में सुनता था। और जैसा रूप महराजिन का तब था वैसा अब भी है। रत्ती भर भी परिवर्तन नहीं। वही गंदी और बिना किनारे की मारकीन की धोती पहने, आधी झुकी हुई चलतीं तो चारों ओर शंका की दृष्टि बिछाती हुई। किसी को देखकर मुस्कातीं; किसी को देखकर मुँह फुला लेतीं। किस पर खुश हैं, किस पर नाखुश—यह समस्या है। आँखे भीतर को घुसी हुईं। चेहरे पर झुर्रियाँ। गर्दन कुछ कुछ हिलती हुई। कुछ तो बुढ़ापे के कारण, कुछ तो संसार के प्रति विराग और घृणा से। नाक में सोने की पुल्ली पहने हुए हैं, जिसे रह-रह कर वह घुमा देती हैं।

घर में उसके कोई नहीं है। और घर ही कहाँ है उसका! लाला बिहारी लाल के मकान के बाहर वाले जीने की कोठरी में वह रहती हैं। केवल आठ आना महीना किराया देना पड़ता है। वह भी बिहारी लाल की पत्नी अक्सर अपने ही पास से पति को दे दिया करती थीं, महराजिन का नाम लेकर। और उस आठ आने के बदले में, महराजिन उनका बहुत-सा काम कर देती थी, कूटने-पीसीने के रूप में। इस व्यापार से दोनों सन्तुष्ट थीं, बिहारी लाल की पत्नी भी और महराजिन भी। महराजिन को अठन्नी न देनी पड़ती। वह जोड़तीं, दो महीने में एक रुपया बचता है—पूरे वर्ष भर में छः रुपया। छः रुपया! दो जोड़े मारकीन की धोतियाँ आती हैं। वर्ष भर के पहनने का भी खर्च निकल आता है। और बिहारी लाल की पत्नी सोचतीं, वही अधिक लाभ उठा रही हैं। महीने भर काम यदि कोई मजदूरिन करती तो अवश्य ही

पाँच रुपये लेती। लेकिन आठ आना न लेकर यह सौदा अच्छा पटा।

मेरी नानी के यहाँ वह दिन भर में एक बार अवश्य आतीं। नानी से मित्रता थी। दोनों का बुढ़ापा था इसलिए। और दोनों घण्टों बैठकर घुल-घुल कर बातें करती थीं। महराजिन पहले तो नानी से सारे मुहल्ले भर की बातें बतातीं, मानों कोई समाचार पत्र पढ़कर सुना रही हों उन्हे सबों के विषय में मालूम रहता है, हर-घर की बातें। बैजनाथ सोनार, राजा बनिया, सुकुल पण्डित, सुखदेव लाला और ननकी कहारिन, सबके विषय में वह समाचार एकत्रित करके लातीं और नानी को सुनातीं। नानी को भी देश दुनिया की सुनने की बड़ी उत्कण्ठा रहती। लेकिन उनकी दुनिया—दो सौ घरों के इस छोटे से मुहल्ले तक ही सीमित होती। यहीं की राजनीति से उन्हे मत-लब है। आगे बढ़ने से कोई सरोकार नहीं। बैजनाथ सोनार की गाय ने आजकल दूध देना बन्द कर दिया है, पर वह इतना कंजूस है कि बच्चों के लिए भी बाजार का दूध नहीं लेता। राजा बनिया, रामऔतार वाला कच्चा मकान खरीदने के फेर में है। उसके मकान का पिछवाड़ा है, बढ़ाना चाहता है। सुकुल पण्डित तीसरे ब्याह के फेर में हैं। सुना है लड़की भी मिल गई है। दुनिया अंधा है, जवान-जवान लड़के हैं, फिर भी लकड़ी जैसी पत्नी घर में लाये बिना नहीं रहा जाता। कुछ उन्नीस हुआ, बेचारी लड़की को ही दोष लगेगा। सुखदेव लाला की हालत ठीक नहीं। उनकी बीमारी बढ़ती ही जाती है। और क्यों न बढ़े! पैसा तो निकलता ही नहीं, दवा की नहीं जाती। दीनानाथ वैद्य की दवा अब फायदा भी नहीं कर सकती। और ननकी कहारिन! उसके लिए महराजिन अधिक व्यथित हैं। बेचारे माधो से उसकी नहीं पटती। सीधा है इससे चुप रहता है इसी से वह सिर पर सवार रहती है। दूसरा कोई होता तो उठते बैठते डंडा मारता। माधो ने चाँदी के कण्ठे गढ़वाए, पर उस पर कुछ असर नहीं। बड़े घरों का मुकाबला करना चाहती है। चौका बरतन भी महीनों से छोड़े बैठी है।

और जब महराजिन दुनिया भर की खबर बता जाती तो नानी की बार आती। पर वह केवल अपने जिले भर की बातें करतीं, यानी अपने ही घर

की। अधिकतर बातें मेरी मामी के विषय की होतीं। दो-चार अच्छी और दस-बीस खराब। पर बातें घुल मिल कर होतीं, दो सखी जैसी ।

और कभी-कभी लड़ाई भी होती, तनातनी के रूप में। पर वह अधिक दिन न चलती। महराजिन का आना बन्द हो जाता। नानी उदास होतीं। एक सूनांपन रहता। महराजिन के आने का समय होता तो दरवाजे पर आकर बैठ जातीं। महराजिन आतीं और देखकर आगे बढ़ जातीं। नानी भी मुँह घुमा लेतीं। कहीं शान में बट्टा न लगे। पर मुँह जब सीधा करतीं तो महराजिन की छाया खो चुकी होती। रहा न जाता। उठतीं, चबूतरे के किनारे तक आतीं और झाँक कर गली में मोड़ पर घूमती हुई महराजिन को देखतीं। तभी किसी ओर से कोई अवश्य आता दिखाई पड़ता और झटपट नानी चौखट के भीतर हो लेतीं।

पर यह असहयोग अधिक दिन तक न चल पाता। महराजिन को ही झुकना पड़ता। जिस दिन नानी चौखट पर न होकर घर में रहतीं तो महराजिन भीतर चली आतीं। नानी देखतीं तो खिल उठतीं। और केवल यह पूछकर, 'बहू, सब ठीक है' महराजिन अपना संधिपत्र आगे बढ़ा देतीं।

पर यह मित्रता और मेल केवल नानी के ही संग है। मुहल्ले के अन्य हिस्सों में महराजिन का नाम बदनाम है। वह अपने चिड़चिड़ेपन, भयानक आकृति और मन-ही मन भुनभुना कर श्राप देने के लिए बदनाम थीं। यद्यपि किसी के यहाँ जाने की मनाही नहीं था। सब के घर का दरवाजा उनके लिए सदा खुला रहता था। और भला किसमें इतनी हिम्मत थी कि उनसे कुछ कहता।

एक दिन महराजिन बड़बड़ाती हुईं आईं। द्वार तक आईं और लौट गईं। जैसे कुछ सोच कर आईं और भूल गईं। नानी ने समझा, महराजिन नाराज हैं। लाख पुकारा पर न लौटीं। इधर महराजिन कभी-कभी ऐसी बन जाती हैं, कि समझ में नहीं आता कि उन्हें क्या हो गया है।

छोटी लाइन के गोपीगंज स्टेशन से उत्तर को पक्की सड़क गई है वह सड़क तो अपने रास्ते गई है, पर एक मील आगे जाकर दक्षिण की ओर जो पगदण्डी फूट गई है उसी पर आगे चल कर महराजिन का गांव है। गाँव में कुल

पच्चीस-तीस घर है। चार घर ब्राह्मण, दो बनिया, एक ठाकुर, तीन जुलाहे और पासी चमारों के कुछ घर हैं। यहीं महराजिन की ससुराल है। जब महराजिन यहाँ ब्याह कर आई थीं तो बड़ा मान था उनका। महराजिन का स्वभाव बहुत अच्छा और सरल था। ब्याह के पूर्व ही विमाता के कर्कश स्वर और कड़े स्वभाव ने महराजिन को इतना सरल और सहनशील बनाया था। पिता नहीं थे, लड़कपन में ही छोड़ गए थे। विमाता के लिए यह भार हो गई। सुबह शाम कोसती कि मर भी नहीं जाती यह लड़की। विमाता को ब्याह में खर्च होने वाले धन की चिन्ता थी। यदि किसी प्रकार वह बच जाता तो ठीक था। पर किसी के मनाये कभी नहीं कोई मारता। महराजीन बड़ी हुईं। मन न होने पर भी, मन में कुढ़ कर, गाँव वालों में नाक कटने के डर से, विमाता ने बड़े सस्ते में ब्याह रचाया। ससुराल वालों ने बहुत निर्धन और अबला मान कर संतोष किया! कहा, 'हमें धन से ब्याह नहीं करना है। लड़की अच्छी मिली, सब मिला।' विमाता मन ही मन खुश थी। सस्ती छूटीं और ऊपर से अभिनय करतीं—कन्यादान का महान सुख पाया। कन्यादान को इस ढंग से निभाया मानों बड़ी कीमती अमानत सकुशल लौटा रही हों।

महराजिन अपनी विमाता का यह अभिनय अच्छी तरह समझ रही थीं। पर उन्हें भी इस बात की खुशी थी की इनसे पीछा छूटा। आगे देखी जायगी। ससुराल चाहे जैसा भी हो।

और ससुराल में तो फिर बड़ी कदर हुई महराजिन की। सास तो बहुत खुश हुईं। बहू किसी काम में पीछे नहीं रहती। मेहनत करती है। कहना मानती है। कभी जबान नहीं लड़ाती। इतना क्या कम था!

पर सास का सारा प्रेम उस दिन समाप्त हो गया जिस दिन सास की अपूर्व सेवा और शुश्रूषा तथा काफी खर्च कर अच्छी से अच्छी चीजें खिलाने के बाद भी महराजिन ने एक मृत बालिका को जन्म दिया। सास सिर थाम के बैठ गईं। सब सोचा हुआ गलत निकाला। सारी मेहनत बेकार गई। और महराजिन को भी दुःख था। पर इसमें उसका कोई दोष नहीं। अपनी जान देकर भी यदि उस मृत बालिका को बालक बना पाती तो अवश्य बनाती और सास की गोद में दे देती।

सास के प्रेम के घड़े में छिद्र हो गया। दिन प्रति-दिन प्रेम कम होता गया और एक दिन ऐसा आया कि महराजिन को लगा कि इससे अच्छा तो उसके विमाता का ही घर था। रात का समय था। दीपक जल रहा था, एकाएक बुझ गया। सास चीख उठी, 'एक गिलास पानी।'

सुनते ही महराजिन दौड़ी। सोचा, पहले पानी दे लूँ तो दीपक जलाऊ। नहीं तो सास कहीं चिल्लाना न शुरू कर दें। यही सोच वह चौके में गई। एक लोटा उठाया। लोटा भारा लगा। पानी जाना उसे आँगन में एक कोने में उँडेल कर घड़े से पानी लाई, और भयभीत हृदय से सास के हाथ में थमा दिया। मुँह में लगाते ही सास ने कहा, 'यह कौन सा लोटा है, जग रोशनी तो कर!'

महराजिन का जी धक् धक् करने लगा। समझ में न आया कि क्या बात है। दीपक जलाया। आँगन पार करके सास के पास ला रही थी कि जँगल की बाघिन सी सास ने गरज कर कहा, 'हाय, यह कुलच्छिनी ही बाद थी मेरे भाग्य में, अरे सारा दूध फेंक दिया। आँख नहीं है क्या? अँधी है क्या! दूध और पानी भी समझ में नहीं आता।'

महराजिन ने घूम कर देखा, सचमुच बड़ी भूल हुई। अँधेरे में लोटा भर दूध पानी समझ कर बहा दिया उसने। अब क्या होगा।

और सास को एक विषय मिल गया था, वह कहे जा रही थी, 'अँधी है। आँखें नहीं हैं। भगवान ने न जाने कैसी आदत बनाई है इस चुड़ैल की! सदा ही कुछ न कुछ नुकसान ही किया करती है। यों दूध बहाना बड़ा अशुभ होता है! बड़ा अशुभ होता है।'

इस अन्तिम शब्द ने जाने कैसे महराजिन का कलेजा हिला दिया। उसने भी मन ही मन दुहराया, 'सचमुच बड़ा अशुभ होता है।'

कुछ महीनों बाद एक दिन गाँव में चर्चा फैली, पड़ोसी गाँवों में महामारी हो गई है। वहां से कोई कुछ सम्बन्ध न रखे। बात जिस प्रकार कही गई थी, महराजिन ने भी सुनी, पर उस पर इसका प्रभाव न पड़ा।

पर उसके गांव पर पूर्ण प्रभाव पड़ा। पड़ोसी बनवारी सुकुल की पत्नी को एक दिन के बुखार ने समाप्त कर दिया। दूसरे दिन महराजिन के सास को भी के दस्त शुरू हो गई। यह बड़ी चिन्ता का विषय था। दिन भर लड़का दवा-

दारू के लिए दौड़ता रहा। पड़ोसी गांव में एक वैद्य थे! अपनी मरियल घोड़ी पर वे आये और दवा देकर चले गए पर रात आने के पूर्व ही जो कै और दस्त शुरू हुई कि महराजिन की सास न बच सकीं। महराजिन के ऊपर दुःख का पहाड़ टूटा महराजिन के पति ने चिन्ता प्रकट की, 'लाश कैसे ले जाई जाय! गांव वालेकहते हैं—महामारी से मरी हैं पण्डिताइन, उनको छूकर हम अपनी जान नहीं देगें।

अन्त में गांव के चौकीदार हरखू मांझी की सहायता से दो और पासियों को दो बोतल का दाम देने का लोभ देकर तैयार किया और महराजिन के पति ने किसी प्रकार अपनी माँ को घाट तक पहुँचा कर अन्तिम क्रिया की।

लौटकर आया तो बहुत थक गया था। एक तो दिन भर दवा दारू में दौड़ता रहा, फिर माँ को घाट तक ले जाने में सब दुर्दशा हो गई। रात को दो बजे लौट कर आया। थकान से शरीर चूर था। प्यास से बोल सूख रहा था। आते ही दरवाजे पर महराजिन ने दो लोटे पानी दिए और कहा, 'अच्छी तरह पांव धो लो तब भीतर आओ।'

उसने वैसा ही किया, पांव धोकर भीतर आया। खाट पर धम् से गिर पड़ा। महराजिन से पानी मांगा। महराजिन ने कहा, 'खाली पेट पानी नहीं पीते, कुछ खाकर पीओ।'

'क्या है खाने को?'

'इस समय क्या है, कहो तो थोड़ा सा गुड़ दूँ।'

'नहीं, गुड़ नहीं खाऊँगा।'

'अच्छा ठहरो', कहकर तेजी से महराजिन कोठे में गई और एक बड़ा कटोरा भर कर दूध लाईं, पति को दिया और पीकर वह सन्तुष्ट हुआ।

पर अभाग्य की मारी जो थी यह महराजिन! सुबह से ही पति को भी जोरों की कै और दस्त होना शुरू हुआ। महराजिन की आंखों के आगे अंधकार छा गया। वह न दौड़-धूप ही पाई; न दवा-दारू का ही प्रबन्ध कर सकीं। चिंता में वह सब कुछ भूल गईं। उनकी चेतना जैसे खो गई। दिन चढ़ते-

चढ़ते सुहाग लुट गया। गाढ़े मुसीबत में कोई काम नहीं आता। गांव वाले खड़े भी न हुए। सुनकर चुप रह गए। छूत की बीमारी है रात को माँ को घाट तक ले गया था, वही बीमारी लगी।

महराजिन का भाग्य फूटा। वह चिल्ला-चिलाकर रोई! पर उनके रोने को देखने वाला कोई न था। स्वयं ही रोई, स्वयं ही दिल कड़ा किया, आँसू पोंछा और चुप हो गईं।

हरखू माँझी चौकीदार ने इस बार भी सहयता की। महराजिन के पति का वह सच्चा दोस्त था। किसी प्रकार उसने अपने मित्र की लाश को ठिकाने लगाया महराजिन पर यह दुःख पहाड़ सा-टूट पड़ा। घर में उनकी जानकरी में जो नगद रुपये थे वे सास और पति की बीमार और अन्तिम क्रिया में खर्च हो गये। अब वह क्या करती। गाँव का जब कोई भी ब्यक्ति काम न आया तो महराजिन और भी दुःखी हुई! हरखू जाति का माँझी था, वह बेचारा कितना क्या करता! उसका छुआ भी महराजिन नहीं खा सकती थीं। पर उसने भी जो सहायता की उतना दूसरा कोई क्या करेगा।

तीन महीने के अन्दर दो गायें, जो महराजिन की कुल पूँजी थी, बेच दी गईं। एक सौ बीस रुपये मिले। अस्सी रुपया, पड़ोसी सुकुल ने कहा कि उनका उसके पति पर बाकी है, सो मिलना ही चाहिए नहीं तो सुकुल आदा-लत जाएँगे।

महराजिन यद्यपि जानती थीं कि सुकुल झूठा है, अपना ईमान छोड़ कर कह रहा है। फिर भी कचहरी की देहरी चढ़ना महराजिन कैसे सह सकती थीं। चुपचाप अस्सी रुपये देकर पिण्ड छुड़ाया। गांव में मन न लगता था। पर जायँ कहां। कहीं भी ठिकाना नहीं।

पड़ोसी सुकुल जाने क्यों महराजिन से जलता था। अस्सी रुपये तो मुफ्त के पा ही गया था। शेर के मुँह में खून लग चुका था। अब उसने महराजिन पर दूसरा प्रहार किया। गांव वालों में प्रचार करना शुरू किया, 'हम तो पड़ोसी है। दिन भर देखते हैं सो कहते हैं! महराजिन की चाल अच्छी नहीं है। हलवहों से सामने होकर बातें करती हैं। किसी ब्राह्मण के घर यह नहीं होता कि स्त्रियां नीच जाति वालों से बातें करे। और हाँ! चौकीदार रोज तीन-चार-

पाँच, चक्कर आता है। भला सूने घर में उसे क्यों जाना चाहिये? मानत हूँ कि लाख महराज से मित्रता थी पर इसके यह माने नहीं कि सूने घर में दिन भर घुसा रहे।'

बात सबों को ठीक जँची। पर प्रत्यक्ष किसी ने कुछ न कहा। किसी को क्या लेना-देना। जो करेगा अपना परलोक बिगाड़ेगा। यह कोई दिल की स्वच्छता से नहीं कहता था, बल्कि हरखू चौकीदार के डर से। सब जानते हैं कि रात को सेंध डलवा देना उसके बाँएँ हाथ का खेल है। सो कौन छेड़े मक्खी के इस छाते को!

पर सुकुल को इसकी परवाह नहीं। वह तो साफ कहते थे। 'पंचायत बैठाऊँगा। सब साफ-साफ खोल के कहूँगा। पंच फैसला कर देंगे। दूध का दूध और पानी का पानी। हुक्का-पानी न बन्द करवा दू तो क्या कहना।'

महराजिन सब सुनती, पर उसकी सुननेवाला कोई न था। उनका कहना था, और है कौन जो आगे खड़ा होकर हलवाहों से बातें करे। न करूँ तो काम कैसे हो? सुकुल की नियत में खामी है। सुकुल ने अपना धर्म-ईमान गँवा दिया है।' पर महराजिन की बात किसी की कान तक भी न पहुँची।

और एक दिन गाँव भर में शोर हुआ कि सुकुल ने यहीं ब्राह्मणों की पंचायत बुलाई है। किशुनपुर, माधोगंज, शेखपुरा, नेपुरवा, सभी गांवों के पण्डित पधारेंगे। महराजिन पर सुकुल द्वारा लगाये गये अभियोगों का फैसला होगा, एक सप्ताह के बाद।

सुकुल ने बरगद के नीचे घास छिलवाई। गोबर से लिपवा दिया। जड़ पर बने थाले को चिकना कराया। बगल वाले पीपल के नीचे स्थापित महाबीर जी की मूर्ति पर सवा पाव सेंदुर रगड़वाया।

खेत से आती हुई महराजिन ने यह देखा। और सुना सुकुल कह रहा था। 'रस्सी जल गई पर ऐंठन न गई। घर और खेत दोनों पर कब्जा करके न दिखाया तो सुकुल नहीं।'

अब महराजिन के समझ में सब आ गया कि यह सुकुल क्यों पीछे पड़ा है। उसे भय था, यह दुष्ट सुकुल पंचायत में जाने क्या-क्या झूठ-सच कहेगा। दिन-रात चिन्ता में वह घुलने लगीं। दिन भर अँधेरे कमरे में पड़ी कुछ सोचतीं

रहीं। कुछ निश्चय किया पर किसी से बताया नहीं। अँधेरे में ही कोठे में जाकर हांडीं में हाथ डालकर अंदाज लगाया कि कितना पैसा होगा, संतोष की साँस ली। चेहरे पर चमक आई। दीपक जलाकर खाना बनाया और रात को चूल्हे में लात मारकर उसे गिरा दिया।

रात को स्वस्थ होकर सोईं और सुबह अंधेरे में ही हांडी के पैसे आंचल में बाँधकर एक चादर ओढ़ी और सुकुल के नाम घर खुला छोड़कर चल पड़ीं। पक्की सड़क पकड़ कर गोपीगंज स्टेशन पर आईं। प्रयाग का टिकट कटाया और माघ नहाने चल पड़ीं।

फिर लौट कर महराजिन गांव नहीं गईं। यहाँ उन्हें अधिक शान्ति मिलती है। मेहनत करती हैं, खाती हैं, पड़ी रहती हैं। इसी प्रकार तीस साल से महरा जिन लोगों के बीच में हैं।

तीस साल में महराजिन ने अपनी कमाई के अलावा शादी-व्याह में जो प्राप्ति होती है उसे जोड़-जोड़ एक छोटी मोटी रकम इकट्ठा कर ली है। हर वर्ष हो मुहल्ले में दो-तीन शादियां होती हैं। और प्रत्येक में महराजिन को एक धोती और दस बारह रुपये को आमदनी होती है। इस प्रकार कई दर्जन धोतियां भी इकट्ठी हो गई हैं। पिछले वर्ष महराजिन ने जोड़ा था कि तेरह सौ रुपया हो गया है उसके पास। क्या करेंगी इतना रुपया वह, सोचा दान करदूँ। पर दान नहीं व्याज पर लगा दूँ तो अच्छा है। बन्सीलाल से चुपचाप बात कर के पूरा रुपया उन्हें दे दिया। लाला ने समझाया, आठ आना सैकड़ा व्याज मिलेगा हर महीने तेरह सौ का साढ़े छः रुपया महीना। वर्ष भर में अठत्तर रुपया। केवल बाइस कम सौ। महराजिन ने मन में सोचा, वह बाइस रुपया साल इकट्ठा कर लेंगी, हर साल सौ रुपया बढ़ेगा। न लगाना, न पाना। बात जँच गई। रुपया बढ़ने लगा। एक बर्ष में सचमुच लाला ने कहा, अब तेरह सौ अठत्तर रुपया हो गया। खुश होकर महराजिन ने चौदह सौ पूरा करने का निश्चय किया।

पर जिसका भाग्य ही फूटा होता है, उसका कोई साथी नहीं। अचानक बन्सी लाला चल बसे। महराजिन के रुपयों का जिक्र न कर सके। महराजिन ने सुना तो काठ हो गईं। हाय! अब क्या होगा। किसी तरह सत्रहीं तक चुप

रहीं। सत्रहीं हो जाने पर लाला की विधवा से अपने कार्यों की चर्चा की। लाइन ने समझा महराजिन झाँसा दे रही है। हाथ झाड़ कर खड़ी हो गईं, 'मैं क्या जानू। लाला जी ने तो कभी भी जिक्र नहीं किया।'

सचमुच महराजिन के पास कोई गवाही नहीं थी। रोती-कलपती रह गईं। क्रोध न सहा गया तो कहा, 'बेइमान लाला को सरग में भी ठिकाना न लगेगा। मरते समय सब तो जायदाद सहेजी थी मेहर से इसका जिकर क्यों नहीं किया?'

नानी ने सुना तो अपनी तीव्र बुद्धि की दुहाई देकर बोलीं, 'महराजिन तनिक राय तो ली होती। ऐसे ही रुपया दे दिया। क्या मिला? हमसे पूछतीं तो कोई अच्छे काम का सिलसिला बता देती कि नाम भी होता काम भी होता। पीपल के नीचे ठाकुर द्वारा ही पक्का करा देतीं।'

कहकर नानी तो चुप हो गईं, पर महराजिन के हृदय पर इन रुपयों के खोने का कितना प्रभाव पड़ा, यह कोई नहीं जानता। आजकल वह विक्षिप्त सी रहती हैं। किसी के कहे का ख्याल न करके सबका काम देर से करती हैं, जिससे घर के पुरखिनें श्राप देती हैं, 'मर क्यों नहीं जाती यह महराजिन न मरती न पीछा छोड़ती है।'

सबों को यह समस्या मालूम होती है कि कभी-कभी महराजिन आकर दरवाजे से ही लौट क्यों जाती है? इसके पीछे जो यह कहानी है वह मेरे और नानी के अलावा किसी को नहीं मालूम। बन्सी के हजम किए रुपयों का शोक जब उभड़ता है तो महराजिन इसी प्रकार हो जातीं हैं। बड़बड़ाती हैं, क्या बड़-बड़ाती हैं, कुछ समझ में नहीं आता। वह पहले से अधिक कर्कशा भी हो गई हैं।

एक दिन बंसी लाल के लड़के ने छेड़ा। फिर मत पूछो। जो गालियां देनी शुरू की कि चार पुश्त के पुरखों का नाम गिना ले गईं। मुहल्ले भर के लोग स्तब्ध रह गये। पास से होकर गुजरते हुए रामेश्वर बाबू जो कांग्रेसी हैं, मुस्कुरा कर बोले, 'बिल्कुल महराजिन है लंका की!'

और उसी दिन से जब महराजिन निकलतीं तो लड़के खेल छोड़कर उसके पीछे दौड़ पड़ते-लंका महराजिन! सुनकर महराजिन की चिड़चिड़ाहट सीमा पार कर जाती और वे दो एक ढेले भी चलातीं। लड़कों को वह अच्छा लगता और वे लङ्का महराजिन–लङ्का महराजिन–कहकर मुहल्ला सिर पर उठा लेते हैं।

—००—

श्री तेजबहादुर चौधरी

जन्मकाल रचनाकाल

१६१३ ई० १६४४ ई०

हत्याभरन

वह जब बाँस के ऊपर चढ़ गया तो ज़ोर-ज़ोर से बांस को आगे-पीछे झोटे देने लगा। नीचे एक ओर छोकरा गले में ढोल लटकाये एक छोटी-सी क़मची और दूसरे हाथ की थाप से उसे बुरी तरह से पीटे जा रहा था। नीचे एक मैली फटी-सी चादर, धरती पर—जहां हम सब चलते फिरते हैं, थूक देते हैं, जानवर पाखाना-पेशाब कर देते हैं—बिछा रखी थी; उस पर दो इकन्नियां, तीन अधन्ने, एक दो पैसे पड़े थे।

ऊपरवाला बांस को ज़रा रोककर बोला, 'मेरे बाप ने कहा था!' उसी तरह नीचे ढोल पीटनेवाले ने क़मचीवाला हाथ ऊपर उठाकर ज़ोर से पूछा 'क्या कहा था खिलाड़ी?' फिर तीन बार ढोल पीटकर ऊपरवाले की बात सुनने लगा। और जो चारों तरफ घेरे खड़े तमाशबीन थे, ढोल के थमते ही जैसे चुप होकर सुनने लगे, कि ऊपरवाला बोला, 'तो मेरे बाप ने कहा था······'

'होय!' नीचे वाले ने दो बार तड़-तड़ ढोल पीट कर हुँकारा भरा।

'अकि बांस की कला में मारा जायगा बेटे!' ऊपर से ही वह बांस के सिरे से चिपटा हुआ बोला।

'कैसे?' तड़-तड़ के साथ फिर उसने पूछा।

'ऐसे, कि सब कला करना बेटे।'

'होय' तड़-तड़।

'पर उल्टा होयके, कमर बांस पर टेक के, फिर चारों हाथ पांव छोड़ के चकर-घिन्नी मती करिये······' ज़ोर से ऊपरवाले ने कह दिया।

'कलाबाज़ !' तड़-तड़ ।

'ओय !' ऊपर वाला बोला ।

'तो आज, तड़-तड़, इतने सारे भगवान सेठ साहूकार दाता लोग खड़े हैं' तड़-तड़, 'इनके सामने आज तो वो ही करके दिखा दे' तड़-तड़ ।

'बादी ।'

'होय' तड़-तड़ ।

'गिर गया तो मर जाऊँगा' ऊपरवाले ने वहीं से बात छेड़ी ।

'मर जाय तो मर जाना' तड़-तड़ 'मूजी की जान और दाता की माल पे आय के पड़ती है' तड़-तड़ ।

'मेरे बाप ने तो मना कर दिया हैगा ।'

'करने दे', तड़-तड़, 'और सुन !'

'ओय' ऊपरवाले ने बांस को अपनी टांगों की लपेट में इस तरह ले लिया कि वह नीचे रपट नहीं सकता था । उसकी काली पतली टांगे, चूतड़ों तक खिंच धोती का फेंट, नंगा बदन, एक-एक पसली हर सांस में उभर आती थी । अपने बालों में उसने इस क़दर तेल डाला था कि सारा मुँह उसका ऊपर धूप में आ जाने पर चमक उठता था ।

नीचे भीड़ की निगाह उस ऊपरवाले पर थी । छोटे छोटे बच्चे आगे बैठे हुये थे । एक तरफ को एक सुन्दर आकृति की जवान लड़की बैठी अपनी गोद में एक बच्चे को लिए उसे दूध पिला रही थी; उसके आगे थोड़े से बांस, गूदड़-कपड़ों की गठरी और एक छोटा-सा हुक्का रक्खा था जिससे मालूम होता था कि वह इन्हीं बाजीगरों की ही कोई साथ की थी ।

ऊपरवाले के 'ओय' करने पर नीचेवाले ने कहा, 'जो तूझे डर लगता है तो उतर आ, किसी और को भेजूँ' तड़-तड़ । उसने बात खतम भी नहीं की थी कि वही औरत बड़ी ही साधारण आकृति बनाये हुये ज़ोर से बोली, 'भय्या उतर आ मैं बांस पर चढ़ि जाऊँगी'

सबों की आंखें उस पर जाकर ठहर गयीं कि नीचेवाला बोला,

'जो तूभी मर गई तो', तड़-तड़-तड़ातड़,तड़-तड़-तड़ातड़-तड़-तड़-तड़ातड़, कहकर उसने फिर कहा, 'तेरी गोद के बच्चे को कौन पालेगा ?'

'ये इत्ते सारे दाता भगवान लोग जो खड़े हैं' वह बोली।

अब ऊपरवाले ने जवाब दिया और बांस को हिलाने लगा, 'अच्छा तो फिर ले भाई आज बाप का भी कहा दूर करा, और तेरा कहा करूँगा।'

तड़-तड़।

'मर गया तो दुनिया सूनी थोड़ेई हो जायगी ? यह पेट का गड्ढा रोज-रोज पाटना तो नी पड़ेगा।'

'तेरी मरजी—होजा खिलाड़ी तैआर !'

लड़के ने बांस के सिरे पर अपने आप को बैठा लिया और झोटे लेने लगा; लोग उसे देख रहे थे कि कब यह उल्टा होकर बीस हाथ ऊँचे खड़े बाँस परके सिरे पर चक्कर लेगा; उल्टा, हाथ पांव छोड़कर। इधर नीचेवाले ने अपनी ढोलक पर दोहा शुरू कर दिया, और उधर ऊपरवाले ने बांस अपने पांव में फँसे रहने दिया और एक हाथ छोड़ दिया, बाँस लचकइयाँ ले रहा था। इधर-उधर, इधर-उधर।

'ऐसे नहीं बदी' तड़-तड़।

'फिर ?'

'दोनों हाथ छोड़ दे ! पाँव फँसे रहने दे' तड़-तड़।

'गिर जाऊँगा'

'गिर जाने दे' तड़-तड़ातड़, तड़-तड़ातड़।

ऊपर वाले ने दोनों हाथ छोड़ दिये, उसके पाँव उलझे रह गये और बांस बराबर झूम रहा था।

कि नीचेवाला बोला, 'खिलाड़ी !'

'ओय !'

'ऐसे नहीं मानी !'

'फिर ?'

'वही, कि दोनों पाँव छोड़ दे और दोनों हाथ छोड़ दे'

अबकी तड़-तड़ नहीं हुई। उसने बैठी युवती को आंख का इशारा किया।

ऊपरवाला उलटा होकर उस बाँस की नोक अपनी कमर से बँधे फेंट पर जमाने लगा। जब वह अपनी कमर जमा चुका तो उसने बाँस तो पकड़े रखा और दोनों पाँव हवा में फैला दिये। सूखी-सी काली दो टांगें फैलवां लटककर रह गयीं।

कि नीचे से वह बोला 'कलाबाज !'

'ओय !' जैसे बोलने में कमर का तनाव बाधा डाल गया हो।

'हाथ भी छोड़ दे' तड़-तड़।

'फिर' फिर बोलने में जोर।

'चक्कर काट !' तड़-तड़, तड़-तड़, तड़-तड़।

ऊपरवाला बाँस की नोक पर अपना संतुलन करके बाँस को दोनों हाथों से पकड़ कर मरोड़-मरोड़कर अपने आप को उसकी नोक पर घुमाने लगा।

एक चक्कर—

दो चक्कर—

तीन-चार-पांच। उसने दोनों हाथ भी छोड़ दिये। इंसान का बच्चा बीस हाथ ऊपर, कम्बख्त पेट के लिए नाच उठा, हजारों आंखें उसे देख रहीं थीं, नीचे ढोल कहरवा की धुन उड़ाये जा रहा था।

दोनों पतले-पतले हाथ—एक इधर फैला, एक उधर खाली—पतली-सी रीढ़ पर लगी एक गद्दी पर बाँस की नोक और आगे उस अभागे के दोनों पांव हवा में लटके हुए। वह सब का सब चक्कर काटकर रुक गया। मैं भी उसे देख रहा था कि देखो यह पेट के लिये जान पर खेलकर चार पैसे मांग लेता है, तभी किसी ने मुझसे कहा 'बाबूजी'

देखा, सामने वही हसीन औरत अपने कूल्हे पर उस छोटे-से बच्चे को जो रह-रहकर अपनी भौं-हीन आंखों को चारों ओर चला देता था लिये खड़ी है, दूसरे हाथ का एक पीतल का कटोरा उसने मेरे आगे फैला दिया। उसकी सूरत से, उसकी आंखो से लगता था कि उसे इस प्रकार मांगने की आदत पड़ गई है और वह यह भी जानती थी कि मेरी तरह और लोग भी उसके चेहरे की तरफ

इस तरह ललचाई आंखों से क्यों देखने लगते हैं।

एक इकन्नी निकाल कर मैंने उसके कटोरे में डाल दी। वह आगे बढ़ गई। वह इसी भाव से हरेक के आगे कटोरा बढ़ा देती, और कुछ न कुछ मिल जाने पर वह आगे बढ़ जाती, कोई-कोई वैसे ही गर्दन हिलाकर मना करके रह जाते।

लोगों ने देखा पैसे मांगे जा रहे हैं, खिसकने लगे। आधी भीड़ सटक चुकी थी। मैं बराबर उस मांगनेवाले की तरफ और खिसकती भीड़ को देखने में था। खबर न हुई कि कब ढोल बजना बन्द हो गया और कब वह ऊपरवाला खिलाड़ी नीचे उतर आया था।

भीड़ काफी छँट चुकी थी। वह ऊपरवाला जाकर अपने सामानों के पास सुस्त होकर बैठ गया, जैसे थक गया हो, और उसी तरह अपनी फटी कमीज को पहनने लगा। कमीज़ की एक बांह फट चुकी थी, कंधों के पास दो बड़े-बड़े छेद-से हो गये थे, मैली-सी वह बड़ी कमीज उसने अपने बदन पर डाल ली और ऊपर से एक और मैली चादर लपेटकर लेट-सा गया।

मुझसे नहीं रहा गया, चाहा कि उस स्त्री के बारे मे उनसे पूछूँ। न जाने क्यों आंखें बराबर उस मांगनेवाली की तरफ से नहीं हटती थीं। कि मैं चला और बढ़ता-बढ़ता उन दोनों लौंडों के पास जा पहुँचा। थोड़ी देर खड़ा रहकर मैंने पूछा, 'क्या बात हो गयी?'

'इसे बुखार है' वह दूसरा ढोलवाला बोला।

'कब से?' पूछकर मैंने उसकी तरफ़ देखा। हैरान था कि यह बुखार में भी ऊपर सूली पर चढ़ा-नाच आया। उसने पानी माँगा।

पानी देते हुए उसके भाई ने कहा, 'अजी होगये कोई एकअट्ठा (आठ दिन)।'

'कुछ इलाज किया नहीं?'

'अब इलाज नहीं किया होगा? जो पैसे आते हैं, वे सब इसके ऊपर ही तो लगा देते हैंगे, कुछ पेट में डाल लें हैं।'

उसने पानी पीकर मेरी तरफ देखा, ऊपर चढ़ा हुआ ऐसा लगता था जैसे इसे कुछ नहीं हुआ हो पर अब तो उसकी आंखें बुखार से सूजी हुई थीं और हर सांस में उसके नथुने जैसे फूल-फूल उठते थे। नहीं लगता था कि ऊपर चढ़ा

हुआ यही खिलाड़ी छोकरा 'ओय' और कहता था कि 'मर जाऊँगा'। यह वही था जिसने बुखार में बाँस पर चढ़े-चढ़े कहा था, 'मेरे बाप ने कहा था कि बाँस की कला में मारा जायगा'...और यह कि 'मेरे मरने से कोई दुनिया थोड़े ही सूनी हो जायेगी और ये पेट का गड्डा...... ।'

दाता लोगों ने देखा, सूम लोगों ने भी देखा। कुछ ऐसे थे जो एकटक उस औरत की तरफ घूरे जा रहे थे।

भीड़ क़रीब-क़रीब दूर हो चुकी थी, वह औरत उस फूटे कटोरे को उसी तरह हाथ में लिये उस बच्चे के हाथ में एक लकड़ी का झुनझुना थमाये वहां आ गयी। मैं उसकी तरफ देख रहा था और वह एक बार उड़ती निगाह से मुझे देखकर फिर उस बीमार लड़के की तरफ देखने लगी जो अपनी फटी-सी चादर लपेटे गठरी-सी मारे पड़ा अपने पपड़ियाते ओठों पर तरी लाने के लिए रह रहकर अपनी जीभ फेर लेता था। नीचे के फूटे होंठ की खाल के एक टुकड़े को उसने होंठ चलाकर अपने अगले दांतों से कुतर लिया और बोला 'कित्ते हैं री ?' उसका मतलब पैसों से था और फिर जैसा पहले था वैसा ही हो गया। मेरी उपस्थिति उन दोनों को तो नहीं मगर उस औरत को ज़रूर अखर रही थी जिसे मैं उसकी माथे पर कभी-कभी पड़ जानेवाली बलों से ताड़ गया, क्योंकि जब भी वह मेरी तरफ देखकर पुनः इधर-उधर योंही देखती जैसे कुछ खो गया हो, उसको मिलता ही नहीं, कुछ परेशान-सी हो और अनायास ही माथे पर सिलवटें आ जातीं, जो फिर तभी मिट भी जातीं।

लड़के के पूछने पर दूसरा उस कटोरे के पैसों को अपने कुर्ते के पल्ले में उँडेल कर गिनने लगा। इधर उस औरत ने अपने कला करने के बिखरे टंडीरे को संगवाना शुरू किया। बच्चा उसने वहीं धूल मे बिठा दिया, जो कि बैठते ही फिर अपनी मां की गोद में जाने के लिए रो पड़ा, मगर उसने उसी तरह तेवर चढ़ाये-चढ़ाये उसे रोने ही दिया और उसे चुप करने नहीं आयी; उसकी आंखों से एक प्रकार का दुःख, साथ में माथे पर वे ही बल थे। जैसे वह परेशान-सी हो गयी हो इस तरह के जीने से, मगर सुन्दर उसकी काया सब कुछ करने से मान नहीं रही हो।

बीमार ने बच्चे को अपनी तरफ खींच लिया और चुप करने के लिए उसके सर पर जल्दी-जल्दी चार-छः बार अपनी उंगलियां चला डालीं, बच्चा चुप हो गया था मगर आंखें तो अपनो मां की तरफ लगी हुई थीं, जब वह बांस उखाड़ कर लौटी तो बच्चा उसे आता देखकर चुप हो गया, मगर वह उसे रख फिर रस्सी लेने चली तो बच्चा सहसा फिर रो उठा। जाती बार मैंने देखा उसके वे ही तेवर बराबर चढ़े हुए थे।

जी में तो आया कि उसके बच्चे को गोद में ले लूँ और चुप करने को कोशिश करूँ इसलिए नहीं कि उसका मां की भृकुटियां खुल जायेंगी बल्कि अपने लिए उसके हृदय में एक विचित्र सहानुभूति उत्पन्न करने के लिए मैंने ऐसा चाहा, न जाने क्यों मैं ऐसा बहुत देर तक न कर सका। आखिर साहस करके मैंने अपने दोनों हाथ बढ़ाये कि बच्चे को ले लूँ और मुँह से भी कहा, 'आओ लल्लू' कि उस ढोलकवाले ने मुझे टोक दिया, 'अजी आप क्यों......तकलीफ, वह आ गई उसकी मां बस...'

मैंने हाथ फिर खींच लिया। पैसे गिने जा चुके—चौदह आने थे सिर्फ।

रस्सी लिये हुए उसने आते ही पूछा, 'कित्ते हैंगे?' अवाज में औरतों का-सा एक बारीक रसीला दोहरा स्वर था जो उसके परेशान चेहरे से निकलकर फिर हवा में बहुत देर तक मेरा ध्यान खेंचे रहा।

'चौदह आने—क्या होगा इनसे?' ढोलकवाले ने कहकर सामने पड़ी एक खाली सिगरेट की डिबिया उठा ली जो न जाने कितनी बार पांवों तले आ-आकर रौंदी-रौंदी-सी, मैली-मैली-सी हो गयी थी। चिंतामग्न होकर उसने उसे हाथ में लेकर दूसरे हाथ के अँगूठे से तर्जनी उँगली की चोट छोड़ते हुए तीन-चार बार झटकार डाला, डिबिया पासिंग-शो की थी, धूल झड़ने से हँसते हुए ऊँचे टेपीवाला साहब का एक आंख में चश्मा लगाये सिगरेट पीता मुसकराता हुआ चेहरा चमक उठा। औरत ने बच्चे को फिर गोद में लेते हुए कहा, 'तो अब?' और मेरी तरफ बल डाले हुए बोली, 'तुम्हारा घर किहां है जी?'

'यहां ही है, इसे बीमार देखकर आ बैठा' कुछ देर रुककर मैं उससे पूछ ही बैठा 'ये तेरे कौन हैं?'

कि ढोलकवाला बोल पड़ा, 'अजी ये हमारी बहन है, औ' ये मेरा छोटा भाई हैगा' सिगरेट की डिबिया को उसने एक-दो बार और चटकारा और उसके अंदर का कागज़ उसने निकाल लिया।

'क्या देखो हो बाबूजी ? हम लोग पिरेसान हो गया। आउर ये लरिका आज आठ दिन से बीमार है मुँख नहीं उठारा है, येही कमाता था,' फिर दोनो मुट्ठियाँ तानकर तनकर बोली, 'ऐसी इसकी काया थी, अब तो आधा चौथियाई बी तो नहीं रहि गिया।' आवाज़ में वही दोहरा स्वर था जैसे एक साथ दो कोयलें बोल रही हैं। उसके भरे हुए हाथों पर तमाम गोदना गुदा हुआ था, गले में हँसली, हाथ में चांदी के पतले कड़े—

'तो ये कला नहीं करता ?' मेरा मतलब उस ढोल बजानेवाले से था।

'नहीं यही तो रासा * है। इसकी कमर एक बार गिरकर टूटि चुकी है तभी से कमरि अउर एक टंगडिया बेकार हुई गई, ना कूद सिकता है न बांस पर पढ़ सिकता...' बच्चा मेरी तरफ देखकर हँसा, फिर अपनी मां के सफेद चांदी के कड़ों को पकड़ने उन पर झुक गया। मां ने अपना हाथ उठाकर उसके हाथों में दे दिया, वह जान गई थी कि ये कड़े लेना चाहता है।

अब ढोलवाले ने कहा 'तो एक खेल और कल्लें (कर लें) कहीं चलके ?' कहकर उसने बीमार की तरफ देखा जो खेल का नाम सुनते ही सचेत हो गया और उनकी तरफ देखने लगा, बहन ने भी ऊसकी तरफ देखा। बीमार की सूजी आंखों में एक बार मजबूरी और लाचारी नाच उठी। बेबसी से उसने अपने सूखे होंठों पर एक बार जिह्वा फेरी और निचले होंठ को सहज ही में दांतों के बीच थोड़ी देर के लिये दबाये रहा। जैसे वह एक मुर्दा हो जाने वाला है और उसकी रूह अब ऊसके बुखार से भुनते जिस्म में से निकल जाना चाहती हो मगर उसने होठ दांतों में दबाकर उसे निकलने से रोक रक्खा हो मगर फिर भी वही मुर्दा बांस पर चढ़ने के लिये तैयार हो सकता है और इस जोर से चढ़ा-चढ़ा नीचे वाले से सवाल जवाब कर सकता है कि लगेगा कि उसे कुछ हुआ

---

* कमी

ही नहीं और फिर चौदह आने नहीं तो चौदह पैसे तो कमा ही लेगा, बला से उसका जिस्म और मुरदार और बलहीन हो जाय। आखिर पेट का सवाल है, ज़माना भूखों मर रहा है, कीमतें ऊँची चढ़ गयी हैं यह भी ऊँचा चढ़कर दामों को तोड़ता है, साथ में दो और खानेवाले हैं, दवादारू है, परहेज को दूध चीनी चाहिये, और भी बातें हैं...

सामने एक बांस पर बीसियों रंग-बिरंगे फूले गुब्बारे बांधे एक गुब्बारेवाला आता दिखायी दिया। एक गुब्बारे को उसने पीपनी में लगा लिया था, और उसे बजाता हुआ चल रहा था। जब वह गुब्बारा फुलाकर बजने छोड़ता तो बजने का एक लंबा स्वर, बहुत देर तक बजता रहता जो एक सांस में खतम न होकर कई दम घुटती सांसें लेने तक बजता रहता। बच्चा उस तरफ देखने लगा। मां ने चाहा कि एक गुब्बारा बच्चे को ले दे, मगर इतने पैसे न थे, दूसरे पैसों पर कुछ अधिकार भी नहीं था, उसने बच्चे की तरफ देखा जो एकटक रंग बिरंगे गुब्बारों की तरफ से आंख नहीं हटाता था, और फिर मुसीबत यह कि उधर पिपिहरी जो बार-बार बज उठती थी। बच्चे का मचलना दोनों भाइयों ने देखा कि बीमार ने उस गुब्बारे वाले को बुलाया, 'ओ गुब्बारे!'

गुब्बारेवाले ने उसे देखा, उनका कला करने का सामान और उस औरत को जो वास्तव में सुन्दर थी; अंत में मुझे। आते ही उसने औरत की तरफ देखते हुए कहा, 'क्या हुकुम?' और इतनी बुरी तरह बेहूदगी से मुस्कराया कि मुझे क्रोध आ गया। लड़की ने माथे पर बल डालकर उसकी तरफ से मुँह फेर लिया। बच्चा अब और भी ज्यादा हाथ पांव फेक रहा था।

'कैसे कैसे दिया गुब्बारा?' बीमार ने पूछा।

'दो पैसे, तीन पैसे, और ये बजता चार पैसे,

इतने दाम सुनकर तीनों के मुँह लटककर रह गये, गोया दाम अत्यधिक हैं। ढोलवाला बोला,—'तो ठीक ठीक बताओ।'

'इससे कम नहीं भय्या, गेहूँ भी तो एक सेर का आरिया हैगा ये तो सोच लो, और उसने मचलते बच्चे की तरफ देखा। मां ने उसे बहलाने को अपनी दूसरी गोदी में लेकर ढोलवाले से वह सिगरेट की खाली डबिया लेकर उसे देनी

चाही मगर बच्चे ने उसे एक तरफ फेंक दिया और घूमकर बांस में हिलते गुब्बारों की तरफ टिकटिकी लगाये देखने लगा।

'भई बच्चा है, एक पैसे में दे दो' गिड़गिड़ाते हुए ढोलवाले ने कहा।

'एक पैसे में तो कोई फूँक भी नही भरेगा' और फिर औरत की तरफ देखकर उसने पूछा, 'ये तुम्हारी कौन है? लुगाई?'

औरत मन में तिलमिला उठी। दोनों भाइयों को क्रोध-सा आ गया और उसी क्षण क्रोध को दबाता हुआ वह बोला'हमारी बहन हैगी'

'अरे भय्या मुझे...भई देखो खियाल मती करना......'वह फिर मुस्कराया मगर अबकी मुस्कराहट में झेंप और मूर्खता थी। उसने अपनी गलती के बदले छोटा-सा गुब्बारा बच्चे को देना चाहा कि लड़की बोली, नहीं-नहीं ......'मगर ऊसने बच्चे के हाथ में आखिर वह थमा ही दिया। अब मैंने उससे कहा, 'जरा सोच समझ के बात करा करो, जब भी पूछो किसी से तो यह कि ये तुम्हारी कौन है? बहन है...लुगाई नहीं पूछा करते, समझे?'

'भाई गलती हो जाती है.......'

तीनों का क्रोध शांत हो चला था। एक पैसा लेकर गुब्बारे वाला चलने को हुआ, उसने चलते-चलते बात पाक-साफ करने के ख्याल से पूछा, 'अभी तमाशा नहीं करा, दीखे?' जैसे उसे बड़ी हमदर्दी हो।

'कर चुके, अब चल रहे हैं......'

'अच्छा?' कहकर वह चल दिया।

चलते समय उसकी आंखें फिर उस औरत पर पड़ीं मगर उनमें अबकी बार वह प्यास और बेशर्माई नहीं थी। उसे वहां से जाना भारी हो गया। बच्चा उसके दिये हुए गुब्बारे को अपने पेट में दे लेने को दोनों हाथों से पकड़कर अपने नन्हें से मुँहमें ठूँसे लेता था। 'तो फिर चल भैना' (बहना),ढोलवालेने बहन से कहा।

'तो अब कहीं और तमाशा करोगे? क्यों जी?' मैंने पूछा तो था उस ढोल वाले से, पर बोल उठा वह बीमार 'इनकी मरजी है जी, मेरी ये काया है; सुसरी की खाल तारके (उतार के) बेच लो तब भी पूर नहीं पटेगी' फिर खीज के बोला, 'तो चल कहां लेके चले है मोय?'

दोनों उसके रौब में रहा करते थे, एक कमानेवाला वो ही जो था, दोनों उसकी तरफ देखने लगे। वह ढोलवाला बोला, 'अरे यार नराज भला क्यों होए हैगा? नहीं जो करता तो रहने दे, चल कहीं पड़ रहेंगे, तेरी दवादारू की फिकर करें, और कहता हुआ वह खड़ा हो गया। जब वह पास पड़ा सामान उठाने बढ़ा तब मैंने देखा कि वह वास्तव में लँगड़ा और कमर का कच्चा है। क्योंकि चलते समय एक पांव पर उसे हर कदम पर अपना सारा धड़ झुकाकर चलना पड़ता था, साथ में एक हाथ अपनी जांघों पर सहारे के लिए लगा लेता। उसके चेहरे के नखशिख अच्छे थे, पर उस लँगड़हाट ने उसे तो भद्दा बना दिया था। वह लड़की ठीक कहती थी कि उसकी कमर का बांस और टांग टूट चुकी है। इसके बस की नहीं है कला करनी।

लड़की ने तीनों बांस और उसी में रस्सों की गुच्छी डालकर अपने कँधे पर रख लिए। लँगड़े ने सारे गूदड़ गादड़ की गठरी अपनी बांह में पिरोकर कंधे पर ले लिया, और उसी हाथ में वह हुक्का भी। और बीमार ने उस बच्चे को अपने कंधे से लगा लिया और चल दिया। वह लाल रंग का गुब्बारा, जिसमें केवल हवा ही हवा थी और कुछ नहीं, उस बच्चे के हाथ में अब भी था और उस चलते बीमार की कमर पर उसके मुँह के समीप ऐसा जिसे वह देखता रहता, पीछे से गुब्बारा सा दिखायी देता था।

मुझे दोनों ने सलाम किया और चल दिये।

अगलावाला बीमार कांधे पर बच्चे को डाले हौले हौले सरक रहा था। बच्चे के साथ वह गुब्बारा भी उसके कंधे पर लदा-सा था! काफी दूर चले जाने पर भी वह लाल गुब्बारे का रंग कभी-कभी एक लाल धब्बे की तरह दिखाई दे जाता!

और वह लंगड़ा चलता तो कंधे पर ली हुई गठरी हर कदम पर एक झोंका खाती और दूसरा हाथ फिर भी जांघों पर उसके सहारे चलता था।

सबसे पीछे जाती लड़की ने एक बार मेरी ओर देखा। उसके माथे में अब भी थोड़े से बल थे। भौएँ आंखों पर खिंच आई थीं, लगता था जैसे इन सब परेशानियों का बोझ ढोना ही पड़ेगा। वह जो बीमार था, बीमार न पड़ता तो

अच्छा था। मेरी उपस्थिति से उसे अब घृणा नहीं थी, एक अंदरुनी खीझ और उलझन थी जो उसके माथे पर सिलवट डाले हुए थी।

मेरा दिल उदास था, आंखों में वह प्यास नहीं थी। मैं भी घर लौट रहा था, आंखों में एक अजीब नक्शा था। सामने एक रिक्सावाला अभी अभी आकर रुका था। एक मोटे-से लालाजी उसके पैसे चुकते करके चले गये। वह अब भी हांफ रहा था; नीकर और फटी कमीज़ पहने, मुझसे बोला 'कहां चलना बाबूजी ?'

मैंने उसकी तरफ देखा, और देखता रह गया कि क्या हाल है इसका ? जवान लड़का। हाफ रहा है और फिर भी चलने को तैयार। पूछ रहा है 'कहां चलना बाबू जी ?'

जीवन सुस्ताने नहीं देता; नहीं चाहता कि आदमी के जिस्म को आराम दिया जाय। उसके दिमाग को एक परेशानी के चारों तरफ निरंतर मँडराये जाने के लिये मजबूर किये रहता है; और फिर उस काया को उन्हीं झँझटों का आदी-सा बन जाना पड़ता है!

उसके आगे रिक्शा खड़ा था; तीन पहियों की गाड़ी। आगे की गद्दी पर बैठकर, जब चढ़ाई का राह पर मुट्ठियां में हैंडिल पकड़े गद्दी से उठ उठकर पंजो से पैडिल को घुमाने में जोर लगाते समय उसका दम फूलता है तब उस प्रत्येक श्वास और सहसा उठ खड़ी होने वाले हृदय-स्पदन के बीच कुछ पैसों की आस ही उसकी कमर ठोककर कहती है कि—हां जरा डट के!

और वह 'है अः।'

पैडिल घूमा।

'हे अः।'

दूसरे पांव से पैडिल घुमाया। आस कहती है, 'श...ब्बाश पट्ठे!'

रिक्शा धीरे-धीरे सड़क की चढ़ाई पर बढ़ता है। उसमें बैठे महाशय लोगों के मन कहते हैं, 'कितना अच्छा लगता है।'

फिर कोई जवाब सा देता है 'आराम, और फिर सस्ता कितना है ?'

उधर कलेजा धकर धकर करके वह खींचता हुआ रोने को हो जाता है, मगर फिर उसे पेट का ख्याल होकर ध्यान आता है कि वह रास्ते का मजदूर है, और

पैसों की याद सामने मुस्कुरा कर उससे कहती है, बस मार लिया, जरा और; तीन आने। और फिर वही जाँ पेली।'

वह बोला, 'कहाँ चलना है?'

'कहीं नहीं', मैंने कहा और वह टहलने लगा। मैं आगे बढ़ गया।

ऐसा लगा—कहीं एक बाँस है। एक बीमार उसकी नोक पर अपनी कमर अटकाये मुर्दे की तरह हाथ पांव फैलाये हौले-हौले नाच रहा है, नीचे लँगड़ा ढोल पीटे जा रहा है। वहाँ एक हसीन छोकरी हाथ में फूटा कटोरा लिए हरेक के आगे फैलाये-फैलाये फिर रही है, माथे पर लाखों परेशानियों की सिलवट डाले। उसको मालूम है कि एक भाई को इसी बाँस ने अपाहिज और नाकारा बना दिया, दूसरा बीमारी की हालत में रोज उस सूली पर उतरता-चढ़ता है और कह उठता है, मेरे बाप ने कहा था।

तड़-तड़ के बाद फिर कहता है,

'बाँस की कला में मारा जायगा बेटे।'

फिर तड़-तड़ होती है।

'मैं मारा जाऊँगा।'

तड़-तड़ फिर होती है।

'मेरे मरने से दुनियां सूनी थोड़े ही हो जायगी और ये पेट का गड्ढा रोज-रोज तो पाटने को नहीं रहेगा।'

न जाने कब वह नीचे उतर आता है। पहले ज्यादा निढाल, उदास और कमजोर। मैं चला जा रहा था, विचार बराबर आये जा रहे थे?—बाजार के एक भाग में सड़क से हटकर खुली सी जगह में सैकड़ों आदमियों की आंखों के आगे अपनी बेबसी और भूख का नंगा नाच दिखाकर वे चल देते हैं। बीमार लंगड़े अपाहिज—हसीन मगर दुखी दर्द भरी आंखों से देखती हुई माथे पर परेशानियों की लकीरें डाले उस सुन्दर सी काया को ये यातनाएँ भोगनी हैं। दुनिया उसे देखकर प्यास से पागल हो, फिर शर्म से गर्दन नीची कर लेती है, उस दुखी दरिद्र झंझटों में फँसी सुन्दर रमणी के रूप पान करने...

इसी हत्याभरन में एक बच्चा पल रहा है। क्या उसे भी बड़ा होकर यही

सूली चढ़नी होगी ? आज वह भी हीन आंखों से चारों ओर देखता है, रो उठता, गुब्बारा पाकर चुप हो जाता है।

इस बात को कई दिन बीत गये। मैं बाजार से लौट रहा था, झोले में सामान बहुत था। सबसे ऊपर दर्जन भर केलों से और भी भारी हो गया। दूसरे एक अंगीठी, चिमटा, थोड़ा कपड़ा और ले लिया था। मैं चाहता था एक रिक्शा कर लूँ और आराम से घर पहूँच जाऊँ। अतः सामान को वहां धरती पर रखकर मैं सुस्ताने खड़ा हो गया' उँगलियां झोला लटकाये-लटकाये लाल-नीली पड़ गयीं थीं! कंधे में खिंचाव के-सा दर्द भी। बाजार से एलेनगंज दूर था। मेरे बस का इतना सामान ले जाना था नहीं।

सामने बाजार की चहल पहल, शरणार्थियों की फुटपाथ से लगी कपड़े बिसाती इत्यादि की दुकानें। उनका वही लापरवाह पहरावा, धूप में बैठे हैं, गाहक आता और चला जाता है! कभी-कभी आपस में पंजाबी में जल्दी-जल्दी न जाने क्या कह कर खामोश हो जाते हैं। लोग आ रहे हैं, जा रहे हैं, आदमी चल रहा है, उनका आना जाना खतम नहीं होता, सबों के दिमाग में कोई न कोई सौदा। मैंने दूर तक निगाह दौड़ायी—वहीं रिक्शा नहीं था। बड़ी परेशानी में था कि दुपहर हुई जा रही थी।

तभी एक औरत ने मुझसे फौरन कहना शुरू कर दिया, 'बाबूजी एक पैसा—ये लरिका' यानी उसकी गोद में जो था और मेरी तरफ एक टक देखे जा रहा था, 'भूखा है, इसका बाप मरि गिया। परमात्मा तुम्हारी राजगद्दी बनाये रक्खे। एक पैसा......'वह कहती रही, मेरी उसकी आंखें मिल रहीं थीं। कानों को उसके दोहरे स्वरों का रसीलापन भाने लगा। रूप पहले से कम था ज्यादा नहीं। उसके याचना के शब्द कानों में पड़ जरूर रहे थे मगर मेरा ध्यान अन्यत्र था, सुना अनसुना हो रहा था जैसे कोई किसी मूर्ति के कोड़े जमाता है और उस मूर्ति की भाव आकृति ज्यों की त्यों गुमसुम बनी रहती है। मेरी भी वही दशा थी! मैंने उसके रुप की परिधि में देखा, एक बेहयाई आ गई है—ये माथे के बल सहस्त्रबाहु से मेरे आगे आज याचना कर रहें हैं, कि मैंने पूछा, 'तेरा भाई अब कैसा है ? यानी वह बीमार जो था ?'

वह चुप रही, कोई फंदा कलेजे को लिये हुए हौलदिली के साथ गले में अटकने लगा। आंखों की पलकें तीन-चार बार जल्दी-जल्दी खुल-मुंदकर रह गयीं, माथे पर हलके बल पड़े और मिट गये। होठों की फड़फड़ाहट से वह बोलने का प्रयत्न करने लगी पर बोल न सकी।

तभी एक खाली रिक्शा सामने से गुज़रा, जी में आया भी कि उसे रोक लूं, मगर सामने एक घायल चिड़िया जो तड़प रही थी आंख मिलते ही रिक्शेवाले ने पूछा, 'रिक्शा बाबू ?' मैं मुंह से न बोला, केवल हाथ हिलाकर उसे मना कर दिया, और वह उसी गति से आगे बढ़ा चला गया।

आखिर वह सँभलकर बोली, 'वो तो...मरि...गिया...' आगे न बोलकर वह फफकने लगी। बच्चा जो उसे देख रहा था अपने होठों को बिचकाने लगा, निचला होंठ आगे निकालकर वह भी रोने को हुआ कि मैंने कहा, देख ये भी रोने लगा, वो तो मर गया, अब रोने से...'

नाक सुड़कती हुई उसने एक बार 'आह री' कहा और चुप हो गयी। अपने गंदे आँचल से नाक-आंख पोंछकर उसने मेरी तरफ देखकर कहा, 'अब गंगाजी को छोड़ हमारा कोई नई रिआ' फिर कुछ कहने को हुई कि मैंने पूछा, 'और वो लंगड़ा ?'

'वह हरमज़ादा !...' कहकर उसने दांत पीस लिये। और भींगी जुड़ी-जुड़ी पलकों से मेरी तरफ देखा।

रोने से आंखें गुलाबी हो गयी थीं जिससे रूप सवाया भला लगता था।

बोली, 'न करे ना धरे, जिद्दिन से उसका भय्या मरा उद्दिन से मेरा पल्ला नहीं छोड़ता, कहता है खसम कल्ले या भींख मांग। उसे कोई दमडिउ दिवाल नाहीं ना, आउर कहिता है अकि पैसा कर..'

बिजली की लहराती गति से उसकी आंखों की भौंएं तन गयीं। माथा सलवटों से भर गया। जैसे हांफी और बलों को ढील छोड़ती हुई बोली, 'मइ बोली गलफड़े धई के चीर दोगी उंगरिया डारिके जो ऐसी भाषा बोला...तभी से लुच्चा...'

मैंने उसकी बातें सुनी और उसका रूप देखा। एक चमकदार सांपन की

की तरह। वह फिर भी औरत थी और उससे कुछ भी कहना बेकार था, बोली, 'तुमने तो उद्दिन तमासा देखा रहा उसका बास—उसि के बाद फिन कभी नहीं बांस पे चढ़ा। दो रात-दिन रकत की उछार आऊ मलगम उसके मुंह से आई जुर, पसुरियन में दरद, मुंई के राह रकत, वह बाबू बिहोसी में दम तोड़ दिया, ऐहि बच्चा को हरदम अपने करेजे से लगावता था' कहकर उसने बच्चे की तरफ देखकर उसकी नाक और आंखों को अपनी धोती के छोर से पोंछ डाला और बोली, अब ये बोसे कि मामा-मामा गोहरावे? और तभी उँगलियाँ-सी नचाकर बच्चे से बोली, 'तेरा कुन्नू मामा मरि गिआ ऐ रे?' बच्चा उसके नाचते हाथों को देखकर फिर उसके मुंह की तरफ ताकने लगा। वह पहले से भी दुबला, पीला-पीला सा और उतना चंचल नहीं रहा था।

और उसे देखते हुए मैंने कहा, 'तो अब क्या करती हो तुम।' कहते हुए एक भूख-सी न जाने क्यों उसे देखकर आंखों में उतर आयी।

मेरी आंखों में जो ढील थी उसे उसने ताड़ा, उसकी आंखें नीची हो गयीं और शरमाकर बोली 'भीख'—और वही फूटा कटोरा उसने मुझे दिखा दिया। खाली और एक तरफ से जिसके किनारे टूटे हुए थे। 'अब सिवाए इसके अउर क्या धंधा है?' कहकर वह फिर अपने आंचल से अपनी आंखों और कपालों को ठीक करने लगी। उसने मेरे झोले में रखी केले की फलियों को इस बीच कई बार देखा था, अब फिर उन पर निगाह डाली और फिर अंगीठी चिमटे की तरफ देखा, मगर कुछ मांग न सकी। मैंने न जाने क्यों दो केले की फलियां उस दर्जन में से तोड़ लीं और उसे देने को हुआ मगर रुक गया। सोचा, लोग क्या कहेंगे? एकदम दो फली। पर साहस करके वे दोनों फलियां मैंने उसके बच्चे की तरफ बढ़ा दीं। उसने उन्हें ले लिया, और तभी एक उसने छीलकर आधी बच्चे के नन्हें-नन्हें हाथों में थमा दी और बाकी डेढ़ उसी फूटे कटोरे में ले लीं। मैंने उससे कहा भी कि, 'इस आधी को तू खा ले फिजूल इस पर मक्खियां भिनकेंगी।' मगर उसने शर्मा कर नीची आंखें कर लीं और धीरे से कहा, 'कोई देखेगा...मैं फिन...'

बच्चे ने बुरी तरह उस केले के गूदे का अपनी मुट्ठी में मलीदा-सा बना

दिया था और खा बेचारा थोड़ा ही पाया था, कुछ टूटकर नीचे गिर गया जिसे उसकी माँ ने तभी उठाकर फिर उसके हाथ में देना चाहा—धूल में सना हुआ केले का गूदा—मैंने मना किया, 'हैं! हैं! खराब हो गया, यह मत खिला इसे।'

'सब ठीक है' कहकर उसने वह टुकड़ा उसके मुँह में ठूँस ही दिया जैसे उसके लिए कोई बात ही न हो।

मुझे उसके साथ बड़ी देर तक बातें करते देख कुछ दुकानदार, कुछ राह चलते घूरने लगे थे, दो-तीन मेरे उसके आस-पास खड़े होकर बातें सुनने लगे। उन्होंने देखा कि मैंने उसे दो केले दिये थे।

यह जरा बुरी-सी बात हो गई थी, मैंने अब वहाँ उससे अधिक बातें करनी ठीक न समझा, अतः फिर उसी झोले-अँगीठी-चिमटे को दोनों हाथों में लटका लिया और चलने को हुआ।

'चल पड़े बाबूजी' कहकर उसने मेरी तरफ बड़ी करुण दृष्टि से देखा और कुछ कहने को हुई जिसे वह कह न सकी। बात कहने के लिए जो सांस उसने खींची थी वह उसने आहिस्ता से फिर अपने सीने से बाहर निकाल दी।

'क्या कहती है?' मैंने रुककर उससे पूछा।

'कुछ नहीं' (मगर वह कुछ कहना जरूर चाहती थी), निराश होकर उसने कहा। 'कुछ तो कह।' चलने को दूसरा कदम मैं आगे रख चुका था, झुँझला कर मैंने पूछा।

'कुछ पैसे......आज सकोरे से कुल दुई आने मिले हैं' और उसने अपनी कमीज की जेब से चार अधन्ने निकालकर दिखला दिये। वहाँ, जहाँ उसकी जेब थी, मेरी निगाह पड़ गयी। उस गरीब भिखारिन का यौवन अंकुरित हो चुका था—यह वह अवस्था थी जब प्रत्येक नारी में आगामी जीवन के लिए सुखद स्वप्न मस्तिष्क में मस्ती से आते और चले जाते हैं, अपनी सुन्दर तरुणाई की उठान को देखकर उमंगें हृदय में लहर उठती हैं। अपना आप धरती पर पाँव रखकर फूला नहीं समाता। मगर वह जीवन के धरम-धक्कों से दोनों पैरों में चोट खाई हुई ऐसी तितली बनी हुई थी जो लड़खड़ाती हुई उड़ती और थोड़ी दूर जाकर फिर जमीन पर आ टिकती है, कोई भी उसे पकड़ सकता था।

मैंने जेब में हाथ डाला। एक अठन्नी हाथ में आ गयी और दो अधन्ने थे। मैंने वह अठन्नी ही उसे न जाने क्यों दे दी जिसे उसने आँखें फैलाये हुए कुछ संकोच से ले लिया। उसके मैले-मैले हाथों में गरमायी-सी थी।

मैं चल दिया। उँगलियों में झोले का फीता गड़ रहा था। उधर अंगीठी के छल्ले दूसरे हाथ में गड़ने लगे थे। सर में एक अजीब उलझन थी। वही—कि बाँस पर चक्कर खानेवाला मर क्या गया, इस औरत का ढंग बिगाड़ गया। देखो भीख माँगने पर नौबत आ गयी, उस लंगड़े पर क्रोध आने लगा...

कुछ दूर आकर मैंने मुड़ कर देखा, वह अब भी मेरी तरफ इस तरह देख रही थी जैसे एक हिली हुई कुतिया जिस पर उसका मालिक पुचकार हाथ फेरकर, जंजीर से बाँधकर चल देता है और वह उस जाते हुए स्वामी को टेढ़ी गर्दन किये हुए एकटक देखे जाती हो और चाहती हो कि सहसा जोर से एक बार चीखकर भूँक उठे।

मैं और दूर निकल आया। एक रिक्शा वहाँ खड़ा था, उससे किराया तय करने लगा। बातें करते-करते मैंने फिर देखा कि दूर जहाँ वह खड़ी थी लोगों की एक भीड़-सी इकट्ठी हो गयी है। शायद उसे देखने के लिए।

रिक्शा पूरी रफ्तार से रेल के पुल के नीचे से निकला चला जा रहा था। रिक्शावाला आगे झुककर पैडिल मार रहा था, घंटी बजती, लोग दाँए-बांए बचते चले जाते। इधर दिमाग में फिर वही बीमार, उसकी बहन, वह लंगड़ा, बच्चा फिर वही औरत—सुन्दर, दुखी, भिखारन, प्यारी-सी, गंदी, परेशान...

शाम हो गयी थी। मैं निकलकर बाहर सड़क पर आ गया और टहलने लगा। हमारे पड़ोसी सामनेवालों से कह रहे थे, 'अजी उस औरत को किसी ने दो तो केले की फलियाँ और आठ आने पैसे......'

'वाह! जैसे देनेवाले ने अपनी आशनाई की हद कर दी हो,' सामनेवालों ने कुछ ऐसे भाव से कहकर गर्दन टेढ़ी कर ली।

'तभी उसका भाई, जो एक लंगड़ा था और यह सब देख रहा था, आया और बोला, तुझे ये फलियाँ किसने दीं? बोल हरामजादी! और तेरी मुट्ठी में क्या है? ये अठन्नी कहाँ से आयी?'

'हुँ' उन्होंने हुँकारा भरी।

'और जब उसने देखा कि वह औरत तो बड़ी देर तक उस केले देनेवाले से बातें करती रही, उसे शक हो गया।'

'हुँ'

'समझ गया कि है जरूर दाल में काला; वो तो बड़ी देर से देख रहा था।

इधर मुझे बाजारवाली आज की बातें एक-एक करके अपने प्रत्येक विवरण के विस्तार से स्पष्ट याद आने लगीं, उसकी भींगी पलकों की झपकियों के पीछे गुलाबी-सी आँखों की याद अब भी मेरी आँखों से आँखें लड़ा रही थीं; वह फूटा कटोरा, कूल्हे पर टिका वह दुर्बल-सा केले के गूद को निचोड़ता हुआ बच्चा। वह कह रही है, 'तेरा छुन्न् मामा मरि गया ऐं रे' और उसके आगे नचाती उँगलियां......

'सो तो है ई साहब' सामनेवालों ने ताईद की, भला कौन किसी मंगती को फल मिठाई और पैसे देता है? औरत सुनते हैं, कुछ देखने में खूबसूरत थी।'

'हाँ थी तो, पर बहुत नहीं।'

'थी थी थी था थी.........'

मेरे हृदय में अंधेरा-सा होने लगा, ऐसा लगा, कि इस 'थी थी' का अर्थ है कि वह नहीं रही। मेरी आँखों में वह नाच गयी। दिल ने कहा, 'वह सुन्दर थी और बहुत थी, ये झूठे हैं। नहीं जानते।'

'थी जभी तो......' सामनेवाले ने सर हिलाकर कहा।

'बस साब' उस लँगड़े ने निकाल चक्कू और वहीं उसके पेट में डालकर उसकी आँतें चीर दीं—लौंडा, गोद का बच्चा इस छीना-झपटी में वहीं नीचे गिर पड़ा......

मैं बुत की तरह सुनता रहा मेरे पेट को कोई चीज़ चीरकर कानों की राह बाहर निकल गयी हो और जैसे चारों तरफ एक सन्नाटा छाकर जम गया जिसमें हल्की-हल्की जान दुबारा आने लगी हो, हर चीज जैसे दुबारा जिन्दगी पाकर चलने-फिरने लगी हो—ये मकान, सड़क, पेड़। यह कहकर चुप हो गए पड़ोसी।

'वह औरत तो मर गयी होगी ?' सामनेवाले जैसे नया जन्म लेकर पूछ रहे हों।

'हाँ सुना है कि शफाखाने में जाकर मर गयी, उसका खून बन्द नहीं हुआ। डाक्टर ने कहा कि इसका दिल भी तो चिर गया है...'

'अब बच्चा क्या जीयेगा ? कितना बड़ा था ? आपने तो देखा होगा ?'

'जितना आपका कैलाश है न।'

'हूँ-हूँ'

'उससे कुछ छोटा।'

फिर दोनों थोड़ी देर चुप रहे मानों मुझे सुनाकर मेरी तरफ देखकर कुछ जानना चाहते हों कि उन्होंने आखिर में कहा और बात खतम कर दी, 'और वह लंगड़ा तो तभी पकड़ लिया गया; पुलिस ले गई पकड़ के।'

'देखो क्या होता है ?' सामनेवाले बोले।

'होगा क्या, फाँसी होगी' सुनकर कुछ संतोष-सा हुआ।

पर यह सब हत्यामरण सुनकर मेरी क्या दशा हुई होगी, मैं ही जानता हूँ। ऐसा लगा—जैसे अब भी कहीं पर एक बाँस है, लँगड़ा ढोल बजाये जा रहा है और उसकी बहन, वह खूबसूरत छोकरी, गोद में बच्चे को लिए फूटा कटोरा फैलाये माँग रही हो 'बाबूजी!' और मैंने दो केले और एक अठन्नी उसे दे दी हो।

——❀——

श्री मोहन राकेश

जन्मकाल रचनाकाल

१९२५ ई० १९४५ ई०

वासना की छाया में

यह जालंधर है।

मुझे इस बात से सरोकार नहीं कि यह शहर कितना पुराना है और यहाँ कौन-कौन सी तरकारियाँ पाई जाती हैं। मेरा इस शहर से इतना ही वास्ता है कि मैं यहाँ हूँ और यहाँ रहते हुए इस शहर का एक नागरिक हूँ।

मैं जालंधर का नागरिक हूँ क्योंकि नागरिक होने के सभी कष्ट आजकल यहाँ रह कर झेल रहा हूँ। सबेरे शाम ग्रांड ट्रंक रोड की धूल फाँकता हूँ। दूध के बजाय दो आने गिलास वाली चाय पीता हूँ। घर से दफ्तर तक पहुँचने के लिए एक मील पैदल चलता हूँ और दो मील बस में जाता हूँ। यही मेरी नागरिकता है। जिस नगर में यह नागरिकता ढोई जा रही है, उसी का नाम है जालंधर।

कहते हैं कभी कोई जालंधर नाम का दैत्य था। उसने यह नगर बसाया था। बसाया होगा। मुझे क्या? न बसाया होता तो मैं होशियारपुर में रहता, लुधियाना में रहता या फगवाड़ा में ही जा बसता। जहाँ कहीं भी रहता, मेरा गढ़वाली नौकर रोटियाँ इसी तरह जलाता जैसे यहां रह कर जलाता है। पर खैर जो दैत्य राज जलंधर ने यह नगर बसा दिया और उसकी संतान ने यहां गलियाँ बनवाईं, गलियों में घर बनाये, घरों में सूराख रखे, जिनसे धूल में भुनी हुई हवा छन-छन कर उनकी कोठरों में आती रहे, और उस हवा से गैस लेकर नई नस्लों का निर्माण करते रहें, और दैत्य-राज जलंधर का नाम इतिहास में नहीं, तो कम से कम भूगोल में ही अमर रहे।

दो-तीन दिन से मैं पुष्पा की बात सोचता रहा हूँ जिसे उस दिन घर के

सामने पंप पर पानी भरते देखा था। पुष्पा की आँखें मोटी कौड़ियों जैसी हैं। पहले दिन उसने दो तीन बार आँख भर कर मुझे देखा, तो मुझे लगा था कि या तो मेरे बाल बहुत अधिक सफेद हो गये हैं या मैं अपनी आयु से चार-पाँच साल छोटा लगता हूँ। नहीं तो कोई कारण नहीं था कि वह सहज विश्वास भरी दृष्टि से मुझे देखती मानो कह रही हो: चलो, आँख मिचौनी खेलते हो?

पुष्पा की आयु तेरह साल की होगी। अधिक-से-अधिक चौदह साल होगी। उसका रंग गोरा पंजाबी है। उसके शरीर को पूरा खिलने में अभी दो तीन साल हैं। फिर भी उसकी आँखों में वह विस्मय भर गया है जो यौवन का अर्थ पहले पहल समझने पर कुछ दिनों के लिए रहता है। उसे आश्चर्य है कि क्या वह अकेली ही जानती है कि गुलाब का रंग गुलाबी क्यों है?

'पानी ले लीजिये,' पुष्पा ने अपनी बालटी हटाकर मुझसे कहा।

'नहीं, तू भर ले,' मैंने इस विश्वास के साथ कहा कि वह मेरे सफेद बालों का सम्मान कर रही है।

'आप को दफ्तर जाना है, भर लीजिए,' उसने फिर कहा। मुझे खुशी हुई कि उसे मेरे अस्तित्व का पता है, काम-काज का पता है और उसका लिहाज मेरे सफेद बालों तक सीमित नहीं।

'तेरा नाम क्या है?' मैंने अपनी बालटी में पानी भरते हुए पूछा।

'पुष्पा,' उसने संकोच के साथ उत्तर दिया।

'किस क्लास में पढ़ती है?'

वह और भी संकुचित हो गई। बिना मेरी ओर देखे बोली—'मैं स्कूल नहीं जाती।

'क्यों?' मुझे आश्चर्य हुआ कि इतनी अच्छी आँखों वाली लड़की स्कूल क्यों नहीं जाती? वैसे तो मैं किसी लड़की से ज्यादा सवाल नहीं पूछता क्योंकि वे इसे घनिष्ठता समझ बैठती हैं। पर पुष्पा अभी उस रेखा से दूर है जहाँ जाकर एक लड़की मेरे लिए लड़की बन जाती है।

'मैं यहाँ नहीं रहती,' पुष्पा ने कुछ इस तरह कहा जैसे मेरा प्रश्न बिलकुल असंगत रहा हो। "मैं बापू के साथ गाँव से आई हूँ। बापू को यहाँ काम है। काम हो जाय, तो फिर हम अपने गाँव चले जायेंगे।'

मैंने देखा कि उसकी आँखों ने अभी लजाना नहीं सीखा। उसके अन्दर अभी वही ताज़गी है, जो नई बहार की गोभी में होती है। वह गाँव से आई है और गाँव चली जायगी। वहां जाकर वह सरसों के पीले-पीले फूलों से खेलेगी और मीठा नरम-नरम साग खायगी। कोई रात को आग के पास हीर गायेगा, तो वह विभोर होकर सुनेगी। नहीं तो सरसराती हवा का गीत सही—वह उसके, रोम-रोम में नहलाती हुई सो जायगी।

सबेरे उठ कर वह पशुओं को चारा देगी। प्रभाती के गीत उसे फुसलायेंगे, तो वह नंगे पैरों नदी की ओर भाग जायेगी। वहां जब तक मन में आयेगा तैरती रहेगी। फिर लौटती हुई धान के खेत से मूलियाँ और शलजम उखाड़ता जायेगी। उसके गीले बाल रूखे ही सूख जायें, तो सूख जायें। उसके फूटते हुए वक्ष चाहे उसकी कमीज़ में कटोरियाँ सी निकाल दें, उसकी आँखों की माधुरी रस घोलती रहेगी। वह गणित के प्रश्नों से नहीं उलझेगी। वह भूगोल की रेखायें नहीं याद करेगी। वह कोष लेकर कविताओं के अर्थ नहीं ढूंढ़ेगी। वह जिधर देखेगी, उधर कविताएँ बिखर जाएँगी।

अचानक मैंने देखा कि मैं पंप चलाये जा रहा हूँ, हालांकि बालटी भर चुकी है और पानी इधर-उधर बिखर रहा है। अपनी अन्यमनस्कता छिपाने और पुष्पा के सौजन्य का बदला चुकाने के लिए मैंने अपनी बालटी उठाई और उसका सारा पानी पुष्पा की बालटी में डाल दिया।

'उई।' मैंने उसे कहते सुना, 'मेरी बालटी छू गई।'

'छू क्यों गई?' मैंने कुछ लज्जित और अपमानित होकर पूछा। यह नहीं कि मेरा पहले कहीं तिरस्कार नहीं हुआ हो। तिरस्कार तो प्रायः हो जाता है, पर वहीं जहां मैं अपने तीन के पांच करता हूँ। वहां मुझे तिरस्कार की आशा भी रहती है। पर उपकार के बदले तिरस्कार मुझे उतना ही चुभता है, जितना तिरस्कार के बदले उपकार।

पुष्पा ने शायद मेरे छिले हुए भाव को भांप लिया, क्योंकि उसने क्षमा मांगने के ढंग से कहा—मैं बालटी मांज कर लाई थी। आपकी बालटी मँजी हुई नहीं थी।

यह सुन कर मेरी आत्मा पुनः उदार हो गई। मैंने मन में दोहराया कि बालटी को राख से मला जाय, तब जाकर वह पवित्र होती है। फिर चाहे गलीज फ़रश पर रख कर उसमें पानी भरो, चाहे चबाई हुई दातुनों के ढेर पर।

'मेरी बालटी मंजी हुई थी। मैंने सबेरे मांजी थी,' मैं झूठ बोला। झूठ बोलना मेरी आदत है। बिना कारण के झूठ बोलता हूँ। दिन में कई बार बोलता हूँ। यह मुझे अच्छा लगता है। मैं सच कह रहा हूँ।

जो मुँह से झूठ नहीं बोलता, वह मन में झूठ बोलता है। जो मन में झूठ बोलता है, वह मुझ से ज्यादा खतरनाक है क्योंकि वह सच का दावेदार है, इसलिये वह और भी झूठा है।

पुष्पा ने मुस्करा कर बालटी का पानी गिरा दिया और जमीन से मिट्टी उखाड़ कर बालटी को मलने लगी। मैं अपनी बालटी में फिर से पानी भरने लगा।

किसी ने दूर से पुष्पा को पुकारा, 'पप्पी।'

'आई बापू!' उसने पुकार का उत्तर दिया।

'पानी नहीं भरा?' आवाज़ आई।

'नहीं बापू!' उसने उत्तर दिया।

'जल्दी कर, सिरमुंडी!'

मैंने उधर देखा तो एक लम्बा बूढ़ा जाट एक कोठी के बरामदे में खड़ा सिर पर पगड़ी लपेट रहा था। एक तो उसकी आवाज ही कर्कश थी, दूसरे उसकी सफ़ेद दाढ़ी ऐसी नोकदार थी, जैसे उसी से वह मुर्गियाँ झटकता रहा हो! उसकी आँखों का रंग बतलाता था कि उसने रात को खूब शराब पी थी क्योंकि नशा अभी तक उसकी पुतलियों में तैर रहा था। पगड़ी लपेट कर उसने दाढ़ी पर हाथ फेरा और पुनः पुष्पा को आवाज दी—जल्दी कर, लाड़ को बच्ची, नहीं तेरा झोंटा सेकूँ।

यह देख कर कि मेरी बालटी अभी आधी भरी है, मैं जल्दी-जल्दी पंप चलाने लगा। जाट ने पीठ मोड़ ली। पुष्पा मेरी ओर दो कौड़ियों का एक दाँव फंक कर मुस्कराई। उसकी मुस्कराहट ने मुझ से कहा—तुम बेवकूफ हो। बापू की गालियाँ बेटी को नहीं लगा करतीं।

उसके बाद दो-तीन बार मैंने पुष्पा को देखा। न जाने क्यों उसे देख कर मुझे गहरे लाल रंग के मखमली फूल याद आ जाते। उन फूलों को मैं बचपन में अपने कोट पर लगाया करता था।

दो-तीन बार पुष्पा के बापू को भी मैंने देखा—दातुन करते, जूड़ा बांधते या गालियाँ बकते। उसकी मुझ पर कुछ ऐसी छाप पड़ी जैसे बरसात होकर हटी हो और पुराने गले हुए टीन के छप्पर पर से महीनों का सूखा बीट पानी के साथ गल-गल कर टपक रहा हो।

आज दफ्तर से लौटते हुए मैं अड्डा नकोदर से फरलाँग भर ही आया था कि मैंने देखा सफेद दाढ़ी वाला वह जाट मुझ से दो कदम हट कर साथ-साथ चल रहा है। मैं जरा तेज़ चलने लगा। वह भी तेज चलने लगा। मैंने चाल धीमी कर दी। उसने भी चाल धीमी कर दी।

मुझे यह कभी सहन नहीं कि मैं किसी के साथ चलूँ, क्योंकि जिसके साथ मैं चलता हूँ, वह अपेक्षा करता है कि मैं उसी की तरह चलूँ और उसी की तरह सोचूँ। पर कोई मेरे साथ चले तो यह मुझे भला लगता है क्योंकि वह मेरी तरह चलता है और अपनी तरह सोचता है।

'कहाँ चल रहे हो, बाबूजी?' पुष्पा के बापू ने मेरा ध्यान अपनी ओर खींचने के लिए पूछा।

'मॉडल टाउन' मैंने इस अन्दाज़ में कहा कि वह जान ले कि मैं एक महत्वपूर्ण व्यक्ति हूँ, और सिर्फ इसलिए पैदल चल रहा हूँ कि मुझे संध्या के समय पैदल घूमने का शौक है।

'हम भी वहीं चल रहे हैं। डाक्टर गुरबख्श सिंह मदान को जानते हैं? वह हमारे ही गाँव के हैं। शहर में आकर हमारा उन्हीं के घर डेरा होता है।' फिर मेरे बराबर आकर वह बोला, 'चलो राह चलते एक से दो भले।'

मैंने कहना तो चाहा कि मेरे साथ चलने में उसे चाहे लाभ हो, उसके साथ चलने में मुझे कोई लाभ नहीं, पर इसलिए नहीं कहा कि कहीं दोआब का जाट जोश में आकर मेरे सिर का पंजाब बना दे।

'आप इधर के ही हैं?' जाट ने अब परिचय बढ़ाने की चेष्टा की।

'नहीं,' मैंने उत्तर दिया।

'आप जालन्धर में कब से हैं?' मेरे साथ चलते हुए जाट ने फिर पूछा। मैंने उचित समझा कि वह जितने सवाल पूछ सकता है, उन सब का उत्तर एक साथ ही दे दूँ, ताकि उसकी जिज्ञासा पूरी शांत हो जाय। इसलिए मैंने कहा:—

'मैं दो महीने से यहाँ हूँ। सेक्रेटेरियट में असिस्टेंट सुपरवाइजर हूँ। वेतन एक सौ बीस रुपये है। ऊपरी आमदनी हो जाने की आशा है। अभी ब्याह नहीं हुआ। लड़की देख रहा हूँ। पढ़ाई की चौदह जमातें पास की हैं। तरकारियों में मुझे गोभी पसंद है। फलों में मैं आम पसंद करता हूँ। हर इतवार को शरीर पर कड़वे तेल की मालिश करता हूँ। मेरी रोटी एक गढ़वाली पकाता है। उसकी उमर चालीस साल है। मेरे बरतन उसकी लड़की माजती है। उसकी उमर बीस साल है।'

यह सब उसे सुना कर मैंने मन में कहा अब पूछ, ताऊ, क्या पूछता है?

पर जाट ने फिर पूछा ही, 'क्यों जी, गढ़वाली ने अभी तक लड़की का ब्याह नहीं किया?'

यह सीमा थी! पर मैंने धैर्य नहीं छोड़ा। संतोष-असंतोष अपने घर की चीज़ है। पर पीठ का दर्द जाकर डाक्टर को दिखलाना पड़ता है। मुझे अपनी आत्मा पर इस बात का गर्व है कि वह हवा का रुख देख कर फौरन तिरछी से सीधी हो जाती है। मैंने जाट का प्रश्न बिलकुल स्वाभाविक समझ कर उसका स्वाभाविक-सा उत्तर दिया, 'उसकी लड़की विधवा है।'

'अच्छा जी, विधवा है। फिर तो वह उसे दूसरी जगह बिठायेगा?'

मैं इतिहास का विद्यार्थी होता तो गढ़वाली से पूछ रखता कि वह अपनी लड़की को दूसरी जगह बिठायेगा या नहीं? पर इतिहास में मेरी रुचि तैमूरलंग की लड़ाई तक ही रही है, उससे आगे नहीं। फिर भी जाट को तो उत्तर देना ही था। उसकी मूंछों के बाल अँगड़ाइयाँ लेने लगे थे। मैंने रास्ता काटने की नीयत से कहा, 'वह देख-भाल तो कर रहा है। आगे लड़की की तकदीर है।"

'लड़की देखने में अच्छी है?' जाट ने पूछा।

'देखने में भी अच्छी है और स्वभाव की बहुत मीठी है।' मैंने यह इसलिए कहा कि कम-से-कम बात में तो रोमांस रहे।

'अच्छा जी?' जाट बोला, 'सच पूछो तो सबसे बड़ा गुण यही है। काम अच्छा करती है?'

'काम में वह सुस्त है। हाँ, बातें बहुत करती है।'

'अच्छा जी?' जाट बोला 'रगों में जवानी हो तो काम नहीं सुहाता।'

उसकी टिप्पणी का मजा लेते हुए मैंने उसकी ओर देखा तो उसकी आँखों में भूखी बिल्ली की सी जलन दिखायी दी। उसके होंठ बूढ़ी वासना की लार से गीले हो रहे थे। उसका रस-भंग करने के लिए मैंने रुक कर जूतों को झाड़ा और कहा, 'इन कच्चे रास्तों पर सरदारजी, जूतों का तो कचूमर निकल जाता है।'

जाट ने मेरे अभिनय और शब्दों की ओर ध्यान नहीं दिया। अपनी ही धुन में कहा, 'बाबूजी, आज आपके गढ़वाली से मुलाकात हो सकती है?'

'क्यों?' मैंने उसकी ओर देख कर पूछा। मुझे लगा कि वासना की लार चू-चू कर जम गई है और इन्सान के आकार में धरती पर रेंग रही है। अगर इसे आग दिखा दी जाय तो यह यहीं पिघल कर तेल हो जाये।

'मुझे एक जमींदारनी की जरूरत है, बाबूजी,' जाट ने कहा। 'मैं जमींदार हूँ। पास के गाँव में मेरी चार एकड़ जमीन है। पाँच एकड़ जमीन जिला करनाल में है। मैं यहाँ के गाँव का नंबदार हूँ। घरवाली मर गई है। एक जवान लड़की है। उसका ब्याह कर दूँ तो मेरी देख-भाल करने वाला कोई नहीं। घर में एक गाय और दो भैंसें हैं। घरवाली आ जाय तो उसका चारापानी हो जायगा और मेरी भी दो रोटियाँ हो जाएँगी।' फिर उसने बाँह पकड़कर मिन्नत के लहजे में कहा, 'आपके गुण गाऊँगा सरकार, मेरा यह काम जरूर करा दीजिये।'

वह बोल रहा था तो उसके शब्दों की गूँज अपना अर्थ मुझे और ही तरह समझा रही थी। वह कह रही थी: मुझे औरत के गरम मांस की ज़रूरत है, बाबूजी। मैं चाहे बूढ़ा हूँ, पर मेरे अकेले के पास नौ एकड़ ज़मीन है। घर में

गाय, भैंसें और सब कुछ है, सिर्फ औरत ही नहीं है। मेरी अपनी हड्डियों पर गरम माँस नहीं रहा, पर बूढ़ी हड्डियाँ गरम माँस का चारा अब भी माँगती हैं। इनके लिए चारा चाहिये, सरकार। एक गरीब की जवानी का भुर्ता कर दीजिये।'

किसी तरह गला छुड़ाने के लिए मैंने जाट से कहा—'गढ़वाली पंजाबियों के साथ ब्याह नहीं करते, सरदारजी। उसका बाप उसे किसी गढ़वाली के ही घर बिठायेगा।' मेरी बात सुनकर जाट जरा ढीला हो गया। उसकी मूँछों के बाल, जो अब तक अंगड़ाइयाँ ले रहे थे, अब सुस्त होकर बैठ गये। वह ठंढी साँस लेकर बोला, 'कहीं भी कामयाबी नजर नहीं आती। लोग कहते थे कि रिफ्यूजी कैम्पों से मिल जाती हैं। पर मैं सवा साल से चक्कर लग-लगाकर हार गया, कोई नहीं मिली। डाक्टर साहब ने एक पहाड़न चार सौ में ठीक की थी, वह भी मेरा दाढ़ी देखकर मुकर गई।'

'पर तुमको तो घर की देख-भाल के लिए ही जरूरत है न, सरदारजी?' मैंने कहा, 'एक नौकर क्यों नहीं रख लेते?'

'नौकर उतना काम नहीं दे सकता, बाबूजी! जमींदार का घर है। चार आने वाले, चार जाने वाले। फिर सेवा के लिए एक गाय, दो भैंसें। इतना कुछ तो घरवाली ही सँभाल सकती है।'

'तो तुम चाहते हो कि जवान लड़की आकर तुम्हारे गुर्दे भी ठीक करे और तुम्हारी गाय भैंसों का दूध भी दुहे?'

'वह क्यों दुहे सरकार, वह आराम से बैठे। दूध दुहने को हम क्या मर गये हैं?'

यह उसकी सौदेबाजी थी। इन्सान की सौदेबाजी आदम के काल से चल रही है। धरती फल-फूल और धान उगलती है, वह उन्हें उखाड़ लेता है और सौदा करता है। धरती धातु-पत्थर छिपाकर रखती है, वह उन्हें खोद लेता है और सौदा करता है। और वह न चले तो धरती का सौदा करता है, वह भी न चले तो अपना ही सौदा करता है।

यह आजमाने के लिए वह अपने को कहाँ तक सौदे में डालता है, मैंने

उपदेश के रूप में कहा, 'इस उमर में कोई मिलेगी भी तो ऐसी ही मिलेगी, सरदारजी, जो पहले कई घरों में घूम चुकी हो, और जिसे दूसरा ठौर-ठिकाना न हो। ऐसी को र में डाल लोगे?'

मैंने देखा जाट की मूंछों के बाल फिर अँगड़ाइयां लेने लगे हैं। उसने आगे बढ़कर मेरी बाँह पकड़ ली और बोला, 'आपके पास है बाबूजी? जरूर आपके पास कोई है।'

मैंने नहीं सोचा था कि मेरे शब्दों का यह अर्थ निकल सकता है। थोड़ा भद्दा पड़कर मैंने स्पष्ट करने के लिए कहा—मेरा यह मतलब नहीं सरदारजी, कि मेरे पास कोई है। मैं तो केवल बात के लिए बात कर रहा हूँ।

'नहीं, बाबूजी, आपके पास जरूर कोई।' जाट ने विनय और अनुरोध के साथ कहा, मेरी पगड़ी अपने पैरों पर समझो और मेरा काम करा दो। दो-चार सौ मैं आपके सिर पर वार दूँगा–एक बार अपने मुँह से कह दो कि है।

मैंने जाट को फिर सिर से पैर तक देखा। उसकी भौंहें सफेद हो रही थीं। आँखें छोटी होकर केवल दाग रह गई थीं। गालों का माँस लटक आया था। दाँत आधे टूट चुके थे। जो दाँत शेष थे, उनकी जड़ों में लहू रिसरिसा रहा था बोलते-बोलते उसका थूक दाढ़ी के सफेद बालों में फैल गया था। फिर भी वह मुझसे विश्वास माँग रहा था कि मैं कह दूँ कि है—एक नारी है जो उसके लिए चारा बन सकती है, जो अपना यौवन राँधकर उसे खिला सकती है क्योंकि वह जमींदार है और उसके घर में एक गाय और दो भैंसें हैं, और उसकी हड्डियों में जितना जोर है, उससे कहीं अधिक उसकी गाँठ में पैसा है।

'बोले नहीं, बाबूजी?' जाट ने व्याकुल उत्सुकता के साथ पूछा।

'मैं किसी को नहीं जानता, सरदारजी, 'मैंने धीरे से उत्तर दिया।

मॉडल टाउन अब सामने ही था। पक्की सड़क पर आकर मेरी नजर पुष्पा पर पड़ी जो बरामदे में खड़ी शायद अपने बापू की प्रतीक्षा कर रही थी।

मुझे फिर लाल फूल याद हो आये। मैंने जाट की ओर देख कर पूछा—'तुम अभी कुछ दिन तो हमारे पडोसी हो न, सरदारजी?'

'नहीं जी, हम कल गाँव जा रहे हैं,' जाट ने कहा, 'यहाँ अब किसके भरोसे बैठे रहें? वहीं चलकर देखभाल करेंगे और नहीं तो बदले में तो लड़की मिल ही जायगी।'

'बदले में कैसे?' मैंने हैरान होकर पूछा।

'गाँव का रिवाज है, बाबूजी। बराबर की उमर के वर हों, तो दो घर आपस में लड़कियाँ बदल लेते हैं। मैं जाकर अपने जैसा ही कोई घर देखूँगा।'

मैंने देखा पुष्पा प्रतीक्षा कर रही है। बापू जो गाली देता है वह गाली उसे नहीं लगती। पर बापू जो गाली नहीं देता, वह गाली उसे लग रही है।

—००—

श्री सत्येन्द्र शरत्
जन्मकाल रचनाकाल
१९२९ ई० १९४९ ई०

मीमांसा

सिर झुकाये विनय बोला, 'भाई छोड़ो यह बात। मैंने इस तरह की मीमांसाएँ करनी छोड़ दी हैं। मेरे ख्याल से ये फिजूल हैं। हम कभी अंदाज़ नहीं कर सकते कि जिस प्राणी के चरचे को लेकर हम परेशान हो रहे हैं, उसने किन परिस्थितियों में, या किन आदर्शवादी भावनाओं के अधीन होकर वह कृत्य किया जिसने हमें—यानी समाज को-एक शॉक दिया; और हमें, जिन्हें अपने धंधों से फुरसत नहीं मिलती, उस प्राणी व उसके आचरण के ऊपर एक लम्बा डिबेट करने का 'सुअवसर' दिलवा दिया। मनुष्य-मन बड़ा विचित्र है; और आप या हम कभी उसकी तह तक नहीं पहुँच सकते; चाहे लाख अपने को धुरंधर लेखक, प्रगाढ़ विद्वान और गूढ़ मनोवेत्ता समझते रहो।'

नरेश के बदन पर जैसे च्यूँटी-सी रेंग गयी। तिलमिला कर बोला, 'विनय साहब, आप चीजों को जरा आदर्शवादी चश्मे से देखने के आदी हैं। यही कारण है कि किसी प्राणी के-और वह भी स्त्री के-एक शॉकिंग(आघात देने वाले) आचरण की पृष्ठभूमि में आप आदर्शवादी भावनाओं को रख रहे हैं।'...फिर हम सब लोगों की ओर एक सरकती दृष्टि फेंक वह आगे बोलता गया, 'ज़रा आप सोचिये, एक स्त्री का ऐसा आचरण या कृत्य, जिसके विषय में सुनकर हमें आघात पहुँचता है, क्या किसी पवित्र व आदर्शवादी भावनाओं के अधीन होकर किया जा सकता है? और क्या उस घृणित तिरस्कार-योग्य आचरण को उस स्त्री ने निर्विकार मन से किया होगा? क्या उस आचरण के पश्चात् भी वह स्त्री

निष्पाप-निष्कलंक मान कर देवी-पद पर विभूषित की जा सकती है और समाज के लिए 'आलोचना से परे' मान ली जा सकती ? ...आप बतलाइये।'

हम सब खामोश थे। हालांकि ये प्रश्न हमारी ही शकलों से किये गये थे, लेकिन हम जानते थे कि हमें इनका उत्तर नहीं देना है। ये प्रश्न विनय के लिए हैं और वही इनका उत्तर देगा।

और हुआ भी वही। तीन-चार क्षण की एक खामोशी के बाद विनय ने उसी आहिस्ता टोन में बोलना शुरू किया। उसके बोलने के ढंग से लग रहा था कि इस चरचे से उसे दुःख हो रहा है और वह महज किसी कर्त्तव्य का पालन करने के लिए ही इस बहस में हिस्सा ले रहा है। वह कह रहा था, 'मैं जानता था मिस्टर नरेश, कि आप मेरी बात का प्रतिवाद अवश्य करेंगे। आप प्रतिवाद करने के लिए मजबूर हैं, यह भी मैं जानता हूँ। यह आपकी ज्यादती है या आप का अविवेक, ऐसा मैं नहीं कहता क्योंकि मैं जानता हूँ कि ज्यादती या अविवेक जो भी है वह समाज और उसकी प्रचलित धारणाओं का है जिसने आँखें मूँद फतवा दे रखा है कि किसी भी प्राणी—रूप से स्त्री के तिरस्कार-योग्य आचरण करने का उद्देश्य असत् के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता। मैं कहता हूँ, हो सकता है। किसी प्राणी के तिरस्कार योग्य आचरण की पृष्ठभूमि में वह सब भी हो सकता है जिसे आप अपने समूचे तर्क के साथ असत् नहीं कह सकते। तब वह क्या हो सकता है, इसे कदाचित हम जीवन भर नहीं समझ सकते—कम से कम मैं तो अपने लेखकपने के बावजूद अब तक नहीं समझ सका हूँ......'विनय कुछ रुका, फिर नयी साँस लेकर हम सब की ओर दृष्टि डाल कर बोला, 'देखिये, मैं आप को एक घटना सुनता हूँ जिसका एक पात्र मैं सहसा ही बन गया था। आप पूरी बात सुनिये और तब एक सही व अ-डगमगाता फैसला दीजिये; मगर ख्याल रखियेगा कि फैसला देते समय आप महज मानव होंगे-अपनी सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक स्थिति से बिल्कुल अलग महज इंसान और कुछ नहीं......'

हम सब सम्हल कर बैठ गये। इतनी लम्बी भूमिका के बाद कही जाने वाली बात ने हमारे कुतूहल को जगा दिया था।

विनय ने कहना शुरू किया 'बात दो साल पहले की है जब मैं विश्वविद्यालय का विद्यार्थी था। गर्मियों की छुट्टी में मैं अपने ननिहाल देहरादून गया हुआ था। वहीं एक दिन मोटर स्टैंड पर अपने बचपन के एक दोस्त अल्ताफ़ से मेरी भेंट हो गयी। अल्ताफ़ आठवीं क्लास तक मेरे साथ पढ़ा था। फेल होकर उसने पढ़ना छोड़ दिया था और एक मोटर वर्कशाप में मिस्त्री का काम सीखने लग गया था। मैंने पढ़ना जारी रखा था। इस लम्बे दौरान में मैं विश्वविद्यालय का विद्यार्थी बन गया और अल्ताफ़ टैक्सी-ड्राइवर, जिसकी अपनी निज की दो-एक गाड़ियाँ थीं। वह मुसाफ़िरों को देहरादून से मसूरी ले जाया करता था। खैर, मिल कर हम दोनों को बहुत खुशी हुई। बचपन की बातें शुरू हो गयीं। विदा होते समय यह तय हुआ कि दूसरी शाम को हम फिर मिलेंगे। और फिर तो इन भेंटों का ऐसा तांता शुरू हुआ कि मैं हर शाम मोटर-स्टैंड जाने लगा। मुझे और तो कोई शग़ल था नहीं। दिन भर पढ़ने व सोने के बाद मैं शाम को मोटर स्टैंड पर अल्ताफ़ से गप-शप लड़ा कर अपने को तरो-ताज़ा कर आता था।

ऐसी ही एक शाम की बात है। हर रोज़ की तरह मैं स्टैंड पर पहुँचा। सो कर आ रहा था, इस कारण बाल भी उलझे-सुलझे थे और कपड़े भी बासी से लग रहे थे। देखा कि अल्ताफ़ दो सूटेड-बूटेड नवयुवकों से उलझ रहा है। नवयुवकों के साथ हलका-सा सामान था—एक सूटकेस और एक बिस्तर। पास ही एक सुन्दरी युवती खड़ी थी जिसके चेहरे पर घबराहट के भाव स्पष्ट थे, किंतु जिनसे वह और भी अधिक सुन्दरी प्रतीत हो रही थी। उसकी दृष्टि एक जगह टिकी हुई नहीं थी। वह बार-बार इधर-उधर देखा करती थी।

थोड़ी देर में सहमता-सा होता दीखता अल्ताफ़ मेरी ओर मुड़ा। मैंने धीरे से पूछा कि बात क्या है? अल्ताफ़ बोला 'साले लोफ़र मालूम पड़ते हैं। मसूरी जाने को कह रहे हैं।'

मैंने पूछा—मसूरी जाने को कहने से ये लोफ़र किस तरह हो गये?

अल्ताफ़ कुछ तेज़ी से बोला 'देखते नहीं, साथ में लड़की ला रखी है।'

'ये लड़की इनकी बहन या बीबी हो सकती है!'

'वाह रे दिमाग !' अल्ताफ़ मुस्कराया 'ये लोग पंजाबी हैं, और लड़की यहीं की मालूम पड़ रही है।'

ज़रा चुप रह कर मैंने प्रश्न किया। 'तो।'

'तो क्या ?' अल्ताफ़ ने कहा—इस आखिरी गेट से मसूरी ले जा रहा हूँ। पैंतालीस रुपये पर बात तय हो गयी है।

मैंने उन नवयुवकों की ओर देखा। वे दोनों अश्लील ढंग से हँस रहे थे। लड़की सकुचाई हुई एक ओर खड़ी मानो सड़क की भीड़ में किसी को ढूँढ़ रही थी।

संवेदनशील मैं बहुत हूँ......उस लड़की की घबराहट ने मेरे मन में उथल-पुथल कर दी।

सहसा मैंने अल्ताफ़ से कहा—दोस्त एक बात कहूँ जो तुम मानो। आज मुझे मसूरी गाड़ी ले जाने दो। मैं इन लोगों के साथ जाना चाहता हूँ। देखता हूँ, तुम्हारा ख़याल कहाँ तक सही है!

अल्ताफ़ मेरे लेखकपन से अच्छी तरह परिचित है। मुस्कराते हुए बोला—'आ गयी लड़की पसंद इतनी देर में ? अब अफ़साना लिखना चाहते होगे इस पर! अच्छा, तो ठीक है। तुम्हीं ले जाओ इन्हें। मुझे कोई खास दिलचस्पी नहीं है......लेकिन हाँ, ड्राइव कर लोगे ?'

'आफ़ कोर्स! तुम चिंता न करो।' मैंने उत्तर दिया।

'बस तो फिर तुम्हीं ले जाओ।' अल्ताफ़ बोला।

प्रसन्नता की एक लहर मेरे चेहरे पर दौड़ गयी।

इसी समय एक बूढ़ा-सा आदमी वहाँ आ गया। वे दोनों युवक उससे बातें करने लगे।

अल्ताफ़ ने उन लोगों से कहा—आप लोग बैठ जाइये फिर। अब चलते हैं। सामान भी रखवा दीजिये।

सामान रखकर वे लोग गाड़ी में बैठ गये। वह बूढ़ा भी बैठ गया। बोला—'मैं कुट्यालगांव उतर जाऊँगा। वहां से राजपुर होता चला जाऊँगा।' मसूरी की नई मोटर-सड़क राजपुर होती हुई नहीं जाती है।

मुझे स्टियरिंग पकड़ते देख एक नवयुवक अल्ताफ़ से बोला—क्यों उस्ताद, तुम्हारी नहीं है यह गाड़ी ? तुम क्यों नहीं ले जा रहे हो ?'

अल्ताफ़ ने जवाब दिया—गाड़ी तो यह मेरी ही है। यह मेरा ड्राइवर है। मेरी एक दूसरी गाड़ी सहारनपुर से आ रही है; उससे मेरे घर के लोग आ रहे हैं। मैं उनका इंतज़ार कर रहा हूँ। यह मजबूरी है, वरना मैं ही चला चलता !'

वे संतुष्ट से दीखे।

अल्ताफ़ के हाथ का इशारा पा मैंने गाड़ी आगे बढ़ायी।

कुट्यालगांव गेट पर पहुँच कर मैंने गाड़ी एक ओर खड़ी कर दी और गाड़ी से उतर पड़ा। गेट खुलने में अभी देर थी। वे दोनों युवक और बूढ़ा भी गाड़ी से बात करते-करते उतरे, और कुछ दूर निकल सड़क के किनारे जमाये हुए चूने-पुते पत्थरों पर बैठ कर बातें करने लगे। मैं पास की दुकान की बेंच पर बैठा गया। नवयुवती कार में अकेली बैठी रही।

गेट खुलने में पांच मिनट रहने पर मैं उन लोगों को गाड़ी में बैठ जाने के लिए कहने उनके पास गया। देखा, वह वह दोनों युवक सामने रखे अंग्रेजी शराब के एक अद्धे में से पी रहे हैं बूढ़ा ओठों पर जीभ फेर रहा है। मुझे देखकर एक ने पूछा—क्या बात है ?

मैंने बतलाया—गेट खुलने वाला है। आप लोग गाड़ी में बैठ जांय। वह अपने साथी की ओर देख मुझसे बोला—तुम चलो हम आते हैं।

सही बात क्या है, मैं समझने की कोशिश कर रहा था, किन्तु उनके संबंध की मेरी कोई भी धारणा अभी तक पुष्ट नहीं हुई थी।

उनके पास से आकर मैं गाड़ी में बैठ गया। युवती मेरी ओर देखने लगी जैसे ही मैंने उसकी ओर देखा उसने अपनी दृष्टि दूसरी ओर कर ली। मेरे चेहरे पर मुस्कराहट आ गयी।

पीछे-पीछे वे लोग भी आ रहे थे। कार के पास आकर बूढ़ा बोला—अच्छा तो साहब, मैं अब जाऊँगा।

युवकों में से एक बोला—हाँ, तुम अब जाओ। परसों हम लौटेंगे। तब वहीं होटल में मिल लेना हमसे।

बूढ़े ने फिर कहा, 'अच्छा, जरा बिटिया से पूछलूँ। कुछ कहना तो नहीं है उसे।'

'हां-हां, पूछ लो।'

बूढ़ा कार की खिड़की के पास हो गया। लड़की ने बहुत धीर से कहा, 'तुम जा रहे हो मामा।'

मैं बाहर की ओर इस तरह देखने लगा जैसे मेरे आस-पास कोई नहीं है। बूढ़े ने कहा, हाँ, 'क्यों घर पर कुछ कहना तो नहीं है?'

लड़की ने एक ठंडी-सी सांस लेकर कहा, 'नहीं, कुछ नहीं। मां को समझा देना कि मैं परसों तक आजाऊंगी। और दीबू को मेरा प्यार कह देना। बस।'

बूढ़ा खिड़की पर से हट गया, और युवकों के पास आकर बोला, 'साहब मैं अब जाता हूँ।' फिर कुछ रुक कर झिझकता-सा बोला, 'जी मिहरबानी होगी। यह मुझे दे देते।' उसका इशारा युवक की पैंट के जेब में पड़े अद्धे की ओर था।

उस युवक ने हँसते हुए दूसरे युवक की ओर देखा। दूसरे युवक ने मुस्करा कर अंग्रेजी में कहा, 'दे दो। इस शैतान से पिंड छूटे।'

पहले युवक ने जेब से अद्धा निकाला और मुँह लगाकर खड़े ही खड़े गट-गट कर पीना शुरू कर दिया। जब उसमें थोड़ी सी रह गयी तब यह अद्धा उसने बूढ़े को दे दिया और कहा, 'अब जाओ। गो आन। गौ...गौन विद् द् विंड...और बेहूदा तौर से हंसने और हाथ से चले जाने का इशारा करने लगा।

बूढ़े ने प्रसन्नमुख से वह चपटी-सी शीशी ली और मेरे गाड़ी स्टार्ट करने पर पीछे की ओर मुड़ गया।

गाड़ी तब कोल्हूखेत टोट-बार के नीचे की कैंचियों पर पहुची थी कि उन दोनों युवकों की भद्दी हँसी सहसा तेज़ हो गयी। अभी तक मैंने पीछे मुड़ कर नहीं देखा था।

(अभाग्यवश उस गाड़ी में ड्राइवर के सामने वाला रियर-ग्लास-मिरर भी 'हीं था) किन्तु पिछली सीटों पर जो कुछ हो रहा था, उसका अनुमान मैं गाड़ी ाइव करते-करते ही लगा रहा था। इस बार हँसी तेज होने पर, चौंक कर मैंने ोछे की ओर देखा। उन दोनों युवकों के बीच वह युवती ऐसी लग रही थी ासी दो हिंसक बाजों के बीच कोई भयभीत कबूतरी। दोनों युवकों ने उसके गले ं हाथ डाल रखे थे। अपनी किसी कुत्सित चेष्टा में सफल होने पर ही वे इस ुरी तौर पर हँस रहे थे। उस युवती के चेहरे पर जो भाव था-और अपनी इस ार्मनाक परिस्थिति को मेरे द्वारा भी देखे जाने पर उसके चेहरे पर जो भाव आ ाये—कुछ घृणा के, कुछ विवशता के से और तब लज्जा, झेंप व आत्म-ग्लानि के...मेरी इच्छा हुई कि गाडी रोक कर उन दोनों दुष्टों की अच्छी तरह मरम्मत कर, उन्हें धक्का दे खड्ड में ढकेल दूँ। शैतान कहीं के!...

पीछे मुड़ कर मेरे देखने पर शायद उन्हें भी क्रोध हुआ। एक युवक कुछ कुपित स्वर में बोला, 'ए खोता (गधे) पीछे क्या देखता है। अपना काम कर। क्रोध मुझे भी इस बात पर आ गया, लेकिन अपनी परिस्थिति का विचार कर मैं खामोश ही रहा और निर्विकार भाव में ड्राइवर करता रहा।

कुछ समय के लिए उनकी हँसी बन्द हो गयी। गाडी में खामोशी छा गयी। लेकिन शाम के अंधेरे के फैलने के साथ ही उनकी घृणित हँसी फिर जारी हो गयी—शायद पैशाचिक भी। और मैंने गाड़ी की रफ़्तार तेज़ कर दी—काफी तेज जिससे हम मसूरी जल्दी पहूँचा जायँ, और रास्ते की लम्बाई के कारण उस बेचारी युवती को उन दुष्टों की अधिक यातन ना सहनी पड़े ..

(यह मैं भूल गया था कि उस बेचारी को तो परसों तक उन देवदूतों' के साथ निवास करना है।)

मुझे से आगे तीन-चार गाड़ियाँ थी, लेकिन मसूरी मोटर-स्टैंड पर जो गाडी पहले पहुँची, वह मेरी थी।

गाड़ी एक ओर पार्क कर मैं उन लोगों के पास आया और बोला, 'आप लोग शायद पहली बार आये हैं मसूरी? कहिये, मैं कुछ काम आ सकता हूँ आप के?'

उन्होंने कुछ अचरज से मेरी ओर देखा। फिर एक बोला, 'एक--दो रिक्शे कर दो हमारे लिए।'

मैं जानता चाहता था कि यह लोग जाते कहां है। सो पूछा, 'रिक्शे कहां तक के लिये किये जायँ ?'

उन्होंने एक होटल का नाम बताया। कहा, उसमें एक कमरा रिज़र्व है उनका।

मैंने कुछ हँस कर कहा, 'होटल ठीक नहीं चुना आपने। और तो कोई बात नहीं, लेकिन ज़रा बदनाम है। आप जैसे शरीफ़ व घर-बार वाले लोगों के लिए ठीक नहीं है।'

दोनों युवक अचकचा कर मेरे मुँह की ओर देख एक दूसरे को देखने लगे। फिर एक ने अंग्रेजी में दूसरे से कहा, 'द् डेविल इज़ वेल इन्फ़ार्मड (शैतान की अच्छी जानकारी है)।'

मुझे हँसी आने को हुई। कठिनाई से मैं अपने को रोक पाया।

एक ने मेरी बात का उत्तर दिया, 'अब तो कमरा रिज़र्व कर लिया है। दो-तीन दिन काटने हैं, काट देंगे। कौन सी उम्र बितानी है।'

सुन कर मैं बोला, 'ठीक है। मैं रिक्शे ले आता हूँ।'

उन लोगों के लिए दो रिक्शे तय कर उन्हें मैंने मोटरस्टैंड से रवाना किया। जाते समय मैंने एक अचरजपूर्ण कार्य कर डाला। उन्हें विदा-नमस्ते करते समय मैंने उस युवती को भी नमस्ते कर दी। वह युवती सकते में आ गयी। मेरे अभिवादन का उत्तर तक न दे सकी। मुँह फाड़े मुझे देखती रह गयी। वे युवक इस चीज को न देख पाये।

घंटा-एक के लगभग किन्क्रेग पर ही ठहर मैं भी उसी होटल में पहुँचा। वहाँ का मैनेजर मेरा परिचित था। वह मेरा परिचित न भी होता तो भी कोई अंतर न पड़ता। उससे मालूम हुआ वे दोनों युवक और युवती वहीं ठहरे हुए हैं। दोनो युवक कहीं बाहर गये हुए हैं। मैंने यह अवसर ठीक समझा और कमरे का नम्बर मालूम कर उस ओर बढ़ा।

दरवाजा खटखटाते ही युवती ने दरवाजा खोल दिया। मुझे देख और पह-

चान कर तथा वहां उपस्थित देख वह कुछ आशंकित सी हो गई। केवल बोल पायी 'आप!'

उसकी घबरायी मुद्रा देखकर मैंने कहा, 'जी हाँ, मैं ही हूँ। आप घबराइये मत। मुझसे आपका कोई अनिष्ट न होगा।'

उसे कुछ विश्वास हुआ दीखा, लेकिन वह बोली कुछ नहीं।

मैंने खड़े-खडे ही कहा, 'देखिये, समय बहुत कम है। मैं आपसे कुछ पूछना चाहता हूँ। आशा है आप बतलाने में कोई संकोच न करेंगी।'

बहुत सरल भाव से वह बोली, 'पूछिये, क्या बात है?'

'क्षमा कीजियेगा,' मैंने कहा, 'है तो यह मेरी अनाधिकार चेष्टा, लेकिन अपनी प्रकृति के कारण मजबूर हूं। इन जैंटलमैनों को देखकर मुझे कुछ सन्देह होता है। भलेमानुष नहीं जान पड़ते। ये आपके सम्बन्धी भी नहीं जान पड़ते। फिर आप इनके साथ कैसे आयीं? क्या ये लोग आप को जबरदस्ती या किसी जाल में फँसा कर अपने साथ लाये हैं?'

मैंने देखा, युवती का सुन्दर मुँह पीला पड़ गया। कुछ काँपते स्वर में वह बोली, 'लेकिन आप यह सब क्यों जानना चाहते हैं?'

मैंने उत्तर दिया, 'केवल इस कारण कि मैं इंसान हूँ। आप इस समय मुसीबत में फँसी दीखती हैं। इंसानियत के नाते मेरा यह कर्तव्य हो जाता है कि मैं आपके कुछ काम आ सकूँ। और मैं समझता हूँ, मुझसे मदद लेने में आपको किसी प्रकार का कोई संकोच नहीं होना चाहिये। मैं अपने किसी निजी स्वार्थ के लिए सहायता का हाथ आगे नहीं बढ़ा रहा हूँ। मैं तो एक भाई के नाते अपनी सेवाएँ आपको दे रहा हूं।'

उसकी आँखों में आँसू छलछला आये। मुझे दुःख हुआ। मैंने कहा, 'यदि मेरी बात से आप को दुःख हो रहा है तो आप रहने दीजिये। मेरा इरादा आपको दुःख पहुँचाने का नहीं था। इस प्रकार के अनुचित प्रश्न करने के लिए मैं आप से क्षमा चाहता हूँ।'

मेरी बात सुनकर उसने अपने आँसू पोंछ लिये। कुछ देर चुप रह अपने को

संयत कर वह बोली, 'नहीं, मुझे दुःख नहीं हुआ। आपकी बातों के अपनेपन से मैं अपने आँसू न रोक सकी थी। मैंने नहीं सोचा था कि मुझसे कभी कोई हमदर्दी जता सकता है—और वह भी भाई के नाते।'

इसके बाद उसने बहुत करुण ढंग से अपनी कहानी सुनायी—कहानी जो नयी नहीं थी। वह मध्यम श्रेणी के एक गृहस्थ की लड़की थी। पिता कई संतान छोड़ कर मर गये थे। ये चार-पाँच भाई-बहन अपनी विधवा मां के साथ अपने मामा के यहां रहते थे। पहले तो गुजारा जैसे-तैसे कर हो ही जाता था, लेकिन लड़ाई के बाद महँगाई बढ़ने के कारण मामा ने अपनी बड़ी भांजी के बढ़ते यौवन और रूप को परिवार की आमदनी का साधन बनाने की चेष्टायें करनी प्रारम्भ कर दी। शुरु में लड़की और लड़की की मां दोनों को यह बात अत्यन्त नागवार गुजरी। भाई (और मामा) से छिप-छिप कर वे दोनों रोयीं, किन्तु प्रकट उसका विरोध न कर सकीं। विरोध अगर करतीं भी तो जातीं कहां?...पेट पर पट्टी बांध कर तो वे लोग जी नहीं सकते थे!...और फिर उनके साथ छोटे-छोटे बच्चे भी थे—अबोध और अज्ञान, जिन्हें दुनिया के इस क्रय-विक्रय का कुछ भी ज्ञान नहीं था...और फिर संसार में क्रय-विक्रय तो लगा ही है। रोटी व भौतिक सुविधाओं के लिए प्रत्येक प्राणी अपने को बेचता है—उसे बेचना पड़ता है। कुछ अपने समय को बेचते हैं, कुछ अपने दिमाग को, कुछ अपनी मिहनत को, कुछ अपनी कला और दस्तकारी को कुछ अपने धर्म-ईमान को और कुछ अपने शरीर को...और शायद ये ही सबसे अभागे प्राणी होते हैं। वह भी अभागी थी, तभी तो अपने परिवार की जीविका के लिये उस बेचारी को इस घृणित व्यवसाय को बलात् अपनाना पड़ा। पहली बार किसी वृद्ध-से सेठ ने उसके रूप-यौवन का सौदा किया था, और आज दूसरी बार पंजाब के ये उच्छृंखल युवक उसके साथ खेलने के लिए उसे यहां—मसूरी—ले आये हैं, मामा की जेब अच्छी तरह गर्म कर...वह आंचल से मुँह ढांप फूट फूट कर रोने लगी।

अपने प्रश्नों द्वारा उसे रुलाने के कारण, मुझे अपने ऊपर बहुत खीज

आयी। क्यों मैंने यह सब पूछ कर उसके घावों को कुरेदा?...पुरुष होने पर भी मनुष्य की इस विवशता व असमर्थता पर मेरे आँसू आये बिना न रहे। संसार में हमें कितना लाचार बनाकर भेजा गया है! चाहने पर भी हम सीधा सचाई का जीवन नहीं बिता सकते!...हम अपने को कलुषता से दूर नहीं रख सकते।...अपनी ही तरह दुःखी और पीड़ित प्राणी की सहायता नहीं कर सकते।...अपनी समवेदना और सहानुभूति तक व्यक्त करने का अधिकार हमें नहीं है।

मुझे रोते देख उसके आसू रुकने लगे। एक फीकी मुस्कुराहट चेहरे पर लाकर अत्यन्त समझदार व्यक्ति की भांति वह बोली, 'देखिये, मैं कितनी अभागी हूँ।' अपनी इस बेकार की कहानी से आप को भी दुःखी कर दिया।'

मैंने कुछ भी उत्तर न दिया, चुप रहा।

बहुत वेदनाजन्य स्वर में उसने कहा, 'मजबूरी सब कुछ करा देती है। छोटे भाई-बहनों और मां के वास्ते ही यह सब करना पड़ रहा है।' फिर कुछ रुक कर कहा, 'अगर मैं आपकी तरह लड़का होती तो फौज में या नेवी में भरती हो जाती।'

सुनकर बहुत आघात पहुँचा। मैं ईश्वर की दुनिया के इस चलन को सोचने लगा—यह सब क्या हो रहा है?...क्यों हो रहा है!...और कब तक होता रहेगा!...यह भूख, यह रोटी-कपड़े की समस्या, गरीबों का पिंड क्या कभी न छोड़ेगी!...यह युवती जो आज अपने परिवार के रोटी कपड़े के लिए अपने को बेचने को विवश है, यह क्यों!...क्या दुनिया से शराफत उठ गयी है! क्या गरीबो इस परिवार पर अपना साया इसलिए किये हैं कि वह अपनी इज्जत बेचकर अपना पेट भरे!...यह कैसा ईश्वरत्व है!...यदि ईश्वर अपनी सृष्टि को जीवित रखने में असमर्थ हैं तो वह इसे खत्म क्यों नहीं कर देता! असहायों और दुखियों को इस तरह तिल-तिल कर जलाने में उसे क्या सुख मिल रहा है?...

मैंने साहस कर कहा, 'बहिन पाप का निस्तार पाप से ही होता है। कांटे

को कांटे से ही निकाला जाता है। अगर अनुचित न समझो तो मुझ पर विश्वास कर इसी समय यहाँ से निकल चलो। माना संसार में पैसा बहुत बड़ी चीज है, लेकिन इस पर भी यह अधिकार किसी भी व्यक्ति को नहीं है कि वह पैसे से एक दूसरे व्यक्ति की इज्जत खरीदे। ये दोनो आदमी शैतान हैं और इसी योग्य हैं कि इनसे शैतानियत ही बरती जाय। जब तक ये लोग लौटते हैं, तब तक हम यहाँ से दूर निकल जायेंगे। कल, राजपुर से मैं आपको आपके गांव, आपके भाई-बहनों के बीच पहुँचा दूँगा।' मैं स्वयं नहीं जानता, उस समय मेरे अन्दर इतना सब कहने व करने का साहस कैसे आ गया।

उसकी आँखें फिर डबडबा आयीं, 'आप मनुष्य नहीं, देवता हैं' वह बोली, 'मेरे लिए इतना कष्ट उठाने को तैयार हो रहे हैं; लेकिन मैं तो चांडालिनी हूँ। आपके उपकार को ग्रहण तक नहीं कर सकती।'

मैं उसकी बात का आशय न समझ पाया। बोला, 'मैं आप का मतलब नहीं समझ सका।'

लगभग रोते-से स्वर में वह बोली, 'इस जले कपाल को लेकर दुनिया में आई हूँ। अपने दुर्भाग्य से आपको परेशानियों में कैसे डाल दूँ? फिर पापिन तो हूँ ही, अब धोखेबाज़ कैसे बन जाऊँ? जो लोग मुझे पैसा देकर यहाँ तक लाये हैं, उनको खुशी के लिए सब कुछ करना मेरा कर्त्तव्य है। यदि उनके साथ इस तरह छल करूँगी तो ईश्वर के सामने क्या मुँह दिखाऊँगी? आज ईश्वर ने इस अवस्था को तो पहुँचा दिया है, कल अगर इससे ज्यादा दुर्गति करेगा तो वह भी सह लूँगी, लेकिन इस पापी पेट के लिए इस तरह छल-कपट करने को शायद मैं न सह पाऊँगी।'

मैं इस तरह खड़ा रह गया जैसे सैकड़ों घड़े पानी पड़ गया हो। कुछ हिम्मत बटोर कर मैंने कहा, 'यहां से निकल चलने पर आप अपने को एक पाप से तो सुरक्षित रख सकेंगी। इसे क्यों नहीं सोचतीं आप?'

एक क्षण चुप रह कर वह बोली, 'एक पाप से बचने के लिए दूसरा पाप करना तो ठीक नहीं हो सकता। फिर इस तरह कब तक अपने को सुरक्षित रह सकूंगी? यदि ऐसा ही होता तो ये दिन क्यों देखने पड़ते?'

उसने फिर कहा, 'मैं जानती हूँ, मैं कुपथ पर बढ़ रही हूँ, लेकिन यह सब अपनी इच्छा से तो नहीं करना पड़ रहा है। यह तो मजबूरी है। परन्तु इस तरह छल करने के लिये तो मैं मजबूर नहीं हूँ...दूसरे जब मेरा शरीर पवित्र नहीं रह गया है तो ऐसा छल करने से क्या बनेगा? भाग्य ने इस कीचड़ में ढकेला है, अब तो निकल सकना मुश्किल है। इस अपवित्र शरीर की थोड़ी-सी रक्षा के लिए अपने सिर पर लदी पापों की गठरी का बोझ न बढ़ाना चाहूँगी।'

क्रोध की एक तेज़ लहर मेरे सारे शरीर में दौड़ गयी—विचित्र है यह देवी भी!...पाप-पुण्य की व्याख्या तो कर रही है, परन्तु यह नहीं कर सकती कि अपने को इन नर-राक्षसों से बचा ले—जितने भी समय के लिए हो सके, उतने ही समय के लिये। जान-बूझ कर विपथगा बन रही है......

मैं कुछ कहने ही वाला था कि वह जैसे मेरे भावों को ताड़ कर बोली, 'आप मुझ पर बहुत नाराज़ हो रहे होंगे—मैं हूँ ही इस लायक। लेकिन क्या करूँ? यह कम्बख्त हृदय आपकी बात किसी तरह स्वीकार नहीं करता...आप अब जाइये। वह लोग आने ही वाले होंगे। मुझे इसी कुपथ पर चलते रहने के लिए छोड़ जाइये। कुछ प्राणी शायद इसीलिए जनमते हैं। आपने मुझे जो स्नेह और समवेदना दी है उसे मैं जीवन भर न भूल सकूँगी। ईश्वर से प्रार्थना है कि वह आपको सदैव सुखी रक्खे। अच्छा, नमस्ते।'

कुछ क्षण खामोश रह, चुपचाप हाथ जोड़ कर मैं दरवाजे की ओर घूम गया......

विनय सहसा रुक गया। फिर बोला, 'बस। घटना इतनी ही है। इसके आगे पीछे और कुछ नहीं है। यह तो बात की बात है कि उस तमाम रात और उसके बाद भी कई दिन तक मैं इसी सब पर विचार करता रहा। और मैं अभी तक किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सका हूँ। मैं समझ ही नहीं सका हूँ कि उसके उस आचरण के लिये उसे किस भावना ने प्रेरित किया—सत् ने या असत् ने?...जान-बूझ कर पाप-पंक में फँसने के लिये वह वहाँ रुकी, लेकिन उन लोगों से छल कर अपना शरीर बचाना उसे नहीं रुचा...पापात्मा की संज्ञा तो उसे

नहीं दी जा सकती, पर देवी की संज्ञा ?...क्या इस योग्य वह थी ?......फिर सोचता हूँ कि वह देवी ही—बहुत-सी देवियाँ विपथगा भी होती हैं न...'

और विनय ने अपनी बात समाप्त कर दी।

नरेश ने प्रतिवाद के लिए स्वर ऊपर उठाया। वह बोला, 'आप भूल रहे हैं विनय साहब कि वह स्त्री थी और स्त्रियाँ तो...' और अचानक भगवान जाने उसे क्या हो गया कि उसका तीव्र स्वर गिरता चला गया, यहाँ तक कि बाद के कुछ शब्द उसके ओठों तक ही सिमट कर रह गये। उसकी उठी दृष्टि नीचे झुक गई और वह धीरे से खामोश हो गया।

हम लोग हस्ब-मामूल खामोश थे।......

—००—

पं० सुधाकर पांडेय

जन्मकाल रचनाकाल

१९२७ ई० १९४६ ई०

डाक्टर इनफैनसाई का स्वागत

और कुछ तो जिन्दगी में न कर पाया, मित्रों और परिचितों की संख्या निश्चय ही अपने सानिध्य में आनेवालों से अधिक बड़ा पाया हूँ। इन मित्रों और परिचितों में स्वर्गीय जगत सेठ, भारतेन्दु, जयशङ्कर, 'प्रसाद' बाबू राव विष्णु पराड़कर आदि के अभिनव संस्करण और अवतार हैं। पर कुछ माने में वे उनसे भी भिन्न हैं, जिनमें एक यह कि सभी अपने युग से चार डग आगे हैं। कोई जगत सेठ से बड़ा प्रयोगिक अर्थशास्त्री, कोई 'प्रसाद' से बड़ा कवि और किसी की लेखनी ऐसी चलती है, जिसके कारण ही वह पत्र बिक पाता है, जिस यत्र से सैकड़ों की रोजी चलती है। इन मित्रों में से एक-दो तो ऐसे हैं जो कुशल व्यवसायी, अप्रतिम साहित्यकार और अभूतपूर्व पत्रकार एक साथ उसी प्रकार हैं जिस प्रकार सब वस्तुओं के लिए मुल्ला की दूकान।

इन मित्रों में जो सर्वाधिक विद्वान्, सर्वगुणसम्पन्न सफल पत्रकार तथा क्रान्तदर्शी विचारक और मौलिक चिन्तनकर्त्ता एक साथ ही हैं, उनका नाम है, नन्देश्वर कृष्णात्र। उनसे प्रायः मुझसे भेट इसलिए हो जाया करती है कि उनके कार्यालय के मार्ग पर मेरा आवास स्थित है। गली में थोड़ा घूमने का कष्ट मेरे स्नेह के कारण वे उठा लेते हैं, क्योंकि उनका कहना है कि वे अपने मित्रों के लिये बड़ा से बड़ा त्याग करने में नहीं हिचकते। यह तो साधारण बात है और मैं ही उनके मित्रों में से एक मात्र ऐसा हूँ जो उनकी प्रतिभा का सम्मान कर सकता हूं, क्योंकि और लोग उनकी महत्ता समझ ही नहीं पाये हैं।

कभी-कभी तो वे इसके कारण इतने दुखी हो जाते हैं कि उन्हें कहना पड़ता है कि मेरी यहां वैसी ही स्थिति है जैसी कोहनूर की किसी अन्धे, मूक और बाहरे के हाथ में पड़ने से हो सकती है।

धीरे-धीरे उन्होंने अपनी कृपा मुझपर इतनी बढ़ा दी कि चार-चार, पाँच-पाँच घण्टे मेरे यहाँ जमने लगे और अपनी प्रतिभा के सम्बन्ध में नित नूतन कहानियां सुनाते रहते। व्यवसाय इसलिए उन्होंने छोड़ दिया कि वे सात्विक जीवन व्यतीत करना चाहते थे, और सात्विक जीवन उनकी दृष्टि में आज साहित्यकार और पत्रकार का ही हो सकता है।

अब वे यह जीवन भी छोड़ना चाहते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में इस पवित्र क्षेत्र में भी साधना के साथ कृष्णमुखी व्यापार करने वालों की बाढ़ आ गई है। वे अब केवल पान की दूकान खोलकर किसी प्रकार अपना जीवन व्यतीत करना चाहते हैं।

कल वे मेरे यहां आये थे और इस बात की चर्चा की थी कि जब सेठ पखानिया की साझेदारी में वे रेशमी वस्त्र का व्यवसाय शंघाई में करते थे, तभी वहां की चीनी भाषा के पत्रों में उनकी रचनाएँ छपती थीं, उनका चित्र छपता था, उनके सम्मान में गोष्ठियां होती थीं और उनपर और उनके साहित्य पर वहां के बड़े-बड़े आलोचक प्रशंसात्मक आलोचना लिखा करते थे। उनको साहित्य की प्रेरणा एक चीनी समाजसेवी साहित्यिक महिला से मिली थी। उसने ही उनका प्रचार और प्रसार चीनी साहित्य में किया। पर जापानी युद्ध में वह मारी गई। इसलिए सभी काम-काज एवं व्यवसाय छोड़कर मन न लगने के कारण वे पुनः अपनी मातृभूमि भारत में चले आये तभी से राष्ट्र-भाषा की सेवा कर रहे हैं।

उनकी रचनाएँ पुस्तकाकार इसलिये नहीं छप सकीं कि हिन्दी का प्रकाशक बेईमान है। उनको बेईमानों से उतनी ही घृणा है जितनी मछली को धरती से, पानी को आग से और भारत में शास्त्रीय संगीतकार को हारमोनियम से। पत्रों में वे इसलिये नहीं लिखते कि उनके स्तर का साहित्य हिन्दी पत्रों में छपता नहीं और न हिन्दी पाठक अभी इतना प्रबुद्ध हो सका है कि उनकी रचनाओं का रस ले सके।

साधारण आदमी हूँ। साहित्य-चर्चा और मित्रता मात्र से ही यदि जीवन चल सकता तो मुझे कोई आपत्ति न होती, पर उन्होंने मेरा घर चंडूखाना समझ लिया था और मुझे परम मूर्ख। इसी बातचीत के सिलसिले में मैंने कहा कि कनफ्यूसस की डायरी में, जिसका अंग्रेजी में अनुवाद अभी बर्टेन रसेल नामक प्रकाशक ने करवाया है, एक भारती लेखक की चर्चा है और सम्भवतः नाम दिया गया है, नन्दी। इन्हें तो आप जानते ही होंगे। ऐसी मुस्कराहट के साथ जिसमें विश्वास और उपेक्षा का सम्मिश्रण था उन्होंने कहा—आपके सामने चीन का नन्दी उपस्थित है। वहां मुझे लोग इसी नाम से जानते थे। मेरी विदाई में जो आयोजन किया गया था उसका सभापतित्व उन्होंने ही किया था।

मैंने पुनः कहा—उस डायरी में डाक्टर इनफैनसाई की भी चर्चा की गयी है जिन्होंने नन्दी साहब के स्वागत—आयोजन में अत्यन्त उत्साहपूर्वक भाग लिया था।

उन्होंने कहा—हाँ हाँ, मेरी गत चीनी प्रेयसी का वह भाई है और इस समय तो वह चीन के सर्वश्रेष्ठ कहानीकारों में एक है वह प्रगतिवादी रचनाएँ करता है और माओ का एक तरह से तो साहित्यक सलाहकार ही है। वह मेरा बड़ा कृतज्ञ है। मेरे ही साथ रहने से तो वह प्रकाश में आ सका। पर आज भी जब इतने बड़े पद पर वह पहुँच गया है, मेरी कृतज्ञताओं के प्रति नत मस्तक रहता है।

उन्हें मैंने पत्नी के लिये दवा लाने का बहाना बना तत्काल बिदा किया और तीन-चार घण्टे पश्चात् पुनः उनके घर पर गया।

वे अपने घर में चटाई के अतिरिक्त और कुछ नहीं रखते थे। बर्तन चीनी मिट्टी के थे, पर सिल्क के दो-तीन कुरते और धुले पैजामे अश्वय टंगे रहते। इसका मूल कारण यह था कि सिल्क पहनने का उन्हें अभ्यास हो गया था और उनके शब्दों में सादे जीवन से उन्हें अत्यन्त प्रेम था। उनकी पत्नी के शरीर पर एक भी अलंकार नहीं था। वह इसलिये कि वे आज के युग में कोई खतरे की वस्तु घर में रखना नहीं चाहते थे, अतएव बैंक में ही सब कुछ रख छोड़ा था। अपना सात। लाख रुपया भी बैंक के स्थायी खाते में १३ वर्षों के लिये जमा

कर दिया था। डेढ़ सौ उन्हें वेतन मिलता था जो उनके शब्दों में ढाई सौ था। सन्तान न होने के कारण किसी प्रकार उनका खर्च तो चल जाता था, पर वे इतने बड़े दानी भी थे कि एक लाख का ब्याज गरीबों में गुप्त रूप से वितरित कर दिया करते थे, क्योंकि उस दान को वे दिखावा समझते थे जो नाम कमाने के लिये प्रकट रूप से दिया जाता है।

मैंने उनसे बनकर कहना प्रारम्भ किया—भाई; किसी ने प्रगतिशील साहित्यकारों की सूची में मेरा भी नाम चीनी दूतवास में भेज दिया है। बीच में मैं ही मेरी बात काटकर वे बोले—मुझसे पूछा गया था, मैंने आपका भी नाम भेज दिया।

मैंने कहा—बड़ी कृपा की आपने। परन्तु आपके जाने के पश्चात् एक पत्र मेरे पास आया जिसमें लिखा था कि चीनी दूतवास के सांस्कृतिक सलाहकार डाक्टर इनफैनसाई सारनाथ आये हुये हैं। वे कल एक बजे दिन में मेरे घर पर मुझसे मिलना चाहते हैं। क्या उस समय मै उनसे मिल सकूँगा?

मैंने आपके मकान का पता दे दिया इस कारण कि आपके स्वागत के आयोजन में भाग लेने वाले सम्भवत: यही रहे होंगे और दूसरी सुविधा यह होगी कि आप चीनी के ज्ञाता हैं, इसलिये कार्य सरल हो जायेगा।

उन्होंने विश्वासपूर्वक उत्तर दिया संभव है, उस नाम के कोई दूसरे सज्जन हों। और मैं तो चीनी लिख-पढ़ भर सकता हूँ, क्योंकि राष्ट्रभाषा हिन्दी में ही के प्रेम के कारण मैं सर्वत्र यहां तक की अपनी प्रेयसी से भी हिन्दी में ही बात करता था। दूसरी बात यह है कि यदि हम हिन्दी में उनसे बात न करेंगे तो वह समझेंगे कि हमारे भीतर राष्ट्रीयता की पूर्ण भावना अभी प्रतिष्ठित नहीं हुई।

'यह सब तो आपका काम है, पर उनके स्वागत की क्या व्यवस्था करनी होगी?'

'वह सब मेरे ऊपर छोड़िये। बहुत दिनों के बाद ऐसा अवसर मिल रहा है। ऐसा आयोजन तो रोज चीन में मैं किया करता था।'

'तो मैं जाऊँ?'

'हां, १२ बजे ही आप जाइयेगा।'

मैं उस समय वहाँ इसलिए नहीं रुक पाया कि उसी समय सायंकाल नगर विख्यात सेठ रामरखा के पुत्र मनबोध की दूकान पर नित्य जाता हूँ। हम दोनों थोड़ा समय दूकान के भीतर बैठकर गप-सड़ाका करते हैं फिर नौका पर टएढई-पानी के लिए निकल जाते हैं। भीतर हम बैठते, बाहर सोने-चाँदी, जवाहरात की बिक्री होती। भीतर की खिड़की से बाहर सड़क का भी दृश्य दिखाई पड़ता। आज मेरे मनबोध कहीं गये थे, पर उन्होंने कहला रखा था कि मैं उनकी वहाँ प्रतीक्षा करूँ। कोई काम भी तो नहीं था, मसनद के सहारे पड़ रहा।

आध घण्टे भी न बीते होंगे कि एक परिचित आवाज कान में आयी, मैं खिड़की से देखने लगा।—मैं एक नेकलेस बनवाना चाहता हूँ, जिसमें बहुमूल्य नवरत्न जड़वाना है। नवरत्न मेरे पास हैं! ज्योतिषी लोग भी क्या बला हैं? क्या आप अपने यहाँ की डिजाइनें दिखा सकते हैं? बूढ़े मुनीम ने खाँसते हुए डिजाइन की कापी सामने रख दी। थोड़ी देर तक उसे खोलकर वह सज्जन देखते रहे।

फिर उन्होंने कहना आरम्भ किया—आजकल की औरतें भी क्या हैं। देखिये पुरानी डिजाइनें उन्हें पसंद ही नहीं आतीं और ज्योतिषी को बहाना मिल जाता है। यह मेरी पत्नी की सिकड़ी है। अब नेकलेस चाहिये। बनी-बनायी चीज नष्ट करने में उन्हें जरा भी संकोच नहीं। तो इसे आप लेकर दाम दे दीजिये। मेरे पास सोना है, उसे और नव-रत्न लेकर परसों आऊँगा।

मुनीमजी ने सिकड़ी को कसौटी पर कसकर ७०) भरी का भाव बताया।

उक्त सज्जन ने कहा—जो हो, कोई बात नहीं। आपकी दूकान की साख के ही कारण तो यहाँ आता हूँ।

मुनीमजी ने उसे तौला। वजन बताकर बहीपर लिख उनके हाथ में नोटों का एक पुलन्दा रख दिया।

जाते समय उन्होंने कहा—परसों आऊँगा। मुनीमजी मौन रहे। मैंने देखा, एक लम्बा अधेड़ व्यक्ति, जिसके चेहरे पर सूखे आम-सी झुर्रियाँ पड़ गयी हैं, अपने अधरों पर मन की छिपी उदासी मुस्कान से छिपाये, सिल्क का कुरता और

पायजामा पहन कर अपनी दरिद्रता के घाव पर सफेदी की पट्टी बाँधे दुकान से जा रहा था।

मैं उद्वेलित हो उठा। अपने को पहले तो रोकना चाहा, पर मन न माना। दूकान में आया। मैंने सामने पड़ी सिकड़ी उठा ली और इतनी जल्दी में था कि कुछ सोच न पाया। केवल यही मैंने कहा—मुनीमजी मेरे नाम बही में इसका रुपया नोट कर लीजियेगा। फिर पागल की भाँति चल पड़ा। मुनीमजी के पास इतना साहस कहाँ जो मुझसे और कुछ पूछते।

मैं नन्देश्वर के घर आया। वह घर पर नहीं था। दूसरे कमरे में उसकी पत्नी थीं। मैं वहीं चला गया। चुपचाप बैठी चिंता की मुद्रा में वह कोंहड़ा चीरकर सायंकाल के लिए भोजन की तैयारी कर रही थीं। सामने केवल आटा था और दमकले से पत्थर के कोयले का धुँआ निकल रहा था। यह देखकर मैं सभल गया।

मैंने उनसे पहले अपने मित्र के बारे में पूछा। उन्होंने अपना काम छोड़कर मेरे सामने पीढ़ा रख दिया, बैठने के लिए और सिर तथा निगाहें नीची किये हुए कहा—एक घण्टा हुआ कहीं गये हैं।

मैंने कहा—एक जरूरी काम से आया हूँ। माँ ताली लेकर बाहर चली गयी हैं। श्रीमतीजी को सिनेमा ले जाना है। गहना एक भी ऊपर नहीं है, यदि कोई सिकड़ी आदि हो तो दे दीजिये। कल वापस कर दूँगा। वे सूने गले बाहर जाने को तैयार नहीं।

उन्होंने सहज स्वभाव से कहा—देखिये, आले पर ताली है और कोई गहना तो मेरे पास बचा नहीं, एक सिकड़ी भर है, उससे काम चल जाय तो ले लीजिये ?

मैंने कहा—नहीं, आप उठकर दे दीजिये।

वह उठीं, आलमारी खोलते ही उन्हें काठ मार गया। 'अरे कल ही तो यहाँ रखा था।'

मैंने कहा—'बक्स आदि में होगा।'

'सभी बक्सें खाली हैं। उन्होंने कहीं रख दिया होगा। रुक जाइये आते

ही होंगे।'

मैं कुछ बोल न सका। केवल देखता ही भर रह गया। एक तीस वर्ष की सुन्दर युवती, विधवा की भाँति सफेद वस्त्र धारण किये अपने पुरुष के भार से डूब रही थी।

मैंने धीरे से जेब में हाथ डाला। सिकड़ी निकालकर पीढ़े पर रख दी। 'यह रही' 'हाँ' कह दीजियेगा कि डाक्टर साईं दिल्ली लौट गये। अब कभी न आयेंगे। मैं वहाँ से चलता बना।

उसने कहा—सुनिये भी तो? यह आपको कहाँ मिली।

मैं बहरे व्यक्ति-सा चला आया। वह लपककर बाहर आयी, ड्योढ़ी पर रुक गयी।

और मैं तभी से कुछ सोचा करता हूँ। दुकान पर नन्दी, डा० साईं, कोहड़ा चीरती उनकी पत्नी और······सभी एक-एक कर स्मृति-लोक में आते रहते हैं और जब किसी के आने की आहट मिलती है तो सोचती हूँ नन्देश्वर आया, पर अब वह नहीं आता।

—:०:—

श्री कमलेश्वर

जन्मकाल रचनाकाल

१९३२ ई० १९४७ ई०

राजा निरबंसिया

'एक राजा निरबंसिया थे—माँ कहानी सुनाया करती थीं। उनके आस-पास ही चार-पाँच बच्चे अपनी मुट्ठियों में फूल दबाये कहानी समाप्त होने पर गौरों पर चढ़ाने के लिए उत्सुक-से बैठ जाते थे। आटे का सुन्दर-सा चौक पुरा होता, उसी चौक पर मिट्टी की छः गौरें रखी जातीं जिसमें से ऊपरवाली को बिंदिया और सिंदूर लगता। बाकी पाँच नीचे दबी पूजा ग्रहण करती रहतीं। एक ओर दीपक की बाती स्थिर-सी जलती रहती और दूसरी ओर मंगल-घट रखा रहता जिसपर रोली से सथिया बनाया जाता। सभी बैठे बच्चों के मुख पर फूल चढ़ाने की उतावली की जगह कहानी सुनने की सहज स्थिरता उभर आती।

'एक राजा निरबंसिया थे—माँ सुनाया करती थीं—उनके राज में बड़ी खुशहाली थी। सब वरण के लोग अपना-अपना काम-काज देखते थे। कोई दुखी नहीं दिखायी पड़ता था। राजा के एक लक्ष्मी-सी रानी थी, चन्द्रमा-सी सुन्दर और...और राजा को बहुत प्यारी। राजा राजकाज देखते और सुख से महल में रानी के साथ रहते...'

मेरे सामने मेरे खयालों का राजा था, राजा जगपती।...तब जगपती से मेरी दाँतकाटी दोस्ती थी, दोनों मिडिल स्कूल में पढ़ने जाते। दोनों एक-से घर के थे, इसलिए बराबरी की निभती थी। मैं मैट्रिक पास करके एक स्कूल में नौकर हो गया और जगपती कस्बे के ही वकील के यहाँ मुहर्रिर। जिस साल जगपती मुहर्रिर हुआ, उसी वर्ष पास के गाँव में उसकी शादी हुई, पर ऐसी हुई कि लोगों ने तमाशा बना देना चाहा। लड़की वालों का कुछ विश्वास था कि शादी के

बाद लड़की की बिदा नहीं होगी। ब्याह हो जायगा और सातवीं भाँवर तब पड़ेगी, जब पहली बिदा की सायत होगी और तभी लड़की अपनी ससुराल जायगी। जगपती की पत्नी थोड़ी-बहुत पढ़ी-लिखी थी, पर घर की लीक को कौन मेटे! बारात बिना बहू के वापस आ गयी थी और लड़के वालों ने तै कर लिया था कि अब जगपती की शादी कहीं और कर दी जायगी, चाहे कानी-लूली से हो, पर वह लड़की अब घर में नहीं आयगी। लेकिन साल ख़तम होते-होते सब ठीक-ठाक हो गया। लड़की वालों ने माफ़ी माँग ली और जगपती की पत्नी अपनी ससुराल आ ही गयी।

जगपती को जैसे सब-कुछ मिल गया और सास ने बहू की बलइयाँ लेकर घर की सब चाभियाँ सौंप दीं, गृहस्थी का सब ढंग-चार समझा दिया। जगपती की माँ न जाने कब से आस लगाये बैठी थीं। उन्होंने आराम की साँस ली। पूजा-पाठ में समय कटने लगा, दोपहरिया दूसरे घरों के आँगन में बीतने लगी। पर साँस का रोग था उन्हें, सो एक दिन उन्होंने अपनी अंतिम घड़ियाँ गिनते हुए चन्दा को पास बुलाकर समझाया था—बेटा, जगपती बड़े लाड़-प्यार का पाला है। जबसे तुम्हारे ससुर नहीं रहे, तबसे इसके छोटे-मोटे हठ को पूरा करती रही हूँ...अब तुम ध्यान रखना।...फिर रुककर उन्होंने कहा था—जगपती किसी लायक हुआ है, तो रिश्तेदारों की आँखों में करकने लगा है। तुम्हारे बाप ने ब्याह के वक्त नादानी की, जो तुम्हें बिदा नहीं किया। मेरे दुश्मन देवर-जेठों को मौका मिल गया। तूमार खड़ा कर दिया कि अब बिदा करवाना नाक कटवाना है।...जगपती का ब्याह क्या हुआ, उन लोगों की छाती पर साँप लोट गया। सोचा, घर की इज़्ज़त रखने की आड़ लेकर रंग में भंग कर दें।...अब, बेटा, इस घर की लाज तुम्हारी लाज है।...आज को तुम्हारे ससुर होते तो भला...—कहते-कहते माँ की आँखों में आँसू आ गये और वह जगपती की देख-भाल उसे सौंपकर सदा के लिए मौन हो गयी थीं।

एक अरमान उनके साथ ही चला गया कि जगपती की संतान को, चार बरस इन्तजार करने के बाद भी, वह गोद में न खिला पायीं। चन्दा ने मन में सब्र कर लिया था यही सोचकर कि कुल-देवता का अंश तो उसे जीवन भर

पूजने को मिल गया था। घरमें चारों तरफ जैसे उदारता बिखरी रहती, अपनापा बरसता रहता। उसे लगता जैसे घर की अन्धेरी, एकान्त कोठरियों में वह शांत शीतलता है जो उसे भरमा लेती है। घर की सब कुण्डियों की खनक उसके कानों में बस गयी थी, हर दरवाजे की चरमराहट पहचान बन गयी थी।...

'एक रोज राजा आखेट को गये—माँ सुनाती थीं—राजा आखेट को जाते थे तो सातवें रोज जरूर महल में लौट आते थे। पर उस दफ़ा जब गये, तो सातवाँ दिन निकल गया पर राजा नहीं लौटे। रानी को बड़ी चिन्ता हुई। रानी एक मन्त्री को साथ लेकर खोज में निकलीं...'

और इसी बीच जगपती को रिश्तेदारी की एक शादी में जाना पड़ा। उसके दूर के रिश्ते के भाई दयाराम की शादी थी। कह गया था कि दसवें दिन जरूर वापस आ जायगा। पर छठें दिन ही खबर मिली कि बारात घर लौटने पर दयाराम के घर डाका पड़ गया। किसी मुखबिर ने सारी खबरें पहुँचा दी थीं कि लड़की वालों ने दयाराम का घर सोने-चाँदी से पाट दिया है...आखिर पुश्तैनी ज़मीदार की इकलौती लड़की थी। घर आये मेहमान लगभग बिदा हो चुके थे। दूसरे रोज जगपती भी चलने वाला था। पर उसी रात डाका पड़ा। जवान आदमी, भला खून मानता है। डाकेवालों ने जब बन्दूकें चलायीं, तो सबकी घिग्घी बँध गयी। पर जगपती और दयाराम ने छाती ठोंककर लाठियाँ उठा लीं। घर में कुहराम मच गया।...फिर सन्नाटा छा गया। डाकेवाले बराबर गोलियाँ दाग़ रहे थे। बाहर का दरवाजा टूट चुका था। पर जगपती ने हिम्मत बढ़ाते हुए हाँक लगायी—ये हवाई बन्दूकें इन तेल पिलायी लाठियों का मुक़ाबिला नहीं कर पायेंगी, जवानो!

पर दरवाजे तड़-तड़ टूटते रहे और अन्त में एक गोली जगपती की जाँघ को पार करती निकल गयी और दूसरी उसकी जाँघ के ऊपर कूल्हे में समाकर रह गयी।

चन्दा रोती-कलपती और मनौतियाँ मानती जब वहाँ पहुँची तो जगपती अस्पताल में था। दयाराम को थोड़ी चोट आयी थी। उसे अस्पताल से छुट्टी मिल गयी थी। जगपती की देख-भाल के लिए वहीं अस्पताल में मरीजों के

रिश्तेदारों के लिए जो कोठरियाँ बनी थीं, उन्हीं में चन्दा को रुकना पड़ा। कस्बे के अस्पताल से दयाराम का गाँव चार कोस पड़ता था। दूसरे-तीसरे वहाँ से आदमी आते-जाते रहते, जिस समान की ज़रूर होती पहुँचा जाते।

पर धीरे-धीरे उन लोगो ने भी खबर लेना छोड़ दिया। एक दिन का मर्ज तो न था। कहीं जाँघ की हड्डी चटख गयी थी और कूल्हे में आपरेशन से छः इंच गहरा घाव हो गया था।

कस्बे का अस्पताल था। कम्पाउडर ही मरीजों की देख-भाल रखते। बड़ा डाक्टर तो नाम के लिए था या कस्बे के बड़े आदमियों के लिए। छोटे लोगों के लिए तो कम्पोटर साहब ही ईश्वर के अवतार थे। मरीजों की देख-भाल करने वाले रिश्तेदारों की खाने-पीने की मुश्किलों से लेकर मरीज की नब्ज़ तक सँभालते थे। छोटी-सी इमारत में अस्पताल आबाद था। रोगियों के लिए सिर्फ छः सात खाटें थीं। मरीज़ों के कमरे से लगा दवा बनाने का कमरा था, उसी में एक ओर एक आरामकुर्सी थी और एक नीची-सी मेज़। उसी कुर्सी पर बड़ा डाक्टर आकर कभी-कभी बैठता, नहीं तो बचनसिंह कम्पाउण्डर ही जमे रहते। अस्पताल में या तो फौजदारी के शहीद आते या गिर-गिराके हाथ पैर तोड़ लेने वाले एक-आध लोग। छठें-छमासे कोई औरत दिख गयी, तो दिख गयी, जैसे उन्हें कभी रोग घेरता ही नहीं था। कभी कोई बीमार पड़ती तो घरवाले हाल बताके आठ-दस रोज की दवा एक साथ ले जाते और फिर उसके जीने-मरने की खबर तक न मिलती।

उस दिन बचनसिंह जगपति के घाव की पट्टी बदलने आया। उसके आने में और पट्टी खोलने में कुछ ऐसी लापरवाही थी, जैसे गलत बँधी पगड़ी को ठीक से बाँधने के लिए खोल रहा हो। चन्दा उसकी कुर्सी के पास ही साँस रोके खड़ी थी। वह और रोगियों से बातें भी करता जा रहा था। इधर मिनट भर को देखता, फिर जैसे अभ्यस्त से उसके हाथ अपना काम करने लगते। पट्टी एक जगह खून से चिपक गयी थी, जगपती बुरी तरह कराह उठा, चन्दा के मुँह से चीख निकल गयी। बचनसिंह ने सतर्क होकर देखा तो चन्दा मुख में धोती का पल्ला खोले अपनी भयातुर आवाज़ दबाने की चेष्टा कर रही थी। जगपती एकबा-

रंगी मछली-सा तड़पकर रह गया। बचन सिंह की अँगुलियाँ थोड़ी-सी थरथरायीं कि उसकी बाँह पर टप-से चन्दा का आँसू चू पड़ा।

बचनसिंह सिहर-सा गया और उसके हाथों की अभ्यस्त निठुराई को जैसे किसी मानवीय कोमलता ने धीरे से छू दिया। आहों, कराहों, दर्द-भरी चीखों और कलपती सिसकियों, ऐंठते दर्द और चटखते शरीर के जिस वातावरण में रहते हुए भी वह बिल्कुल अलग रहता था, फोड़ों को पके आम-सा दाब देता था, खाल को आलू सा छील देता था······उसके मन से जिस दर्द का अहसास उठ गया था, वह उसे आज फिर हुआ और वह बच्चे की तरह फूँक-फूँककर पट्टी को नम करके खोलने लगा। चन्दा की ओर धीरे से निगाह उठाकर देखते हुए फुसफुसाया— च···च···रोगी की हिम्मत टूट जाती है ऐसे।

पर जैसे यह कहते-कहते उसका मन खुद अपनी बात से उचट गया। यह बेपरवाही तो चीख और कराहों की एकरसता से उसे मिली थी, रोगी की हिम्मत बढ़ाने की कर्त्तव्य-निष्ठा से नहीं। जब तक वह घाव की मलहम-पट्टी करता रहा, तब तक किन्हीं दो आँखों की करुणा उसे घेरे रही।

और हाथ धोते समय वह चन्दा की उन चूड़ियों से भरी कलाइयों को बेझिझक देखता रहा जो अपनी खुशी उसमें माँग रही थीं। चन्दा पानी डालती जा रही थी और बचनसिंह हाथ धोते-धोते उसकी कलाइयों, हथेलियों और पैर को देखता जा रहा था। दवाखाने की ओर जाते हुए उसने चन्दा को हाथ के इशारे से बुलाकर कहा—दिल छोटा मत करना···जाँघ का घाव तो दस रोज में भर जायगा। कूल्हे का घाव कुछ दिन जरूर लेगा। अच्छी-से अच्छी दवाई दूँगा। दवाइयाँ तो ऐसी हैं कि मुर्दे को चंगा कर दें, पर हमारे अस्पताल में नहीं आतीं, फिर भी······।

'तो किसी दूसरे अस्पताल से नहीं आ सकतीं वो दवाइयाँ?'—चन्दा ने पूछा।

'आ तो सकती हैं, पर मरीज़ को अपना पैसा खरचना पड़ता है उनमें···—' बचनसिंह ने कहा।

चन्दा चुप रह गयी; तो बचनसिंह के मुह से अनायास ही निकल पड़ा— किसी चीज की जरूरत हो तो मुझसे बताना।···रही दवाइयाँ, सो कहीं-न-कहीं

से इन्तजाम करके ला दूँगा। महकमे से मँगायेंगे, तो आते-अवाते महीनों लग जायँगे। शहर के डाक्टर से मँगवा दूँगा। ताकत की दवाइयों की बड़ी ज़रूरत है उसे। अच्छा, देखा जायगा...।' कहते-कहते वह रुक गया।

चन्दा ने कृतज्ञता-भरी नज़रों से उसे देखा और उसे लगा जैसे आँधी में उड़ते पत्ते को कोई अटकाव मिल गया हो। आकर वह जगपती की खाट से लगकर बैठ गयी। उसकी हथेली लेकर वह सहलाती रही। नाखूनों को अपने पोरों से दबाती रही।

धीरे-धीरे बाहर अँधेरा पड़ चला। बचनसिंह तेल की एक लालटेन लाकर मरीजों के कमरे के एक कोने में रख गया। चन्दा ने जगपती की कलाई दाबते-दाबते धीरे से कहा -कम्पाउण्डर साहब कह रहे थे...—और इतना कहकर वह जगपती का ध्यान आकृष्ट करने के लिए चुप हो गयी।

'क्या कह रहे थे?'—जगपती अनमने स्वर में बोला।

'कुछ ताकत की दवाइयाँ तुम्हारे लिए जरूरी हैं!'

'मैं जानता हूँ।'

'पर...'

'देखो, चन्दा, चादर के बराबर ही पैर फैलाये जा सकते हैं। हमारी औकात इन दवाइयों की नहीं है।'

'औकात आदमी की देखी जाती है कि पैसे की? तुम तो...'

'देखा जायगा।'

'कम्पाउण्डर साहब इन्तजाम कर देंगे, उनसे कहूँगी मैं।'

'नहीं, चन्दा, उधारखाते मेरा इलाज नहीं होगा...चाहे एक के चार दिन लग जायँ।'

'इसमें तो...'

'तुम नहीं जानतीं, कर्ज़ कोढ़ का रोग है, एक बार लगा तो तन तो गलता ही है, मन भी रोगी हो जाता है।'

'लेकिन...'—कहते-कहते वह रुक गयी।

जगपती अपनी बात की टेक रखने के लिए दूसरी ओर मुँह घुमाकर

लेट रहा ।

और तीसरे रोज़ जगपती के सिरहाने कई ताक़त की दवाइयाँ रखी थीं, और चन्दा की ठहरनेवाली कोठरी में उसके लेटने के लिए एक खाट भी पहुँच गयी थी। चन्दा जब आयी तो जगपती के चेहरे पर मानसिक पीड़ा की असंख्य रेखाएँ उभरी थीं, जैसे वह अपनी बीमारी से लड़ने के अलावा स्वयं अपनी आत्मा से भी लड़ रहा हो...चन्दा की नादानी और स्नेह से भी उलझ रहा हो और सबसे ऊपर सहायता करनेवाले की दया से जूझ रहा हो।

चन्दा ने देखा तो, जैसे यह-सब सह न पायी। उसके जी में आया कि कह दे, क्या आज तक तुमने कभी किसी से उधार पैसे नहीं लिये ? पर वह तो खुद तुमने लिये थे और तुम्हें मेरे सामने स्वीकार नहीं करना पड़ा था। इसीलिये लेते झिझक नहीं लगी, पर आज मेरे सामने उसे स्वीकार करते तुम्हारा झूठा पौरुष तिलमिलाकर जाग पड़ा है। जगपती के मुख पर बिखरी हुई पीड़ा में जिस आदर्श की गहराई थी, वह चन्दा के मन में चोर की तरह घुस गयी और बड़ी स्वाभाविकता से उसने उसके माथे पर हाथ फेरते हुए कहा—ये दवाइयाँ किसी की मेहरबानी नहीं हैं, मैंने हाथ का कड़ा बेचने को दे दिया था। उसी से आयी हैं।

'मुझसे पूछा तक नहीं, और...जगपती ने कहा और जैसे खुद मन की कमजोरी को दाब गया—कड़ा बेचने से तो अच्छा था कि बचनसिंह की दया ही ओढ़ ली जाती।' और उसे हल्का-सा पछतावा भी था कि नाहक वह रौ मे बड़ी-बड़ी बातें कह जाता है, ज्ञानियों की तरह सीख दे देता है।

और जब चन्दा अँधेरा होते उठकर अपनी कोठरी में सोने के लिए जाने को हुई तो वह कहते-कहते यह बात दबा गयी कि बचनसिंह ने उसके लिए एक खाट का इन्तज़ाम भी करा दिया है। कमरे से निकली तो सीधी कोठरी में गयी और हाथ का कड़ा लेकर सीधे दवाखाने की ओर चली गयी जहाँ बचनसिंह अकेला डाक्टर की कुर्सी पर आराम से टाँगें फैलाये लैम्प की पीली रोशनी में लेटा था। जगपती का व्यवहार उसे लग गया था, और यह भी कि वह क्यों बचनसिंह का एहसान अभी से लाद ले, पति के लिए जेवर की कितनी

औकात है। वह बेधड़क-सी दवाखाने में घुस गयी। दिन की पहचान के कारण उसे कमरे की मेज़-कुर्सी और दवाओं की आलमारी की स्थिति का अनुमान था, वैसे कमरा अँधेरा ही पड़ा था क्योंकि लैम्प की रोशनी केवल अपने वृत्त में अधिक प्रकाशवान होकर कोनों के अँधेरे को और भी घनीभूत कर रही थी। बचनसिंह ने चन्दा को घुसते ही पहचान लिया। वह उठकर खड़ा हो गया। चन्दा ने भीतर कदम तो रख दिया, पर सहसा सहम गयी जैसे वह किसी अँधेरे कुँए में अपने-आप कूद पड़ी हो, ऐसा कुआँ, जो निरन्तर पतला होता गया है...और जिसमें पानी की गहराई पाताल की पर्तों तक चली गयी हो, जिसमें पड़कर वह नीचे धँसती चली जा रही हो, नीचे...अँधेरा...एकान्त घुटन...पाप!

बचनसिंह अवाक् ताकता रह गया और चन्दा ऐसे वापस लौट पड़ी जैसे किसी काले पिशाच के पंजों से मुक्ति मिली हो। बचनसिंह के सामने क्षण-भर में सारी परिस्थिति कौंध गयी और उसने वहाँ से बहुत संयत, सधी, आवाज़ से जबान को दाबते हुए जैसे वायु में स्पष्ट ध्वनित करा दिया—चन्दा!—वह आवाज इतनी बेआवाज थी और निरर्थक होते हुए भी इतनी सार्थक थी कि उस खामोशी में अर्थ भर गया।

चन्दा रुक गयी।

बचनसिंह उसके पास जाकर रुक गया।

सामने का घना पेड़ स्तब्ध खड़ा था; उसकी काली परछाइँ की परिधि जैसे एक बार फैलकर उन्हें अपने वृत्त में समेट लेती और दूसरे ही क्षण मुक्त कर देती। दवाखाने की लैम्प सहसा भभककर रुक गयी और मरीज़ों के कमरे से एक कराह की आवाज दूर मैदान के छोर तक जाकर डूब गयी।

चन्दा ने वैसे ही नीचे ताकते हुए अपने को संयत करते हुए कहा—यह कड़ा तुम्हें देने आयी थी।

'तो वापस क्यों चली जा रही थीं?'

चन्दा चुप। और दो क्षण रुककर उसने अपने हाथ का सोने का कड़ा धीरे से उसकी ओर बढ़ा दिया, जैसे देने का साहस न होते हुए भी यह काम आवश्यक था।

बच्चनसिंह ने उसकी सारी काया को एक बार देखते हुए अपनी आँखें उसके सिर पर जमा दीं जिसके ऊपर पड़े कपड़े के पार नरम चिकनाई से भरे लम्बे-लम्बे बाल थे, जिनकी भाप-सी महक फैलती जा रही थी। वह धीरे से बोला—लाओ।

चन्दा ने कड़ा उसकी ओर बढ़ा दिया। कड़ा हाथ में लेकर वह बोला—लेकिन सुनो।

चन्दा ने प्रश्न-भरी नजरें उसकी ओर उठा दीं।

उनमें झाँकते हुए, पर अपने हाथ से उसकी कलाई पकड़ते हुए उसने वह कड़ा उसकी कलाई में पहना दिया और बोला—ब्याही औरतें हमेशा मेरी कमज़ोरी रही हैं, चन्दा!

चन्दा चुपचाप कोठरी की ओर चल दी और बचनसिंह दवाख़ाने की ओर। कालिख बुरी तरह बढ़ गयी थी और सामने खड़े पेड़ की काली परछाईं गहरी पड़ गयी थी। दोनों लौट गये थे। पर जैसे उस कालिख में कुछ रह गया था, छूट गया था। दवाख़ाने की लैम्प जो जलते-जलते एक बार भभकी थी, उसमें तेल न रह जाने के कारण बत्ती की लौ बीच से फट गयी थी, उसके ऊपर धुएँ की लकीरें बल खाती, साँप की तरह अँधेरे में विलीन हो जाती थीं।

सुबह जब चन्दा जगपती के पास पहुँची और बिस्तर ठीक करने लगी तो जगपती को लगा कि चन्दा बहुत उदास थी। क्षण-क्षण में चन्दा के मुख पर अनगिनत भाव आ-जा रहे थे, जिनमें असमंजस था, पीड़ा थी और निरीहता। कोई अदृश्य पाप कर चुकने के बाद हृदय की गहराई से किये गये पश्चात्ताप की-सी धूमिल चमक!...

रानी मंत्री को लिये खोज कर के जब निराश होकर लौटी, तो देखा, राजा महल में उपस्थित थे। उनकी खुशी का ठिकाना न रहा—माँ सुनाया करती थीं—पर राजा को रानी का इस तरह मंत्री के साथ जाना अच्छा नहीं लगा। रानी ने राजा को समझाया कि वह तो केवल राजा के प्रति अटूट प्रेम के कारण अपने को न रोक सकी। राजा रानी एक-दूसरे को बहुत चाहते थे। पर दोनों के दिलों में एक बात शूल-सी गड़ती रहती कि उनके कोई सन्तान न थी...

राजवंश का दीपक बुझने जा रहा था। सन्तान के अभाव में उनका लोक-परलोक बिगड़ा जा रहा था और कुल की मर्यादा नष्ट होने की शंका बढ़ती जा रही थी।...

दूसरे दिन बचनसिंह ने मरीज़ों की मलहम-पट्टी करते वक्त बताया था कि उसका तबादला मैनपुरी के सदर अस्पताल में हो गया है और वह परसों यहाँ से चला जायगा। जगपती ने सुना तो उसे भला ही लगा।···आये दिन तो रोग घेरे रहते हैं, बचनसिंह उसके शहर के अस्पताल में पहुँचा जा रहा है, तो कुछ मदद मिलती ही रहेगी। आखिर वह ठीक तो होगा ही और फिर मैनपुरी के सिवा कहाँ जायगा? पर दूसरे ही क्षण उसका दिल अकथ भारीपन से भर गया। पता नहीं, क्यों चन्दा के अस्तित्व का ध्यान आते ही उसे इस सूचना में कुछ ऐसे नुकीले काँटे दिखायी देने लगे जो उसके शरीर में किसी भी समय चुभ सकते थे, जरा-सा बेखबर होने पर बींध सकते थे। और तब उसके सामने आदमी के अधिकार की लक्ष्मण-रेखाएँ धुएँ की लकीर की तरह काँपकर मिटने लगीं और मन में छुपे संदेह के राक्षस बाना बदल योगी के रूप में घूमने लगे।

पन्द्रह-बीस रोज़ बाद जब जगपती की हालत सुधर गयी, तो चन्दा उसे लेकर घर लौट आयी। जगपती चलने-फिरने लायक हो गया था। घर का ताला जब खोला, तब रात झुक आयी थी और फिर उनकी गली में तो शाम से ही अँधेरा भरना शुरू हो जाता था। पर गली में आते ही उन्हें लगा जैसे कि बनवास काटकर राजधानी लौटे हों। नुक्कड़ पर ही जमुना सुनार की कोठरी में सुरही फिंक रही थी, जिसके दराज़दार दरवाजों से लालटेन की रोशनी की लकीर झाँक रही थी और कच्ची तम्बाकू का धुआँ रुँधी गली के मुहाने पर बुरी तरह भर गया था। सामने ही मुंशीजी अपनी झिंगली खटिया के गड्ढे में, कुप्पी के मद्धिम प्रकाश में खसरा-खतौनी बिछाये मीज़ान लगाने में मशगूल थे। जब जगपती के घर का दरवाजा खड़का तो अँधेरे में उसकी चाची ने अपने जंगले से देखा और वहीं से बैठे-बैठे अपने घर के भीतर ऐलान कर दिया—राजा निरबंसिया अस्पताल से लौट आये...कुलमा भी आयी है!

ये शब्द सुनकर घर के अँधेरे बरोठे में घुसते ही जगपती हाँफकर बैठ गया,

झुँझलाकर चन्दा से बोला—अँधेरे में क्या मेरे हाथ-पैर तुड़वाओगी, भीतर जाकर लालटेन जला लाओ न।

'तेल नहीं होगा, इस वक्त जरा ऐसे ही काम...'

'तुम्हारे कभी कुछ नहीं होगा...न तेल न...कहते-कहते जगपती की जबान ऐंठकर रह गयी। और चन्दा को लगा कि आज पहली बार जगपती ने उसके व्यर्थ मातृत्व पर इतनी गहरी चोट कर दी जिसकी गहराई की उसने कभी कल्पना नहीं की थी। उसके शरीर की सारी शक्ति सूख-सी गयी। मुर्दों की तरह खामोश, बिना एक बात किये दोनों अन्दर चले गये।'

रात के बढ़ते सन्नाटे में दोनों के सामने दो बातें थीं।

जगपति के कानों में कोई व्यंग के हथौड़े मार-मारकर कह रहा था—राजा निरबंसिया अस्पताल से आ गये!

और चन्दा के दिल में छेद करता वह वाक्य घुसा जा रहा था—तुम्हारे कभी कुछ नहीं होगा...

और सिसकती-सिसकती चन्दा न जाने कब सो गयी। पर जगपती की आँखों में नींद न आयी। खाट पर पड़े-पड़े उसके चारों ओर एक मोहक, भयावना-सा जाल फैल गया। लेटे-लेटे उसे लगा जैसे उसका स्वयं का आकार बहुत क्षीण होता-होता बिन्दु-सा रह गया, पर बिन्दु के हाथ थे, पैर थे और दिल की धड़कन भी। कोठरी का घुटा-घुटा सा अँधियारा, मटमैली दीवारें और गहन गुफाओं-सी आलमारियाँ, जिनमें से बार-बार कोई झाँककर देखता था...और वह सिहर उठता था...फिर जैसे सब कुछ तबदील हो गया हो।...उसे लगा कि उसका आकार बढ़ता जा रहा है, बढ़ता जा रहा है। वह मनुष्य हुआ, लम्बा-तगड़ा तन्दुरुस्त पुरुष हुआ, उसकी शिराओं में कुछ फूट पड़ने के लिए व्याकुलता से खौल उठा। उसके हाथ शरीर के अनुपात से बहुत बड़े, डरावने और भयानक हो गये, उनमें लम्बे-लम्बे नाखून निकल आये...वह राक्षस हुआ दैत्य हुआ...आदिम बर्बर।

और बड़ी तेजी से सारा कमरा एकबारगी चक्कर काट गया। दीवारें गुजरती गाड़ी-सी सरपट दौड़ने लगीं, सारी छत उड़ गयी।...पर फिर सब धीरे-धीरे स्थिर

होने लगा। दीवारें स्थिर हुईं, छत अपनी जगह आकर बैठ गयी और उसकी साँसें ठीक होती जान पड़ीं। फिर जैसे बहुत कोशिश करने पर घिग्घी बँध जाने के बाद उसकी आवाज़ फूटी—चन्दा!

चन्दा की नरम साँसों की हलकी सरसराहट कमरे में जान डालने लगी। जगपती अपनी पाटी का सहारा लेकर झुका। काँपते पैर उसने ज़मीन पर रखे और चन्दा की खाट के पास से सिर टिकाकर बैठ गया। उसे लगा जैसे चन्दा की इन साँसों की आवाज में जीवन का संगीत गूँज रहा है। वह उठा और चन्दा के मुख पर झुक गया।...उस अँधेरे में आँखें गड़ाये-गड़ाये जैसे बहुत देर बाद स्वयं चन्दा के मुख पर आभा फूटकर अपने आप बिखरने लगी...उसके नक्श उज्वल हो उठे और जगपती की आँखों की ज्योति मिल गयी। चन्दा के मुख को फूटती आभा प्रखर होती गयी और वह मुग्ध-सा ताकता रहा।

चन्दा के बिखरे बाल, जिनमें हाल के जन्मे बच्चे के गबुआरे बालों की-सी महक...दूध की कचाइँध...शरीर के रस की सी मिठास और स्नेह-सी चिकनाहट। और वह माथा जिस पर बालों के पास तमाम छोटे-छोटे, नरम-नरम-से रोएँ...रेशम से...और उसपर कभी लगायी गयी सेन्दुर की बिन्दी का हल्का-सा मिटा हुआ सा आभास...नन्हें-नन्हें निर्द्वन्द सोये पलक! और उनकी मासूम-सी काँटों की तरह बरोनियाँ और साँस में घुलकर आती हुई वह आत्मा की निष्कपट आवाज़ की लय...फूल की पँखुरी से पतले पतले ओंठ, उनपर पड़ी अछूती रेखाएँ, जिनमें सिर्फ दूध-सी महक!

उसकी आँखों के सामने ममता-सी छा गयी, केवल ममता, और उसके मुख से अस्फुट-से शब्द निकल गये—बच्ची!

डरते-डरते उसके बालों की एक लट को बड़े जतन से हाथ पर रखा और उँगली से उसपर जैसे लकीरें खींचने लगा। उसे लगा, जैसे कोई शिशु उसके अंक में आने के लिए छटपटाकर निराश होकर सो गया हो। उसने दोनों हथेलियों को पसारकर उसके सिर को अपनी सीमा में भर लेना चाहा कि कोई कठोर चीज उसकी अँगुलियों से टकरायी।

वह जैसे होश में आया।

बड़े सहारे से उसने चन्दा के नीचे टटोला। एक रूमाल में बँधा कुछ उसके हाथ में आ गया। अपने को संयत करता वह वहीं जमीन पर बैठ गया, उसी अँधेरे में उस रूमाल को खोला तो जैसे साँप सूँघ गया; चन्दा के हाथ के दोनों सोने के कड़े उसमें लिपटे थे!

और तब उसके सामने जैसे सब सृष्टि धीरे-धीरे टुकड़े-टुकड़े होकर बिखरने लगी। ये कड़े तो चन्दा बेचकर उसका इलाज कर रही थी। वे सब दवाइयाँ और ताक़त के टॉनिक...उसने तो कहा था, ये दवाइयाँ किसी की मेहरबानी नहीं हैं, मैंने हाथ के कड़े बेचने को दे दिये थे...पर...पर उसका गला बुरी तरह सूख गया, ज़बान जैसे तालू से चिपककर रह गयी। उसने चाहा कि चन्दा को झकझोरकर उठाये, पर शरीर की शक्ति बह-सी गयी थी, रक्त पानी हो गया था।

थोड़ा संयत हुआ तो उसने वह कड़ा उसी रूमाल में लपेट कर उसकी खाट के कोने पर रख दिये और बड़ी मुश्किल से अपनी खाट की पाटी पकड़कर लुढ़क गया।

चन्दा झूठ बोली! पर क्यों? कड़े आज तक छुपाये रही। पर क्यों? उसने इतना बड़ा दुराव क्यों किया? आखिर क्यों? किस लिए? और जगपती के दिल पर जैसे पत्थर का बोझ आ पड़ा। उसे फिर लगा कि उसका शरीर सिमटता जा रहा है और वह एक सींक का बना ढाँचा रह गया...नितान्त हल्का, तिनके-सा, हवा में उड़कर भटकने वाले तिनके-सा।

उस रात के बाद रोज जगपती सोचता रहा कि चन्दा से कड़े माँगकर बेंच ले और कोई छोटा-मोटा कारबार ही शुरू कर दे, क्योंकि नौकरी तो छूट चुकी थी। इतने दिन की गैरहाजिरी के बाद वकील साहब ने दूसरा मुहर्रिर रख लिया था। वह रोज यही सोचता। पर चन्दा सामने आती तो न जाने कैसी असहाय-सी उसकी अवस्था हो जाती। उसे लगता जैसे कड़े माँगकर वह चन्दा से पत्नीत्व का पद भी छीन लेगा। मातृत्व तो भगवान ने छीन ही लिया...वह सोचता, आखिर चन्दा क्या रह जायगी? एक स्त्री से यदि पत्नीत्व और मातृत्व छीन लिया गया तो उसके जीवन की सार्थकता ही क्या? चन्दा के साथ वह यह

अन्याय कैसे करे ? उससे दूसरी आँख की रोशनी कैसे माँग ले ? फिर तो वह नितान्त अन्धी हो जायगी। और उन कड़ों के पीछे जिस इतिहास की आत्मा नंगी हो जायगी, स्वयं वह कैसे उस लज्जा को उघार कर ढाँपेगा।

और वह इन्हीं ख्यालों में डूबा सुबह से शाम तक इधर-उधर काम की टोह में घूमता रहता। किसी से उधार ले ले ? पर किस सम्पत्ति पर ? क्या है उसके पास जिसके आधार पर कोई उसे कुछ देगा ? और मुहल्ले के लोग...जो एक-एक पाई पर जान देते हैं, कोई चीज खरीदते वक्त भाव में एक पैसा कम मिलने पर मीलों पैदल जाकर एक पैसा बचाते हैं। एक-एक पैसे की पुड़ियाँ परचून की दूकान से बँधवाकर ग्यारह मर्तबा पैसों का हिसाब जोड़कर एक-आध पैसा उधार-कर मिन्नतें करते सौदा घर लाते हैं। गली में कोई खोंचेवाला फँस गया, तो दो पैसे की चीज़ को लड़-झगड़कर, चार दाने ज्यादा पाने की नियत से, दो जगह बँधवाते हैं। भाव से जरा से फरक पर घन्टों बहस करते हैं। शाम को सड़ी-गली तरकारियों को किफायत के कारण लाते हैं, ऐसे लोगों से किस मुँह से माँगकर वह उनकी गरीबी के अहसास पर ठोकर लगाये !

पर उस दिन शाम को जब वह घर पहुँचा तो बरोठे में ही एक सायकिल रखी नजर आयी। दिमाग पर बहुत जोर डालने के बाद भी वह आगन्तुक की कल्पना न कर पाया। भीतरवाले दरवाजे पर जब पहुँचा तो सहसा हँसी की आवाज सुनकर ठिठक गया। उस हँसी में एक अजीब-सा उन्माद था, उन्मत्तता और मोहक खुलापन ! और उसके बाद चन्दा का स्वर !

'अब आते ही होंगे, बैठिये न दो मिनट और !...अपनी आँख से देख लीजिये और उन्हें समझाते जाइये कि अभी तन्दुरुस्ती इस लायक नहीं जो दिन-दिन भर घूमना बर्दाश्त कर सकें।

'हाँ...भई, कमजोरी इतनी जल्दी तो नहीं मिट सकती, ख्याल नहीं करेंगे तो नुकसान उठायेंगे !'—कोई पुरुष स्वर था यह।

जगपती असमंजस में पड़ गया। वह एकदम भीतर घुस जाय ? इसमें क्या हर्ज है ? पर जब उसने पैर उठाये तो वे बाहर को जा रहे थे। बाहर बरोठे में सायकिल को पकड़ते ही उसे सूझ आयी तो वहीं से जैसे अनजान बनता बड़े

प्रयत्न से आवाज को खोलता चिल्लाया—अरे, चन्दा ! यह सायकिल किस की है ? कौन मेहरबान...

चन्दा उसकी आवाज सुनकर कमरे से बाहर निकलकर जैसे खुशखबरी सुना रही थी—अपने कम्पाउन्डर साहब आये हैं। खोजते-खोजते आज घर का पता पाये हैं, तुम्हारे इन्तजार में बैठे हैं !

'कौन बचनसिंह ?...अच्छा...अच्छा। वही तो मैं कहूँ, भला कौन...।' कहता जगपती पास पहुँचा। और बातों में इस तरह उलझ गया जैसे सारी परिस्थिति उसने स्वीकार कर ली हो।

बचनसिंह जब फिर आने की बात कहकर चला गया तो चन्दा ने बहुत अपनेपन से जगपती के सामने बात शुरू की—जाने कैसे आदमी होते हैं...

'क्यों, क्या हुआ ? कैसे होते हैं आदमी ?'—जगपती ने पूछा।

'इतनी छोटी जान-पहिचान में तुम मर्दों के घर में न रहते घुसकर बैठ सकते हो ? तुम तो उल्टे पावों लौट आओगे।' चन्दा कहकर जगपती के मुख पर कुछ इच्छित प्रतिक्रिया देख सकने के लिए गहरी निगाहों से ताकने लगी।

जगपती ने चन्दा की ओर ऐसे देखा जैसे यह बात भी कहने की या पूछने की है ! फिर बोला—बचनसिंह अपनी तरह का आदमी है, अपनी तरह का अकेला...।

'होगा...पर...'—कहते-कहते चन्दा रुक गयी।

'आड़े वक्त काम आनेवाला आदमी है, लेकिन उससे फायदा उठा सकना जितना आसान है...उतना...मेरा मतलब है कि...जिससे कुछ लिया जायगा, उसे दिया भी तो जायगा।'—जगपती ने आँखें दीवार पर गड़ाते हुए कहा।

और चन्दा उठकर चली गयी।

उस दिन के बाद बचनसिंह लगभग रोज ही आने-जाने लगा। जगपती उसके साथ इधर-उधर घूमता भी रहता। बचनसिंह के साथ वह जब तक रहता, अजीब-सी घुटन उसके दिल को बाँध लेती और तभी जीवन की तमाम विषमताएँ भी उसकी निगाहों के सामने उभरने लगतीं, आखिर वह स्वयं एक आदमी है...बेकार...यह माना कि उसके सामने पेट पालने की कोई इतनी विकराल

समस्या नहीं, वह भूखों नहीं मर रहा है, जाड़े में काँप नहीं रहा है, पर उसके दो हाथ-पैर हैं...शरीर का पिंजरा है जो कुछ माँगता है...कुछ! और वह सोचता, यह कुछ क्या है? सुख? शायद हाँ, शायद नहीं। वह तो दुःख में भी जी सकने का आदी है, अभावों में जीवित रह सकनेवाला आश्चर्यजनक कीड़ा है। तो फिर...वासना? शायद हाँ, शायद नहीं। चन्दा का शरीर लेकर उसने उस क्षणिकता को भी देखा है। तो फिर धन?...शायद हाँ, शायद नहीं। उसने धन के लिए अपने को खपाया है। पर वह भी तो उस अदृश्य प्यास को बुझा नहीं पाया। तो फिर?...तो फिर क्या?...वह कुछ क्या है जो उसकी आत्मा में नासूर-सा रिसता रहता है, अपना उपचार माँगता है? शायद काम! हाँ, यही, बिल्कुल यही, जो उसके जीवन की घड़ियों को निपट सूना न छोड़े, जिसमें वह अपनी शक्ति लगा सके, अपना मन डुबा सके, अपने को सार्थक अनुभव कर सके, चाहे उसमें सुख हो या दुख, कष्ट हो या आराम, अरक्षा हो या सुरक्षा, शोषण हो या पोषण...उसे सिर्फ काम चाहिये! करने के लिए कुछ चाहिये। यही तो उसकी प्रकृत आवश्यकता है, पहली और आखिरी माँग है, क्योंकि वह उस घर में नहीं पैदा हुआ जहाँ सिर्फ ज़बान हिलाकर शासन करने वाले होते हैं; वह उस घर में भी नहीं पैदा हुआ, जहाँ सिर्फ माँगकर जीनेवाले हैं, वह उस घर का है जो सिर्फ काम करना जानता है, काम ही जिसकी आस है, सुख है, सम्मान है, प्यास है! सिर्फ वह काम चाहता है काम!...

और एक दिन उसकी काम-धाम की समस्या भी हल हो गयी। तालाबवाले ऊँचे मैदान के दक्षिण ओर जगपती की लकड़ी की टाल खुल गयी। तक टँग गया। टाल की जमीन पर लक्ष्मी-पूजन भी हो गया और टाल की ही आम की टहनियों से हवन भी हुआ। लड़कों की कोई कमी नहीं थी। गाँवों से आनेवाली गाड़ियों का, इस कारबार में पैरे हुए आदमियों की मदद से मोल-तोल करवा के वहाँ गिरवा दिया गया। गाँठें एक ओर रखी गयीं, चैलों का चट्टा करीने से लग गया और चीरने के लिए डाल दिया गया। दो तीन गाड़ियों का सौदा करके काम चालू कर दी गयी। भविष्य में स्वयं पेड़ खरीदकर कटाने का तय किया गया। बड़ी-बड़ी स्कीमें बनीं कि किस तरह जलाने की लकड़ी से बढ़ाते-बढ़ाते

एक दिन इमारती लकड़ी की कोठी बनेगी। चीरने की नयी मशीन लगेगी। कारबार बढ़ जाने पर बचनसिंह भी नौकरी छोड़कर उसी में लग जायगा। और उसने महसूस किया कि वह काम में लग गया है, वह बेकार नहीं है। अब चौबीसों घण्टे उसके सामने काम है...उसके समय का उपयोग है। दिन भर में वह एक घन्टे के लिए किसी का मित्र हो सकता है, कुछ देर के लिए वह पति हो सकता है, पर बाकी समय? दिन और रात के बाकी घण्टे...उन घण्टों के अभाव को सिर्फ उसका अपना काम ही भर सकता है...और अब वह कामदार था......

वह कामदार तो था, लेकिन जब टाल की उस ऊँची जमीन पर पड़े छप्पर के नीचे तख़्त पर वह गल्ला रखकर बैठता, सामने लगे लड़कियों के ढेर, कटे हुए पेड़ के तने, जड़ों को लुढ़का देखता तो एक निरीहता बरबस उसके दिल को बाँधने लगती। उसे लगता, एक व्यर्थ पिशाच का शरीर टुकड़े-टुकड़े करके उसके सामने डाल दिया गया है।...फिर इनपर और कुल्हाड़ी चलेगी और उनके रेशे-रेशे अलग हो जायेंगे और तब इसकी ठठरियों को सुखाकर किसी पैसेवाले के हाथ तक पर तौलकर बेच दिया जायगा।...

और तब उसकी निगाहें सामने खड़े ताड़ पर अटक जातीं, जिसके बड़े-बड़े पत्तों पर सुर्ख गर्दनवाले गिद्ध पर फड़फड़ाकर देर तक ख़ामोश बैठे रहते। ताड़ का काला गड़रेदार तना—और उसके सामने ठहरी हुई वायु में निस्सहाय काँपती, भारहीन नीम की पत्तियाँ चकराती झड़ती रहतीं—धूल-भरी धरती पर लकड़ी की गाड़ियों के पहियों की पड़ी हुई लीक धुँधली-सी चमक उठती और बगलवाले मूँगफली के पेंच की एकरस खरखराती आवाज कानों में भरने लगती। बगलवाली कच्ची पगडंडी से कोई गुजरकर टीले के ढलान से तालाब की नीचाई में उतर जाता, जिसके गँदले पानी में कूड़ा तैरता रहता और सुअर कीचड़ में मुँह डालकर उस कूड़े को रौंदते...

दोपहर सिमटती और शाम की धुंध छाने लगती तो वह लालटेन जलाकर छप्पर के खंभे की कील में टाँग देता और उसके थोड़ी ही देर बाद अस्पतालवाली सड़क से बचनसिंह एक काले धब्बे की तरह आता दिखायी पड़ता।

गहरे पड़ते अँधेरे में उसका आकार धीरे-धीरे बढ़ता जाता और जगपती के सामने जब वह आकर खड़ा होता तो वह उसे बहुत विशाल-सा लगने लगता जिसके सामने उसे अपना अस्तित्व डूबता-सा महसूस होता।

एक-आध बिक्री की बातें होतीं और तब दोनों घर की ओर चल देते। घर पहुँचकर बचनसिंह कुछ देर जरूर रुकता, बैठता, इधर-उधर की बातें करता। कभी मौका पड़ जाता तो जगपती और बचनसिंह की थाली भी साथ लग जाती। चन्दा सामने बैठाकर दोनों को खिलाती!

बचनसिंह बोलता जाता—क्या तरकारी बनी है! मसाला ऐसा पड़ा है कि उसकी भी बहार है और तरकारी का सवाद भी नहीं मरा। होटलों में या तो मसाला-ही-मसाला रहेगा या सिरफ तरकारी-ही-तरकारी। वाह! वाह! क्या बात है अन्दाज की!

और चन्दा बीच-बीच में टोक, बोलती जाती—इन्हें तो जब तक दाल में प्याज का भुना घी न मिले तब तक पेट ही नहीं भरता।

या—सिरका अगर इन्हें मिल जाय तो समझो, सब कुछ मिल गया। पहले मुझे तो सिरका न जाने कैसा लगता था, पर अब तो ऐसा जबान पर चढ़ा है कि......

या—इन्हें कागज-सी पतली रोटी पसन्द ही नहीं आती। अब मुझसे कोई पतली रोटी बनाने को कहे, तो बनती ही नहीं, आदत पड़ गयी है, और फिर मन ही नहीं करता...

पर आँखें चन्दा की बचनसिंह की थाली पर ही जमी रहतीं। रोटी निबटी तो रोटी परोस दी, दाल खतम नहीं हुई तो भी एक चमचा और परोस दी।

और जगपती सिर झुकाये खाता रहता। सिर्फ एक गिलास पानी माँगता और चन्दा चौंककर पानी देने से पहले कहती—अरे, तुमने तो कुछ लिया भी नहीं—कहते-कहते वह पानी दे देती और तब उसके दिल पर गहरी-सी चोट लगती, न जाने क्यों वह खामोशी की चोट उसे बड़ी पीड़ा दे जाती...पर वह अपने को समझा लेती, कोई मेहमान तो नहीं हैं...माँग सकते थे। भूख नहीं होगी।

जगपत खाना खाकर टाल पर लेटने चला जाता, क्योंकि अभी तक कोई चौकीदार नहीं मिला था। छप्पर के नीचे तख्त पर जब वह लेटता तो अनायास ही उसका दिल भर-भर आता। पता नहीं, कौन-कौन से दर्द एक-दूसरे से मिलकर तरह-तरह की टीस, चटख और ऐंठन पैदा करने लगते। कोई एक रग दुखती तो वह सहलाता भी, जब सभी नसें चटखती हों तो कहाँ-कहाँ राहत का अकेला हाथ सहलाये!

लेटे-लेटे उसकी निगाह ताड़ के उस ओर बनी पुख्ता कब्र पर जम जाती, जिसके सिरहाने कँटीला बबूल का एकाकी पेड़ सुन्न-सा खड़ा रहता। जिस कब्र पर एक पर्दा-नशीन औरत बड़े लिहाज से आकर सबेरे-सबेरे बेला और चमेली के फूल चढ़ा जाती...घूम-घूमकर उसके फेरे लेती और माथा टेककर कुछ कदम उदास-उदास-सी चलकर एकदम तेजी से मुड़कर बिसातियों के मुहल्ले में खो जाती। शाम होते फिर आती। एक दिया बारती और अगर की बत्तियाँ जलाती, एक अजीब निष्ठा से। फिर मुड़ते हुए ओढ़नी का पल्ला कन्धों पर डालती तो दिये की लौ काँपती, कभी काँपकर बुझ जाती, पर उसके कदम बढ़ चुके होते पहले धीमे, थके, उदास-से और फिर तेज, सधे, सामान्त से और वह फिर उसी मुहल्ले में खो जाती और तब रात की तनहाइयों में...बबूल के काँटों के बीच, उस साँय-साँय करते ऊँचे-नीचे मैदान में जैसे उस कब्र से कोई रूह निकालकर निपट अकेली भटकती रहती...।

तभी ताड़ पर बैठे सुर्ख गर्दनवाले गिद्ध पर फड़फड़ाते और मनहूस-सी आवाज में किलबिला उठते और ताड़ के पत्ते भयानकता से खड़बड़ा उठते। जगपती का बदन काँप जाता और वह भटकती रूह जिन्दा रह सकने के लिए जैसे कब्र की ईंटों में, बबूल के साया-तले दुबक जाती। जगपती अपनी टाँगों को पेट से भींचकर, कम्बल से मुँह छुपा औंधा लेट जाता।

तड़के ही ठेके पर लगे लकड़हारे लकड़ी चीरने आ जाते। तब जगपती कम्बल लपेट घर की ओर चला जाता।...

'राजा रोज सबेरे टहलने जाते थे,'—माँ सुनाया करती थीं—एक दिन जैसे ही महल के बाहर निकलकर सड़क पर झाड़ू लगानेवाली मेहतरानी उन्हें देखते

ही अपना झाड़ू-पंजा पटककर माथा पीटने लगी और कहने लगी, हाय राम ! आज राजा निरबंसिया का मुँह देखा है, न जाने रोटी भी नसीब होगी कि नहीं...न जाने कौन विपत टूट पड़े ! राजा को इतना दुःख हुआ कि उल्टे पैरों महल को लौट गये। मन्त्री को हुकुम दिया कि उस मेहतरानी का घर नाज से भर दें। और सब राजसी वस्त्र उतार राजा उसी क्षण जंगल की ओर चले गये। उसी रात रानी को सपना हुआ कि कल की रात तेरी मनोकामना पूरी करने वाली है। रानी बहुत पछता रही थी। पर फौरन ही रानी राजा को खोजती-खोजती उस सराय में पहुँच गयी, जहां वह टिके हुए थे। रानी भेष बदलकर सेवा करनेवाली भठियारिन बनकर राजा के पास रात में पहुँची। रात-भर उनके साथ रही और सुबह राजा के जागने से पहले सराय छोड़ महल में लौट गयी। राजा सुबह उठकर दूसरे देश की ओर चले गये।...दो ही दिनों में राजा के निकल जाने की खबर राज-भर में फैल गयी, राजा निकल गये, चारों तरफ यही खबर थी।...

और उस दिन टोले-मुहल्ले के हर आँगन में बरसात के मेह की तरह यह खबर बरसकर फैल गयी कि चन्दा के बाल-बच्चा होनेवाला है।

नुक्कड़ पर जमुना सुनार की कोठरी में फिकती सुरही रुक गयी। मुंशीजी ने अपना मीज़ान लगाना छोड़ विस्फारित नेत्रों से ताककर ख़बर सुनी। बंसी किरानेवाले ने कुएँ में से आधी गयी रस्सी खींच डोल मन पर पटककर सुना। सुदर्शन दर्जी ने मशीन के पहिए को हथेली से रगड़कर रोककर सुना। हंसराज पञ्जाबी ने अपनी नील लगी मलगजी कमीज़ की आस्तीनें चढ़ाते हुए सुना। और जगपती की बेवा चाची ने औरतों के जमघट में बड़े विश्वास, पर भेद-भरे स्वर में सुनाया—आज छः साल हो गये शादी को...न बाल, न बच्चा...न जाने किसका पाप है उसके पेट में !...और किसका होगा सिवा उस मुसटण्डे कम्पोटर के ! जगपती के तो जबसे गोली लगी, उसका निचला धड़ बेकार हो गया...लकवा मार गया है, न जाने कहाँ से कुलच्छनी इस मुहल्ले में आ गयी !...इस गली की तो पुश्तों से ऐसी मरजाद रही है कि गैर मर्द औरत की परछाईं तक नहीं देख पाये। यहाँ के मरद तो बस अपने घर की औरतों को जानते हैं, उन्हें तो पड़ोसी के घर की जनानों की गिनती तक नहीं मालूम !—

यह कहते-कहते उनका चेहरा तमतमा आया और सब औरतें देवलोक की देवियों की तरह गम्भीर बनी, अपनी पवित्रता की महानता के बोझ से दबी धीरे-धीरे खिसक गयीं।

सुबह यह खबर फैलने से पहले जगपती टाल पर चला गया था, पर सुनी उसने भी आज ही थी। दिन-भर वह मुर्दों की तरह उसी तखत पर कोने की ओर मुँह किये पड़ा रहा। न ठेके की लकड़ियाँ चिरवायीं, न बिक्री हो की ओर ध्यान दिया, न दोपहर का खाना खाने ही घर गया। जब रात अच्छी तरह फैल गयी तो वह एक हिंसक पशु की भाँति उठा। उसने अपनी अँगुलियाँ अटकायीं, मुट्ठी बाँधकर बाँहों का जोर देखा तो नसें तनीं और बाँहों में कठोर कम्पन-सा हुआ। उसने तीन-चार पूरी साँसें खींचीं और मज़बूत कदमों से घर की ओर चल पड़ा। मैदान खतम हुआ...कंकड़ की सड़क आयी...सड़क खतम हुई, गली आयी। पर गली के अँधेरे में घुसते वह सहम गया जैसे किसी ने अदृश्य हाथों से पकड़कर सारा रक्त निचोड़ लिया, उसकी फटी हुई शक्ति की नस पर हिम-शीतल ओंठ रखकर सारा रस चूस लिया। उसके पैर लड़खड़ा गये और गली के अँधेरे की हिकारत-भरी कालिख और भी भारी हो गयी जिसमें घुसने से उसकी साँस रुक जायगी...घुट जायगी।

वह पीछे मुड़ा, पर रुक गया। जैसे वह पत्थर हो गया हो। फिर कुछ संयत होकर चोरों की तरह निःशब्द कदमों से किसी तरह घर की भीतरी देहरी तक पहुँच गया।

दाईं ओर की रसोईवाली दहलीज में कुप्पी टिमटिमा रही थी और चन्दा अस्त-व्यस्त-सी दीवार से सिर टेके शायद आसमान निहारते-निहारते सो गयी थी। कुप्पी का प्रकाश उसके आधे चेहरे को उजागर किये था और आधा चेहरा गहन कालिमा में डूबा अदृश्य था।

वह खामोशी से खड़ा ताकता रहा। चन्दा के चेहरे पर नारीत्व की प्रौढ़ता आज उसे दिखायी दी। चेहरे की सारी कमनीयता न जाने कहाँ खो गयी थी, उसका अछूतापन न जाने कहाँ लुप्त हो गया था। फूला-फूला मुख। जैसे टहनी से तोड़े फूल को पानी में डालकर ताजा किया गया हो, जिसकी पंखुड़ियों में

टूटन की सुरमई रेखाएँ पड़ गयी हों, पर भीगने से भारीपन आ गया हो।

उसके खुले पैर पर उसकी निगाह पड़ी, तो सूजा-सा लगा। एड़ियाँ भरी, सूजी-सी और नाखूनों के पास अजब-सा सूखापन। जगपती का दिल एक बार मसोस उठा। उसने चाहा कि बढ़कर उसे उठा ले। अपने हाथों से उसका पूरा शरीर छू-छू कर सारा कलुष पोंछ दे, उसे अपनी साँसों की अग्नि में तपाकर एक बार फिर पवित्र कर ले। और उसकी आँखों की गहराई में झाँककर कहे—देवलोक से किसी शापवश निर्वासित हो तुम इधर आ गयीं, चन्दा? यह शाप तो अमिट था।

तभी चन्दा ने हड़बड़ाकर आँखें खोलीं। जगपती को सामने देख उसे लगा कि वह एकदम नङ्गी हो गयी हो। अतिशय लज्जित हो उसने अपने पैर समेट लिये। घुटनों से धोती नीचे सरकायी और बहुत संयत-सी उठकर रसोई के अँधेरे में खो गयी!

जगपती एकदम हताश हो, वहीं कमरे की देहरी पर घुटनों से कोहनियों को साधकर, चौखट से सिर टिका बैठ गया। नजर कमरे में गयी, तो लगा कि कई पराये स्वर वहाँ गूँज रहे हैं जिनमें चन्दा का भी एक है! आलों की कालिख से संशय झाँक रहा था...किवाड़ों की ओट में सन्देह रेंग रहा था...छतें खड़ी थीं, पर सधनेवाली दीवारों की नीव खिसक गयी थी, हर तरफ, घर के हर कोने से, अँधेरा सैलाब की तरह बढ़ता आ रहा था...एक अजीब निस्तब्धता...असमंजस! गति, पर पथभ्रष्ट! शक्लें, पर आकारहीन।

'खाना खा लेते'—चन्दा का स्वर कानों में पड़ा। वह अनजाने ऐसे उठ बैठा जैसे तैयार बैठा हो। उसकी बात की आज तक उसने अवज्ञा न की थी। खाने तो बैठ गया पर कौर नीचे नहीं सरक रहा था। तभी चन्दा ने बड़े सधे शब्दों में कहा—कल मैं गाँव जाना चाहती हूँ।

जैसे वह इस सूचना से परिचित था, बोला—अच्छा।

चन्दा फिर बोली—मैंने बहुत पहले घर चिट्ठी डाल दी थी। भैया कल लेने आ रहे हैं।

तो ठीक है—जगपती वैसे ही डूबा-डूबा बोला।

चन्दा का बाँध टूट गया और वह वहीं घुटनों में मुँह दबाकर कातर-सी फफक-फफककर रो पड़ी। न उठ सकी, न हिल सकी। बाँध जैसे एकबारगी पूरा-का-पूरा टूट गया और सारा बँधा हुआ पानी एकदम हहरा पड़ा...सिसिकियाँ बँध गयीं...

जगपती क्षण को विचलित हुआ, पर जैसे जम जाने के लिए, उसके होंठ फड़के और क्रोध की ज्वालामुखी को जबरन दाबते हुए भी वह फूट पड़ा—यह सब मुझे क्या दिखा रही है? बेशर्म!...बेगैरत!...उस वक्त नहीं सोचा था, जब...जब...मेरे लाश तले...

'तब...तब की बात झूठ है...'—सिसकियों के बीच चन्दा का स्वर फूटा—लेकिन जब तुमने मुझे बेच दिया...

एक भरपूर हाथ चन्दा की कनपटी पर आग सुलगाता पड़ा। और जगपती अपनी हथेली दूसरी से दाबता खाना छोड़ कोठरी में घुस गया और रात-भर कुण्डी चढ़ाये उसी कालिख में घुटता रहा।

दूसरे दिन चन्दा घर छोड़ अपने गाँव चली गयी।

जगपती पूरा दिन और रात टाल पर ही काट देता, उसी वीराने में, तालाब के बगल, कब्र, बबूल और ताड़ के पड़ोस में। पर मन मुर्दा हो गया था। जबर-दस्ती वह अपने को वहीं रोके रहता।...उसका दिल होता, कहीं निकल जाय। पर ऐसी कमजोरी-सी उसके तन और मन को खोखला कर गयी थी कि चाहने पर भी वह जा न पाता। हिकारत-भरी नजरें सहता, पर वहीं पड़ा रहता। काफी दिनों बाद जब नहीं रहा गया तो एक दिन जगपती घर पर ताला लगा नजदीक के गाँव में लकड़ी कटाने चला गया। उसे लग रहा था कि अब वह पंगु हो गया है, बिल्कुल लँगड़ा, एक रेंगता कीड़ा, जिसके न आँख है, न कान, न मन, न इच्छा। वह खुद बेबसी में ऐसी आग में कूद पड़ा था जिसकी आँच से उसके पैर जल गये थे और अब वह सिर्फ रेंग सकता था।

वह उस बाग में पहुँच गया जहाँ खरीदे पेड़ कटने थे। दो आरेवालों ने पतले पेड़ के तने पर आरा रखा और कर्र-कर्र का अबाध शोर शुरु हो गया। दूसरे पेड़ पर बन्ने और शकूर की कुल्हाड़ी बज उठी और गाँव से दूर उस बाग में एक

लयपूर्ण शोर शुरु हो गया, खर्र-खर्र, खद्‌···खद्‌···। जड़ पर कुल्हाड़ी पड़ती, तो पूरा पेड़ थर्रा जाता।

करीब के खेत की मेड़ पर बैठे जगपती का शरीर भी जैसे काँप-काँप उठता। चन्दा ने कहा था, लेकिन जब तुमने मुझे बेच दिया···क्या वह ठीक कहती थी? क्या बचनसिंह ने टाल के लिए जो रुपये दिये थे, उसका ब्याज इधर चुकता हुआ? क्या सिर्फ वही रुपये आग बन गये जिसकी आँच में उसकी सहनशीलता, विश्वास और आदर्श मोम से पिघल गये?

'श······कूरे!—बाग से लगे दड़े पर से किसी ने आवाज़ लगायी। शकूर ने कुल्हाड़ी रोककर वहीं से हाँक लगायी—कोने के खेत से लीक बनी है, जरा मेड़ मारकर नँधा ला गड़ी।

जगपती का ध्यान भंग हुआ। उसने मुड़कर दड़े पर आँखें गड़ायीं। दो भैंसागाड़ियाँ लकड़ी भरने के लिए आ पहुँची थीं। शकूरे ने जगपती के पास आकर कहा—एक गाड़ी का भर्त तो हो गया, बल्कि डेढ़ का···अब इस पतरिया पेड़ को न छाँट दें?

जगपती ने उस पेड़ की ओर देखा जिसे काटने के लिए शकूर ने इशारा किया था, पेड़ की शाख हरी पत्तियों से भरी थी। वह बोला—अरे यह तो हरा है अभी···इसे छोड़ दो।

'हरा होने से क्या, उखट तो गया है। न फूल का, न फल का। अब कौन इसमें फल-फूल आयेंगे, चार दिन में पत्ती झुरा जायेंगी।'—शकूरे ने पेड़ की ओर देखते हुए उस्तादी अन्दाज से कहा।

'जैसा ठीक समझो तुम'—जगपती ने कहा और उठकर मेड़-मेड़ पक्के कुएँ पर पानी पीने चला गया।

दोपहर ढलते गाड़ियाँ भरकर तैयार हुईं और शहर की ओर रवाना हो गयीं। जगपती को उनके साथ आना पड़ा। गाड़ियां लकड़ी से लदीं शहर की ओर चली आ रही थीं और जगपती गर्दन झुकाये कच्ची सड़क की धूल में डूबा भारी कदमों से धीरे-धीरे उन्हीं की बजती घण्टियों के साथ निर्जीव सा बढ़ता आ रहा था।···।

'कई बरस बाद राजा परदेश से बहुत-सा धन कमा कर गाड़ी पर लादकर अपने देश की ओर लौटे'—माँ सुनाया करती थीं—राजा की गाड़ी का पहिया महल से कुछ दूर पतेल की झाड़ी में उलझ गया। हर कोशिश की, पर पहिया न निकला। तब एक पंडित ने बताया कि 'संकट' के दिन के जन्मे बालक अगर अपने घर की सुपाड़ी लाकर इसमें छुआ दे तो पहिया निकल जायगा। वहीं दो बालक खेल रहे थे। उन्होंने यह सुना तो कूदकर पहुँचे और कहने लगे कि हमारी पैदाइश संकट की है, पर सुपारी तब लायेंगे, जब तुम आधा धन देने का वादा करो। राजा ने बात मान ली। बालक दौड़े-दौड़े घर का रास्ता बताते आगे-आगे चले। आखिर में गाड़ी महल के सामने उन्होंने रोक ली।

राजा को बड़ा अचरज हुआ कि हमारे ही महल में ये बालक कहाँ से आ गये? भीतर पहुँचे, तो रानी खुशी से बेहाल हो गयी।

—पर राजा ने पहले उन बालकों के बारे में पूछा, तो रानी ने कहा कि ये दोनों बालक उन्हीं के राजकुमार हैं। राजा को विश्वास नहीं हुआ। रानी बहुत दुखी हुई।...

गाड़ियाँ जब टाल पर आकर लगीं और जगपती तखत पर हाथ-पैर ढीले करके बैठ गया, तो पगडंडी से गुजरते मुन्शीजी ने उसके पास आकर बताया—अभी उस दिन वसूली में तुम्हारी ससुराल के नजदीक एक गाँव में जाना हुआ, तो पता लगा कि पन्द्रह-बीस दिन हुए चन्दा के लड़का हुआ है।—और फिर जैसे मुहल्ले में सुनी-सुनायी बातों पर पर्दा डालते हुए बोले—भगवान के राज में देर है, अन्धेर नहीं, जगपती भैया!

जगपती ने सुना, तो पहले उसने गहरी नजरों से मुन्शीजी को ताका, पर वह उनके तीर का निशाना ठीक-ठीक नहीं खोज पाया। हृदय उसका असह्य पीड़ा से कराह उठा और मुख पर घृणा के चिन्ह उभर आये। पर सब-कुछ सहन करते हुए बोला—देर और अन्धेर दोनों है।

'अन्धेर तो सरासर है...तिरिया चरित्तर है सब! बड़े-बड़े हार गये...' —कहते-कहते मुन्शीजी रुक गये, पर कुछ इस तरह, जैसे कोई बड़ी भेद-भरी बात है, जिसे उनकी गोल होती हुई आँखें समझा देंगी।

जगपती मुन्शीजी की तरफ ताकता रह गया। मिनट-भर मनहूस-सा मौन छाया रहा, तो उसे तोड़ते हुए मुन्शीजी बड़ी दर्द-भरी आवाज में बोले—सुन तो लिया होगा तुमने ?

—क्या ?—कहने को तो जगपती कह गया, पर उसे लगा कि अभी मुन्शी-जी उस गाँव में फैली बातों को ही बड़ी बेदर्दी से कह डालेंगे, उसने नाहक पूछा।

तभी मुन्शीजी ने उसके नाक के पास मुँह ले जाते हुए कहा—चन्दा दूसरे के घर बैठ रही है...कोई मदसूदन है वहीं का। पर बच्चा दीवार बन गया है; चाहते तो वो यही हैं कि मर जाय, तो रास्ता खुले, पर रामजी की मर्जी।...सुना है, बच्चा रहते भी वो चन्दा को बैठाने को तैयार है।

जगपती की साँस गले में अटककर रह गयी, जैसे किसी ने गर्दन को कड़ी गाँठ से कस दिया हो। बस, आँखें मुन्शीजी के चेहरे पर पथरायी-सी जड़ी थीं।

मुन्शीजी बोले—अदालत से बच्चा तुम्हें मिल सकता है।...अब काहे का शरम लिहाज ?

'अपना कहकर किस मुँह से माँगू, बाबा ? हर तरफ तो कर्ज से दबा हूँ। तन से, मन से, पैसे से, इज्जत से, किसके बलपर दुनियाँ सजाने की कोशिश करूँ ?'—कहते-कहते उसका बाँध टूट गया, और वह घुटनों में मुँह देकर बुरी तरह सिसकने लगा।

मुन्शीजी कातर-से वहीं बैठ गये। जब रात झुक आयी, तो जगपती के साथ ही मुन्शीजी भी उठे। उसके कन्धे पर हाथ रखे वह उसे गली तक लाये। अपनी कोठरी आने पर पीठ सहलाकर उन्होंने उसे छोड़ दिया। वह गर्दन झुकाए गली के अँधेरे में उन्हीं ख्यालों में डूबा ऐसे चलता चला आया, जैसे कुछ हुआ ही न हो। पर कुछ ऐसा बोझ था, जो न सोचने देता था और न समझने। जब चाची की बैठक के पास से गुजरने लगा, तो सहसा उसके कानों में भनक पड़ी—आ गये सत्यानासी ! कुलबोरन !

उसने ज़रा नज़र उठाकर देखा, तो गली की चाची-भौजाइयाँ बैठक में जमा थीं और चन्दा की ही चर्चा छिड़ी थी। पर वह चुपचाप निकल गया।

इतने दिनों बाद ताला खोला और बरोठे के अँधेरे में कुछ सूझ न पड़ा, तो एकाएक वह रात उसकी आँखों के सामने घूम गयी जब 'वह अस्पताल से चन्दा के साथ लौटा था।...बेत्रा चाची का वह जहर बुझा तीर, आ गये राजा निरबंसिया अस्पताल से ! और आज, सत्यानासी ! कुलबोरन ! और स्वयं उसका वह वाक्य, जो चन्दा को छेद गया था, तुम्हारे कभी कुछ न होगा !...और उस रात की शिशु चन्दा !

चन्दा के लड़का हुआ है।...वह कुछ और जनती, आदमी का बच्चा न जनती !...वह और कुछ भी जनती, कंकड़-पत्थर ! वह नारी न बनती, बच्ची ही बनी रहती, उस रात की शिशु चन्दा ! पर चन्दा यह सब क्या करने जा रही है ? उसके जीते-जी वह दूसरे के घर बैठने जा रही है ? कितने बड़े पाप में ढकेल दिया चन्दा को...पर उसे भी तो कुछ सोचना चाहिए ! आखिर क्या ? पर मेरे जीते-जी तो यह सब अच्छा नहीं। वह इतनी घृणा बरदाश्त करके भी जीने को तैयार है ! या मुझे जलाने को ? वह मुझे नीच समझती है, कायर...नहीं तो एक बार खबर तो लेती। बच्चा हुआ, तो पता तो लगता। पर नहीं, वह उसका कौन है ? कोई भी तो नहीं ! औलाद ही तो वह स्नेह की धुरी है, जो आदमी-औरत के पहियों को साधकर पार ले जाती है...नहीं तो हर औरत वेश्या है और हर आदमी वासना का कीड़ा। तो क्या चन्दा...औरत नहीं रही ? वह जरूर औरत थी, पर स्वयं मैंने उसे नरक में डाल दिया। वह बच्चा मेरा कोई नहीं पर चन्दा तो मेरी है ।...एक बार उसे ले आता यहाँ...रात के मोहक अँधेरे में उसके फूल-से अधरों को देखता...निर्द्वन्द्व सोये पलकों को निहारता... साँसों की दूध-सी अछूती महक को समेट लेता...

पर आजका अँधेरा ! घर में तेल भी नहीं, जो दिया जला ले। और फिर किसके लिए कौन जलाये ? चन्दा के लिए......पर उसे तो उसने भेज दिया था। सिवा चन्दा के कौन सी सम्पत्ति उसके पास थी, जिसके आधार पर कोई कर्ज देता। कर्ज न मिलता, तो यह सब कैसे चलता ? काम... पेड़ कहाँ से कटते ? और तब वह शकूरे के वे शब्द उसके कानों में गूँज गये, हरा होने से क्या, उखट तो गया है, न फल का, न फूल का, चार दिन में पत्तो

झुरा जायगी।...वह स्वयं भी तो एक उखटा पेड़ है, न फल का, न फूल का, सब व्यर्थ ही तो है। जो कुछ सोचा, उसपर कभी विश्वास न कर पाया। चन्दा को चाहता रहा, पर उसके दिल में चाहत न जगा पाया। उसे कहीं से एक पैसा माँगने पर डाँटता रहा, पर खुद लेता रहा और आज...वह दूसरे के घर बैठ रही है...उसे छोड़कर...वह अकेला है, बिल्कुल अकेला !...हर तरफ बोझ है, जिसमें उसकी नस-नस कुचली जा रही है, रग-रग फट गई है।...और वह टटोल टटोलकर भीतर घर में पहुँचा।...

'रानी अपने कुलदेवता के मंदिर में पहुँची'—माँ सुनाया करती थीं—अपने सतीत्व को सिद्ध करने के लिए उन्होंने घोर तपस्या की। राजा देखते रहे ! कुल देवता प्रसन्न हुए और उन्होंने अपनी दैवी शक्ति से दोनों बालकों को तत्काल जन्मे शिशुओं में बदल दिया। रानी की छातियों दूध भर आया और उनमें से दूध की धार फूट पड़ी, जो शिशुओं के मुँह में गिरने लगी। राजा को रानी के सतीत्व का सबूत मिल गया। उन्होंने रानी के चरण पकड़ लिये और कहा कि तुम देवी हो ! ये मेरे पुत्र हैं ! और उस दिन से फिर से राजकाज सँभाल लिया.........

पर उसी रात जगपती अपना सारा कारबार त्याग, अफीम और तेल खाकर मर गया। क्योंकि चन्दा के पास कोई दैवी शक्ति नहीं थी और जगपती राजा नहीं, बचनसिंह कम्पाउन्डर का कर्ज़दार था !......

'राजा ने दो बातें कीं,'—माँ सुनाती थीं—एक तो रानी के नाम से उन्होंने बहुत बड़ा मन्दिर बनवाया और दूसरे राज के नये सिक्कों पर बड़े राजकुमार का नाम खुदवाकर चालू किया, जिससे राज-भर में अगले उत्तराधिकारी की खबर हो जाय......

जगपती ने मरते वक्त दो परचे छोड़े, एक चन्दा के नाम, दूसरा कानून के नाम।

चन्दा को उसने लिखा था, चन्दा, मेरी अंतिम चाह यही है कि तुम बच्चे को लेकर चली आना ...अभी एक-दो दिन मेरी लाश की दुर्गति होगी, तब तक तुम आ सकोगी। चन्दा आदमी को पाप नहीं पश्चात्ताप मारता है, मैं बहुत

पहले मर चुका था। बच्चे को लेकर जरुर चली आना।

कानून को उसने लिखा था, किसी ने मुझे मारा नहीं है···किसी आदमी ने नहीं। मैं जानता हूँ कि मेरे ज़हर की पहचान करने के लिए मेरा सीना चीरा जायगा। उसमें ज़हर है। मैंने अफीम नहीं, रुपये खाये हैं, उन रुपयों में कब्र का ज़हर था, उसी ने मुझे मारा है। मेरी लाश तब तक न जलाई जाय, जब तक चन्दा बच्चे को लेकर न आ जाय। आग बच्चे से दिलवायी जाय। बस।

माँ जब कहानी समाप्त करती थीं, तो आस-पास बैठे बच्चे फूल चढ़ाते थे। मेरी कहानी भी ख़त्म हो गयी, पर······

—:०:—

पं० गिरिजाशंकर पाण्डेय

जन्मकाल — रचनाकाल

१६२५ ई० — १६४७ ई०

राह का कंटक

जिस दिन कोढ़ी के लड़के से अपनी कन्या के विवाह-प्रस्ताव को रामलोचन ने ठुकरा दिया, उसी दिन वृद्धा गंगाजली ने गृह-त्याग और काशीवास का दृढ़ संकल्प कर लिया। आज यह पहला अवसर तो न था। इसी भाँति अन्य कई लोगों ने अपनी कन्याओं से उसके पुत्र के विवाह-प्रस्ताव का खंडन ही नहीं, तिरस्कार भी किया, और खिल्ली उड़ायी थी। पर गंगाजली आघात की आदी हो चुकी थी। आज रामलोचन के इस निर्णय ने उसमें एक नयी प्रेरणा उत्पन्न कर दी। दिन भर गंगाजली गाँव वालों से अपने गृह-त्याग और काशीवास की चर्चा करती रही। पड़ोसी बुढ़िया के इस आकस्मिक निश्चय से विस्मित थे, मुहल्ले की स्त्रियाँ दुःखित थीं। कुछ रो भी पड़ीं—हाय! एकलौता बेटा, और इतने दिनों का संसार-त्याग कर जा रही है। अभागिन!...कोढ़ जो न करा दे। हे भगवान्!

संध्या समय जब लड़का बाहर से घर लौटा तो गंगाजली ने आँसुओं से भरे नेत्र और काँपती हुई वाणी से कहा—'विश्वनाथ! माँ-बाप मनुष्य को जन्म देते हैं, पाल-पोस और पढ़ा-लिखाकर आदमी बनाते हैं। पर बेटा, भाग्य की रेखा को नहीं मिटा सकते। तुम्हारे लिए मैं पाप बन गयी हूँ। कल मैं काशी जा रही हूँ।'

'क्यों माँ, तुम कल काशी क्यों जाओगी?'

'मुझ कोढ़ी के रहते कौन तुझे अपनी कन्या देगा? फिर तेरी राह का कंटक क्यों बनूँ! विश्वनाथ मैंने इस घर में पचास वर्ष का जीवन बिताया है। दस वर्ष की उम्र में दुलहिन बनकर आयी, सास-ससुर का सुख पाया। तुम्हारे बाप थे, उन्होंने भी पान की तरह फेर कर रखा। उनके जाने के बाद तुम्हें देखकर जीती रही।

लेकिन बेटा, मुझे तुम्हारे सुखों को भी तो देखना है। अपने नरक में तुम्हें क्यों घसीटूँ?'

'माँ, मैंने कह दिया न। मैं विवाह ही न करूँगा। तुम मेरे लिए इतनी चिन्ता क्यों करती हो?'

'यह क्या तुम्हारी ही चिन्ता है विश्वनाथ? यह तुम्हारे बाप-दादों के वंश की चिन्ता है। वाह रे संसार! कोढ़ मुझे हो और भोगे मेरा बेटा। लो, मैं ही चली जाती हूँ। कल तुम इन्द्रमणि के घर कहला देना। वह भी मेरी ही तरह दुःखों की मारी विधवा है। उनकी लड़की साँवली है तो क्या, मेरे घर की बहू होने योग्य है। बेटा, वह राँड़-गरीब तुझे दहेज न देगी, न सही। लड़की तो देगी, उसे ही सिर-माथे लगाना......।'

'जब मैं विवाह करूँ तब तो? मैंने तो प्रण कर रखा है माँ...।'

किन्तु माँ ने इस प्रण के विरुद्ध कुछ न कहा। उस रात माता-पुत्र में विवाद होता रहा। रो-रोकर गंगाजली ने रसोई पकायी, प्रेम से परोस कर बेटे को खिलाया। विश्वनाथ खाता न था—हजारों कसमें दिलाकर वृद्धा किसी भाँति उसे शान्त कर सकी। पत्नी लाने, घर बसाने, और जीवन चलाने की सारी बातें सिखाकर रात ही में उसने गाँव छोड़ दिया।

भोर का समय था, रास्ता अँधेरा, लहलहाते हरे-भरे खेतों के बीच निर्जन पगडंडियाँ......।

सहसा शृंखला टूट गयी। दिमाग उचटा और भिखारियों का करुण-क्रंदन सुनायी पड़ा—'बाबू जी, ईश्वर के नाम पर......एक पैसा......।'

'अरी बुढ़िया, सँभल के बैठ। साहब तेरा फोटू लेंगे।' बगल में बैठा एक जटाधारी साधु बोला, जो अभी-अभी गाँजे की दम लगा रहा था—'साहब ने मेरा भी फोटू लिया और एक रुपया इनाम दिया...यह फोटू वह बिल्लाइत ले जायगा।'

एकाएक मन आसमान से गिरा। कहाँ वह अपना गाँव और कहाँ यह काशी का दशाश्वमेध रोड। छोटी झोपड़ियाँ, लहराते खेत, अपना टूटा घर, सब ओझल हो गये और आँखों के सामने वही सत्य नाच पड़ा—दशाश्वमेध रोड

की चौड़ी सड़क, दोनों ओर ऊँचे-ऊँचे मकान, इक्का-ताँगा और मोटरों की पों-पों, सैकड़ों आदमियों का कोलाहल, चाय की दूकानें, रेडियो, अखबार, और...और चित्तरंजन पार्क के बगल में भिखमंगों का संसार; वह संसार जिसमें मृगी, हिस्टीरिया, गर्मी, लकवा और कोढ़ के रोगी कीड़ों से सरकते, कहँरते बज-बजा रहे हैं, मल-मूत्र में लपेटे, जिन पर मक्खियाँ भिनक रही हैं। इसी सड़क पर विदेशी यात्री मोटरों से उतरते हैं। घाटों की सैर के लिए जाते-जाते भिखारियों के भी चित्र ले जाते हैं, जिससे योरप और अमेरिका में वे भारत की गैरत का अच्छा ढिंढोरा पीट सकें!

'शरम नहीं आती। साधु बने हो! इतने हट्टे-कट्टे, मेहनत क्यों नहीं करते? भीख माँग कर गाँजा पीते हो...छिः।' पास ही की चाय की दूकान पर बैठे एक विद्यार्थी ने गँजेड़ी बाबा को डाँटा।

'अरे पार्टनर, इतने ही से घबरा गये। यह गाँजे का दम मारते हैं, मलाई खाते हैं और वह सब मजा लेते हैं जो हम नहीं ले सकते। फिर भी ये भिखारी हैं। मौत तो हम—एम० ए०, बी० ए० वालों की है। कल यहीं एक भिखारी मरा था। उसकी गुदड़ी से अठारह सौ निकले। हमसे तो साधु-बाबा ही अच्छे। कितना अच्छा होता यदि बी० ए० पास ही न किया होता! कम से कम इनकी तरह निश्चिन्त तो रहता। मुफ्त में खाता और अठारह सौ जोड़ता...अरे इसी पोस्ट आफिस में कितनों के खाते खुले हैं। विश्वास न हो तो पोस्टमास्टर से पूछ देखो...।' हँसते हुए एक आइसक्रीम बेचनेवाले विद्यार्थी ने कहा।

'भाई, तुम धन्य हो। बेकारी-समस्या का यह अच्छा समाधान निकला। कोई तुमसे सबक ले। जरा इस बाबा को देखो...कैसी मस्ती से गाँजा पी रहा है। और फिर इन विदेशी यात्रियों पर गौर करो जो हमारे पापों के चित्र ले जाकर बाहर हमारे ही विरुद्ध प्रचार करते हैं, हँसते हैं।'

गोरे यात्री ने कोढ़ी बुढ़िया का चित्र खींचा, चलते समय एक रुपया उसके सामने फेंका और अन्य साधुओं, भिखारियों तथा बीमारों का फोटो उतारता आगे बढ़ गया। लोग देख रहे थे...चाय की दूकान में रेडियो बज रहा था, मोटरें आतीं और हार्न देतीं निकल जातीं, पर भिखमंगों की यह दुनिया गुदड़ी का कफन

लपेट जीते ही नरक में डूब रही थी।

'यदि सरकार के पास धन नहीं है तो क्यों नहीं इनके धन से ही इनका इलाज करती ? पर कौन कहे...कौन सुने......।' विद्यार्थी बोला।

'अच्छा पार्टनर...चला, नमस्ते'। आइसक्रीम बेचनेवाले ने उत्तर दिया और चला गया।

'नमस्ते!'

फिर वही...बाबू जी...एक पैसा ईश्वर के नाम पर...अपाहिज गरीब को...।

× × × ×

तब से आज पाँच वर्ष बीत गये। गंगाजली काशी में दशाश्वमेध घाट पर भीख माँगती और अपने नारकीय जीवन के शेष दिन किसी प्रकार बिता देती। कभी-कभी ग्रहण आदि में गाँव वाले गंगा-स्नान करने काशी आते तो पहचान जाने के भय से दूर से ही उन्हें देखकर वह भाग खड़ी होती। कहीं गाँव वाले विश्वनाथ पर अँगुली न उठायें। उस दिन की आमदनी भी चली जाती। हाय रे लोकलज्जा! तू मरते-मरते भी अपने ब्याज का दरसूद भी वसूल कर लेगी।

सपना चलने लगा। विचारों की कड़ी फिर जुड़ गयी। वही गाँव, वही सुधि......।

विश्वनाथ का विवाह हो गया। बहू घर आ गयी। सूना आँगन फिर एक बार दुलहिन की पायलों की रुनझुन से गूँज उठा। गंगाजली का हृदय भीतर ही भीतर तड़प उठा। कई बार इच्छा हुई। एक बार गाँव जाकर बहू का मुँह तो देख आऊँ। उसे आशीर्वाद दे आऊँ। किन्तु घर जाने का उसे साहस न हो सका। किस मुँह से गाँव वापस जाय! जब कभी बेटे-पतोहू का स्नेह हिलोरें मारता तो वह गंगा-तट पर एकांत में जाकर खुल कर रोती और जब हृदय का भार कुछ हल्का हो जाता तो मुँह धोकर फिर अपने स्थान पर आ जाती। एक बार फिर वही स्वर सुनायी पड़ता—बाबूजी...एक पैसा, ईश्वर के नाम पर...... अपाहिज गरीब को......।

अभी पार साल की बात है। ग्रहण पर गाँव वाले काशी आये थे। साथ में बहू भी थी। एक स्त्री ने देखा और पहिचान लिया उसने बहू की ओर संकेत

किया कि यह विश्वनाथ की पत्नी है, उसकी पुत्रवधू। उसकी गोद में चाँद-सा एक सुन्दर बच्चा खेलता मचल रहा था; ठीक विश्वनाथ की मुखाकृति थी। गंगाजली का प्रेमाकुल हृदय पौत्र को गोद में लेकर चूमने, लाड़ करने और 'मुनुआ' कहकर दुलारने के लिए हाहाकार कर उठा। पर अभागिनी कोढ़ी के गलित अंग उठ न सके। उसने अपनी ऐंठी, गली और सूजी हुई अँगुलियों को देखा, एक साँस खींचकर मुँह ढाँप लिया। भीड़ छँट गयी, लोग चले गये।

तब से कोई समाचार न मिला। गंगाजली उसी भाँति भीख माँगती, अंग्रेज आते, अमेरीकन आते, उसके चित्र लेते, रेडियो बजता, मोटरें दौड़तीं और बुढ़िया कब्र में लेटे भूत की भाँति कहँर-कहँर कर अपने दिन काट रही थी।

× × × ×

'कहो भइया, यहाँ कोई बूढ़ी स्त्री भीख माँगती थी?' देहाती लग रहे एक युवक ने चाय की दूकान पर बैठकर अखबार पढ़ने वाले एक दूसरे मनुष्य से पूछा।

'अरे वही जो कोढ़ी है न!'

'हाँ बाबूजी, वही...वही, कहाँ है वह?'

'होगी कहीं, इधर-उधर। आज तो नहीं देखा उसे।'

'परसों से बीमार थी। किसी दूकान के पटरे के नीचे होगी या उस कूड़े के पीछे......।'

गिलास में चीनी गलाने के लिए चम्मच हिलाते हुए चाय वाले ने बताया—'अब तो चला-चली का समय है। बेचारी थी किसी अच्छे घर की...पाँच साल यहाँ भीख माँगती रही। पर थी बहुत नेक।'

'भाई, भिखारी हो जाने से ही कोई अपने जीवन भर के संस्कार नहीं भूल सकता।' चाय पीने वाले व्यक्ति ने उत्तर दिया। देहाती युवक हक्का-बक्का हो मुँह ताकता रहा। फिर पागल-सा बुदबुदाता इधर-उधर खोजने लगा। पास के दूकानदार हँसते—'भला, भिखारियों की भी खोज करनेवाला आज एक आया तो।'

पर युवक का ध्यान इधर न था। बहुत परिश्रम के बाद उसने ढूँढ़ निकाला ! कूड़े की ढेर के पीछे पेशाब की नाली के पास; फटे चीथड़ों में लिपटी मौत के पंजे में काँपती गंगाजली का अस्थि-पंजर अन्तिम श्वास की खरखराहट से हिल रहा था। युवक आँधी की भाँति चिल्ला उठा—'माँ, तुम्हें वापस लेने आया था, इस जीवन से विदा कराने। मैंने धन एकत्र कर लिया है। पर तू मुझे छोड़ गयी...मैं तेरी कुछ भी सेवा न कर सका।'

भीड़ लग गयी। उसी समय एक विदेशी यात्री गाइड के साथ मोटर से उतरा। यह दृश्य देखा तो बोला—'वन स्नैप, ए मिनट प्लीज।'

गाइड चिल्लाया—'ए आदमी हट जा, साहब तस्वीर लेना चाहता।'

लोग टुकुर-टुकुर ताकते रह गये। अभागिनी गंगाजली का शव भी संसार के लिए एक तमाशा बन गया था। साहब ने जेब से एक रुपया निकाल कर फेंका और हँसता हुआ चला गया। दर्शकों को बाद में मालूम हुआ कि देहाती युवक बुढ़िया का पुत्र था जो उसे वापस ले जाने के लिए आया था। चाय की दूकान पर अखबार पढ़ने वाले विद्यार्थी ने धीरे से कहा—भाई, रोओ मत। इस देश में अभी लाखों माँ कोढ़ से सड़कर भिनभिना रही हैं। उन्हें घर ले चलो। आओ चलें पुलिस चौकी पर...अभी तो बहुत से काम बाकी हैं।'

विश्वनाथ ने दूसरी ओर देखा। एक देहाती युवती मुँह ढाँके गोद में बच्चा लिए सिकुड़ी रो रही थी। बच्चे ने माँ की ओर देखकर पूछा—'माँ दादी क घर न चलोगी? वह कैसा तमाशा है माँ?'

पर माँ इसका क्या उत्तर दे! चाय वाले की दूकान पर लगा रेडियो अब भी गा रहा था—डूब जा मँझधार में साहिल पै आना है मना।'

—:०:—

श्री राजेन्द्र यादव

जन्मकाल	रचनाकाल
१६२६ ई०	१६४७ ई०

एक कमजोर लड़की की कहानी

भूमिका

पाठको, इसमें मैंने सुखान्त और दुखान्त दोनों प्रकार की रुचि रखने वालों के लिए कहानी कही है। आप में से बहुतों ने अपनी सच्ची लगन से अपनी किसी पड़ोसिन लड़की से अवश्य ही प्रेम किया होगा और बहुत सम्भावना है —बहुत क्या निश्चय ही-उस लड़की की शादी आपके देखते-देखते दूसरे के साथ हो गई होगी। तब आप रोये होंगे, मन ही मन घुले होंगे और अक्सर आत्महत्या की बात सोचा करते रहे होंगे। लेकिन फिर सभी कुछ ठीक हो गया होगा। आप अपनी जिन्दगी के संघर्षों में, नौकरी की तलाश में या आफिस की फाइलों में खो गये होंगे, लड़की अपने पति के साथ बच्चे पैदा करने में लगी होगी और दोनों उस बात को बचपन की बात कहकर भूल गये होंगे। बड़े हो कर आप अत्यन्त रखवाली करते होंगे कि कहीं आपका लड़का भी किसी लड़की से बचपन का यही खेल न खेलने लगे, और आपकी भूतपूर्व प्रेमिका अपनी लड़की को हमेशा अपनी आँखों के आगे रखती होगी कि कहीं वह आप जैसी 'पड़ोसी-लड़के' के चक्कर में न उलझ जाय और उसे 'जीवन-सर्वस्व' न समझने लगे, जैसा स्वयं उसने कभी अपने आपको समझा था।

खैर मैं कहानी यहाँ से शुरू करना चाहता हूँ कि प्रेमिका की शादी को हुए बहुत थोड़ा-सा, लगभग दो-तीन साल का समय बीता है। प्रेमी, सुविधा के लिए उनका नाम प्रमोद मानिये, एक प्रसिद्ध नेता बनकर उसी नगर में आया हुआ है जिसमें प्रेमिका रहती है, लेकिन ठहरा वहाँ नहीं है। फिर भी व्यस्तता में से थोड़ा समय निकाल कर, जैसे भी हो, उसका इरादा उससे मिल आने का

अवश्य है। वह बैठा सन्ध्या की कार्यकारिणी में पढ़ने के लिए आवश्यक रिपोर्ट तैयार कर रहा है। मन ही मन वह प्रतीक्षा कर रहा है कि जिस अधिवेशन में वह आया हुआ है, उसके संयोजक से उसने जो कुछ आँकड़े मागे थे, वे अभी तक क्यों नहीं आये। उसने उनके पास एक स्वयंसेवक भेज दिया है और इस समय वह उसी की राह देख रहा है। सुबह के दस बजे हैं, वह पलंग पर बैठा ही लिख रहा है, अभी वह जो चाय पी चुका है, उसका खाली प्याला पास में रखा है। सामने का दरवाजा बरामदे में खुला है—बरामदे में दरवाजे तक धूल की एक चौड़ी पट्टी आयी हुई है। समय जाड़े का है। एक ऊनी शॉल उसके कन्धों पर लापरवाही से पड़ा है। हाथ में फाउएटेनपेन खुला है और उसे पीछे से हल्के-हल्के दाँतों पर ठोंक कर वह कुछ सोच रहा है। बस, कहानी शुरू करने के लिए इतना काफी है, शेष कहानी के दौरान में आता चलेगा।

कहानी दूसरे महायुद्ध से पहले की है।

१—कुँआ और गूँजती आवाज

'हुँ: तो आपने मुझे जहर देने के लिए बुलाया है? यह जहर भी तो देखें।' प्रमोद ने मन ही मन कहा और हाथ का पत्र मोड़कर जेब में रखने लगा। रखते-रखते फिर एक बार उड़ती निगाह डाली। उनमें चिरपरिचित अक्षरों में केवल यही लिखा था और हर अक्षर में किसी की अलकों की भीनी-भीनी गंध थी।

प्रमोद भैया,

आप यहाँ आये हुए हैं, फिर भी आपने यहाँ आने की आवश्यकता नहीं समझी। यह तो उचित नहीं है। क्या सन्ध्या को ठीक आठ बजे हमारे यहाँ खाने पर आयेंगे? सच हम लोग बहुत प्रतीक्षा करेंगे। हाँ, एक बात है, आपसे छिपाना नहीं चाहती। भोजन मैं अपने ही हाथों से बनाऊँगी, वह विशेषरूप से आपके ही लिए होगा क्योंकि उसमें 'पोटाशियम-साइनाइड' मिला होगा। मजाक इसमें जरा भी नहीं है। लेकिन वह आपको खाना ही है। विशेष क्या? आप आठ बजे आ ही रहे हैं। आ रहे हैं न?

आपकी,
सविता

साथ का पत्र संयोजक जी का था जिसमें कागज देर से भेजने के लिए क्षमा-याचना की गई थी क्योंकि जो सज्जन इन कागजों को रख गये थे, वे अभी तक नहीं आये थे। एक साथ दोनों पत्रों को उसने बड़ी लापरवाही से मेज के एक कोने में फूलदान से टिका कर खड़ा कर दिया और स्वयं उस रिपोर्ट में उलझ गया। दो घण्टे तक सब कुछ भूल कर वह रिपोर्ट लिखता रहा।

काम समाप्त करके जब उसने सिर ऊपर उठाया और एक थकी साँस ली तो अनजाने ही उसके होठों से निकल गया—तो तुम जहर खिलाओगी सविता? अच्छी बात है। और स्मृतियों की फुहार में वह हँस पड़ा; पीछे दीवार से पीठ टिका कर सहारा लिया और गुनगुनाने लगा—'अमृत हो जायेगा विष भी पिला दो हाथ से अपने।'...अतीत की गुंजलिका धीरे-धीरे खुलने लगी, खुलती चली गई...वह बुदबुदाया...अब कौन-सा जहर रह गया है कि...

'सचमुच, शर्म तो आपको आ नहीं रही होगी?'

'किस बात की!'

'किस बात की?' उसने चिढ़कर मुँह बनाते हुए दुहराया'—बड़े आये हमें अपनी जूठी कॉफी पिलाने वाले! पहले शीशे में जाकर अपना मुँह तो देखिये। जाइये, हम नहीं पीते।' वह ठुनक उठी, 'पता है, मैं ब्राह्मण की बेटी हूँ, अपनी हैसियत से रहा कीजिये।'

'बहुत बक-बक मत कर, खोपड़ी तोड़ दूँगा। घर में क्या घुस आने देते हैं? वह तो यहाँ आकर रौब झाड़ने लगी! तेरे पुरखों ने भी देखी होगी कॉफी वहाँ? वहाँ तो तुलसी का जुशांदा उबालते हैं।'

'नहीं जी, हमें कॉफी क्यों देखने को मिलेगी? हिन्दुस्तान के सारे काफी के बगीचे तो आपके हैं न, आप ही तो एक इंगलैंड से नये लौटकर आये हैं न, बड़े आये चलकर हमें काफी पिलाने!' मुँह बिचका कर वह बोली।

'इंगलैंड से नहीं आये तो तेरी तरह से घर में ही बैठकर पढ़े हैं? पता है, आप एक बैरिस्टर से बातें कर रही हैं इस समय; बाहर से ही चपरासी भगा दिया करेगा।'

'जी हाँ, बहुत बैरिस्टर देखे हैं! आते हैं तो बड़ा रौब और शान रखते हैं, फिर तो झाड़ू ही लगाते बनता है सड़कों पर!' वह खिलखिला कर हँस पड़ी।

'अच्छा, बक-बक मत कर, काफी पीती है कि नहीं, टण्डी किये डाल रही है।'

'फिर वही रट, कह दिया कि हे लन्दन-पलट बैरिस्टर प्रमोद जी, आप इस समय लन्दन के किसी क्लब में, किसी मेम के साथ नहीं बैठे हैं कि एक दूसरे की 'तन्दुरुस्ती' पी जा रही है, जूठी शराब और काफी चल रहे है। आप इस प्रसिद्ध तीर्थ नगरी में अपने घर में हैं और कुमारी सविता शर्मा, समझे, 'शर्मा' से बात कर रहे हैं। यह तो कहिये, मैं आपके यहाँ का पानी तब भी पी लेती हूँ; हमारी जाति का कोई सुने तो निकाल बाहर करे—कायस्थों के यहाँ का पानी? राम-राम!' उसने कानों पर हाथ रख लिये।

'तो मुझे भी जिद है कि आज तुझे काफी पिलाकर ही छोड़ूँगा, बैरिस्टरी मैंने पढ़ी है, छाँट आप रही हैं।'

प्रमोद ने झपट कर उसकी बाँह पकड़ ली और अपना प्याला उठाकर उसके मुँह से लगाकर......गुर्राया—'पा...पी...नहीं तो फैलती है...'

'भैया, यह बात ठीक नहीं है, मैं भाभी को आवाज़ देती हूँ फिर—भाभी।' वह नाराजी से बोली—'काफी-वाफी हम नहीं पीते, हमें स्वाद नहीं आता... हुक्के का-सा पानी, अरे...मानो...।'

'स्वाद नहीं आता! सारी दुनिया काफी पीती है, इन्हें अनोखा ही स्वाद आता है।' बाँह छोड़ कर प्रमोद ने गर्दन पकड़ ली, और दूसरे हाथ का प्याला 'खट्' से उसके होठों से लगा दिया। सविता के होठ जल गये और दो घूँट मुँह में भर गयी। एकदम वह सटक गई। सारा मुँह लाल हो उठा, गले की नसें उभर आईं और आँखों में पानी भर आया। उसने दोनों हाथों से प्याला पकड़ कर इस तरह साँस ली जैसे डूब जाने पर उभर कर साँस ली हो। प्रमोद ने कप हटा लिया।

'ले अब रो, भाभी से जाकर, कि मेरा धर्म नष्ट कर दिया, न जाने क्या पिला दिया! उद्दण्ड स्वर में वह बोला। फिर काफी के प्याले को अपने होठों की

और बढ़ाया ।

सविता का गला जल गया था और दोनों हाथों से अभी तक उसने गला पकड़ रखा था ।

'तुझे तो सीधे मुँह कभी कुछ करने को कहे ही नहीं । बस गर्दन पकड़ी और काम करा लिया ।' बात समाप्त करके उसने फिर प्याला अपने होठों की तरफ, जहाँ कुटिल मुस्कुराहट नाच रही थी, बढ़ाया ।

'तुम्हारी भी आज बाबूजी से शिकायत नहीं की तो मेरा नाम नहीं । लन्दन से लौट कर आये हैं, इस मारे यहाँ आदर करते-करते मरे जाते हैं और आप सा'ब हैं कि किसी को बदते ही नहीं अपने सामने । हमारा सारा गला जल गया । अरे, अब उसे क्यों पीते हैं ? मुँह से निकल आई थी—हाय-हाय कैसे गन्दे हैं ! छिः छिः !' घिन से दोनों हाथ झटक कर वह बोली, 'भैया सच, तुम तो जब से पढ़ लिख कर आये हो, बिल्कुल मलेच्छ हो गये हो, और लेके हमें अपनी जूठी काफी पिला दी । भैया, सच बात है, ऐसे तुम मेरा धरम नष्ट करोगे तो मैं यहाँ झाकूँगी भी नहीं, समझे । उसने ऐसा भाव दिखाया जैसे काफी उसके पेट से वापस उमड़ी आ रही हो ।

'झाँकने को कौन मैं तेरे हाथ-पाँव जोड़ने गया था कि हे सविता रानी जी हमारी, आपके बिना हमारा घर सूना पड़ा है, आप चलिये नहीं तो मुहूर्त निकला जा रहा है ।'

'हाय ! कोई सुने तो क्या कहे, जाने क्या-क्या बके जा रहे हो । भैया, हमें ये सब बातें अच्छी नहीं लगतीं । तुम्हें तो कुछ शरम-लिहाज है नहीं । जब से आये हो, जो मुँह पर आता है बक देते हो, एक तो अपनी जूठी-सच्ची चीज खिला कर हमारा धरम नष्ट कर दो और ऊपर से ये सब कहनी-अन-कहनी कहो ।'

'बड़ी आई धरम-करम की रट लगाने वाली; धरम की बच्ची, धरम तो तेरा तभी नष्ट हो गया जब तू जान-बूझ कर यहाँ आई ।' फिर एक ओर मुँह फेर कर, जैसे किसी अनुपस्थित व्यक्ति को सम्बोधित करके बोला, बाप-भाइयों ने हमारी बिरादरी वालों को भड़काकर जाति से निकलवा दिया, और बेटी है कि चौबीस

घण्टे बस हमारी ही छाती पर सवार रहती है, न पढ़ने देती है न लिखने।' फिर एकदम उसकी ओर मुँह करके बोला, 'अच्छा आप भागिये यहाँ से, वर्ना फिर मैं बुलाता हूँ पण्डितजी को। खबरदार फिर जो कभी यहाँ आई होगी—बस वहीं बैठी अपनी खिड़की से झाँका कर, समझे! वैसे तो जूठी है–जूठी है की रट लगा दी, पिलाया तो एक घूँट में आधा कप खाली कर दिया।'

'हाय, झूठ की हद्द हो गई है भैया, सच! एक तो हमारे होठ जला दिये, नहीं तो मैं एक घूँट नहीं पीती।'

'पी तो सही, अच्छा बता कैसी लगी हमारी जूठी काफी?' उसने ललक कर पूछा।

'कड़वी जहर, थू-थू, जाने माँस-मच्छी क्या-क्या खाते हैं।' सविता ने ऐसा मुँह बनाया जैसे नीम की पत्तियाँ चबा ली हों।

'आहा, हमें तो बड़ी मीठी लग रही है, अमृत जैसी! भई वाह, क्या कहने हैं!' 'बाकी काफी को आनन्द से एक ही घूँट में पीते हुए वह बोला।

'तो लाओ, थोड़ा और थूक दूँ उसमें! जरा और मीठी हो जायेगी।' धृष्ठता से वह बोली।

'थूकना क्या, तुमने तो बस छू दिया होटों से, बस उसमें शहद घुल गया।' उसी तरह उसने उत्तर दिया।

'तो बस, मैं भाभी से कहे आती हूँ, आज से चीनी घर में जरा भी नहीं आयेगा। मैं कुल्ला कर के पानी रख दूँगी, दूध चाय में सब में वही पड़ेगी।'

दूर बरामदे में आती भाभी की झलक प्रमोद को मिल गई। वह झटक कर सीधा बैठ गया, इधर-उधर पड़ी किताबें सामने खिसका कर ठीक कर लीं। एक घूँसा सविता की पीठ में मार कर बोला, बड़ी आप स्वर्ग की देवी चली आ रही हैं कि हमारे खाने में थूकेंगीं। अपना मुँह तो देख, महीने भर से दाँत साफ नहीं किये हैं, तमाम बदबू आ रही है। चली आई मटकती हुई, 'हमें पढ़ा दो।' फिर ऊपर से ये कि हम आपके खाने-पीने में थूकेंगे।'

'हाय राम रे मार डाला।' सविता दुहरी हो गई।

पाठको, मुझे लगता है कि यह कहानी बहुत हल्की और बचकानी चल

रही है, इसलिये इसे थोड़ा गम्भीर रंग देना जरूरी है।

तभी भाभी ने प्रवेश किया, 'क्यों मारे डाल रहे हो लालाजी, पराई लड़की... सारी दुनिया में घूम आये, यह आदत नहीं छोड़ी! अरे, अब तो कुछ ढंग सीखा होता। अभी कुछ हो गया तो उसके बाप-भाई जान लेने आ जायेंगे, वैसे ही हमें तो काले पानी की सज़ा है।'

'तो यह हमारे खाने-पीने में थूकने को क्यों कह रही थी?' नकिया कर अपराधी की तरह वह बोला।

'मैं कह रही थी...?' मेज के पास से हटकर सविता भाभी से सटकर खड़ी हो गई और भुनभुनाते हुए शिकायत के स्वर में बोली, 'खुद ही तो मुझे...'

'अच्छा तू नहीं कह रही थी कि आप तभी शुद्ध हो सकते हैं जब गोमूत्र पियें, गोबर खाँय, गोबर मलें और एक ब्राह्मण कन्या से सात-दिन तक अपने खाने में, हर चीज में रोज थुकवा लिया करें...'

'मैंने कब कहा?...' उसने भाभी का हाथ अपनी पीठ पर ले जाकर अपने हाथ से टटोल कर वह जगह, जहाँ घूँसा लगा था, दिखलाते हुए कहा, 'देखो, कैसी जगह उछल आई है।'

'हाय, सच्ची, लालाजी कुछ तो सोचा करो। बिचारी के गोला बन गया है। अभी हड्डी-पसली टूट जाती तो कहीं शादी-ब्याह भी नहीं होता...' भाभी ने सहानुभूति से कहा। वह गम्भीर थीं।

'अरे भाभी, सच, तुम भी किसकी बातों में आ गईं? यह बहुत चालाक है। इसके जरा भी नहीं लगी होगी, तभी तो इसने इतना हल्ला मचा रखा है। हल्ला मचाना तो इसके पूरे खान्दान का काम है, एक तो अपना सारा समय नष्ट करके इन्हें, साहबज़ादी को पढ़ाओ, इनका काम देखो, फिर भी यह हमारी उल्टी-सीधी बातें बना कर भिड़ाएँगी, जाओ हम नहीं पढ़ाते, ले जाओ अपनी किताबें-कापियाँ सब...' उसने सविता की किताब कापियाँ मेज से नीचे फेंक दी।

तभी दरवाजे पर नौकर ने आकर बताया, 'बहूजी, छोटे बाबूजी ने बुलाया है।'

'अरे हाँ, लालाजी, मैं तो भूल ही गई, तुम्हारे भाई साहब ने तुम्हें बुलाया

है। बाबूजी भी वहीं बैठे हैं। इस बचपने को छोड़ो, जरा जल्दी चलो, कुछ जरूरी काम है'—भाभी जल्दी से चली गईं।

'बच गये बच्चा जी, अभी सब दाल-आटे का भाव मालूम पड़ जाता। कह देती, अपनी जूठी कॉफी पिलाते हैं।' वह विजय से हँस कर बोली।

प्रमोद ने नहीं सुना, उसके चेहरे का सारा उल्लास और बचपना गायब हो चुका था। ऐसी एक बोझिली छाया उसकी भौहों पर उतर आयी, जैसे बड़ी भारी चिन्ता, फिक्र और परेशानियों का पहाड़ उसपर टूटने को हो। वह खुद ही बड़बड़ाया, 'ऊँः एक बार कह दिया, दस बार कह दिया, अब हर रोज पता नहीं क्यों पेशी होती है? जिन्दगी तलख कर दी!' वह टाई की गाँठ ठीक करता-करता चिन्तामग्न-सा चल दिया। जैसे कुछ याद आ गया और दो कदम लौटकर अचानक दरवाजे पर ही धीरे-से बोला' 'कापी देख लेना।' वह बाहर निकल गया।

नीचे पड़ी हुई किताब-कापियाँ सविता ने समेट लीं। फिर वह उसी कुर्सी पर बैठ गई जिस पर अभी प्रमोद बैठा था। किताब पास खोल ली और इधर-उधर सावधानी से देखकर कापी खोलकर उस पर झुक गई। कापी में जल्दी-जल्दी में लिखा था—

'सविता मेरी,

इधर घरवालों ने बहुत-बहुत परेशान कर डाला है। फिर से बिरादरी में मिलने की बस यही तरकीब इन लोगों की समझ में आ रही है कि जल्दी से जल्दी मेरी शादी कर दें, ताकि उनका दल मजबूत हो जाय। उसके साथ तब फिर एक घराना और रहेगा। मुझे सिर्फ एक ही झिझक है कि मेरे विलायत जाने की वजह से ही यह सब मुसीबत आई है। भाई साहब और बाबूजी पीछे पड़े हैं कि दो-दो छोटी बहनें हैं, इनका सब कैसे करोगे? बिरादरी से अलग होकर कैसे और कब तक चलेगा! लेकिन...लेकिन मैं जानता हूँ कि शादी मेरी होगी बस एक के साथ, नहीं तो नहीं होगी। आजीवन यों ही रहूँगा। तुम मेरा साथ दो तो मैं यम से भी नहीं डरता—! तुम मेरी प्रेरणा हो, दिग्दर्शक यंत्र हो, शक्ति हो! समझे, शक्ति को लेकर ही तो शिव शिव हैं, और उनमें साहस हैं कि वे

काल-कूट पचा सकें ! मैं भी यह सारा विष हँसते-हँसते पी जाऊँगा। तुम जहाँ भी रहोगी, मेरे सपनों में सुरभित रहोगी, मेरी वाणी में मुखरित रहोगी। सविता, तुम मेरी पूर्णता हो और अपनी पूर्णता को पा कर ही मैं शेष जगत की शोषित जनता को अपूर्णता का निदान खोज सकूँगा। एक सधे हुए संतुलित जहाज की तरह इन लहरों और आँधियों में अपने मार्ग की ओर बढ़ सकूँगा, वर्ना कार्क की तरह यहाँ से वहाँ, अपनी ही अपूर्णता में भ्रांत फिरने के क्या लाभ ? अच्छा हो, आदमी एक किनारे पर बैठा रहे। और यही निश्चय मैंने सूचित कर दिया है उन लोगों को। शादी तो जहाँ मैं चाहूँगा वहाँ होगी, नहीं तो समय पड़ने पर एक लम्बा चीवर मैं तैयार करा लूँगा, भिक्षा-पात्र हाथ में और सारी धरती पैरों पर ! तुम बताओ मैं क्या करूँ ! मेरा तो दिमाग खराब हो गया !

सविता पत्र पढ़ चुकी। तभी लीला ने आकर कहा—सविता जीजी, भाभी बुला रही हैं।'

'क्यों, अभी तो वे यहाँ से ही गई हैं ?'

'हाँ, कुछ काम है। शायद बैठक में कोई आया है, नाश्ता भिजवाना है। आप जरा तैयारी करा दें।'

'अच्छा।' लीला चली गयी तो सविता ने कागज फाड़कर ब्लाउज में रख लिया और चौके में आ गयी। रसोई में भाभी प्लेटें फैला कर नाश्ता रख रही थी। सविता को देखते ही बोली—सविता, जरा ये सेव काटकर इन में लगा दो। मार हल्ला मचा दिया। चार वार भेज चुके हैं नौकर को, नाश्ता भेजो, नाश्ता भेजो। जरा जल्दी से ये नाश्ते की तश्तरियाँ तैयार करा ले, बिटिया मेरी।'

सविता नाश्ता लगाने लगी। भाभी ने चाय केटली में भरी। और नौकर जब दो बार में उठाकर सारा नाश्ता ले गया तो एक थकी साँस लेकर 'धम्' से वे दीवार के सहारे बैठ गयी।

'आज तो सच, बहुत थक गई सविता ! फिर बात बदल कर कहा, 'और कहो, तुम्हारे यहाँ क्या हो रहा है। बहुत दिनों से मौसी को लाई नहीं तुम।'

'कौन आ गये हैं ये, सो इनकी इतनी खातिरदारी हो रही है।' सविता ने पहली बात पूछी।

'कुछ नहीं है सविता, हमारा तो सारा घर परेशान है, बाबूजी, तुम्हारे भाई साहब, अम्माजी सभी एक सिरे से पागल हैं। पता नहीं, लालाजी क्या चाहते हैं ?

सविता मन ही मन चौंकी, फिर भी भोलेपन से पूछा—'क्यों ?'

'अरे क्यों, क्या—जब से इंगलैंड से होकर आये हैं, सारी बिरादरी तो खार खाये बैठी है। सब कुछ हमारा, उठना बैठना, हुक्का-पानी बन्द कर दिया है और लालाजी हैं कि अपनी जिद पर अड़े हैं। कुछ समझ में नहीं आता। अब तुम्हीं सोचो, दो-दो छोटी बहनें हैं, उन्हें कहाँ दोगे ? यों ही चलते फिरते के हाथ तो पकड़ा नहीं दोगे। उनकी इच्छा जरूर हो जायेगी, लेकिन देख लेना सारा घर बरबाद हो जायेगा। अम्मा तो शर्तिया जहर खा लेंगी।' उनकी आँखों में आँसू आ गये।

दोनों थोड़ी देर चुप रहीं। फिर जैसे बड़े झिझकते हुए बोलीं, 'एक काम करोगी सविता ?' सविता ने प्रश्न-चिन्ह भरी आँखों से उधर देखा।

'तुम न समझा देखो जरा। सच, रानी हमारा घर बन जायेगा।' अनुनय से वे बोलीं।

'मेरी कही-मानते भी हैं वे ? दो घूँसे मारेंगे, तीन मील दूर जाकर गिरूँगी।' असमंजस में वह बोली।

'तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, तुम समझा दो। देखो और किसी के बस की नहीं है। अब भी तुम देख लो जाकर बैठक में, आदमी आया है, ऐसा-ऐसा पीछे पड़ रहा है। लेकिन कहे जा रहे हैं कि मैं तो संयासी हो जाऊँगा।'

भाभी के अनुरोध से कातर होकर, या न जाने क्यों सविता रुँआसी हो आई और घुटे स्वर में बोली, 'देखो, मैं कहूँगी तो, लेकिन देख लेना मानेंगे नहीं; मुझे तो बिल्कुल बच्ची समझते हैं।'

भाभी ने इस बार जरा ध्यान से उसके चेहरे को देखा और एक बहुत ही महीन मुस्कुराहट की रेखा उनके उदास बाएँ गाल और होठों के बीच में झलकी और तक्षण ही अदृश्य हो गयी—लड़की सबको बेवकूफ समझती है!

दोनों चुप हो गईं। भाभी बैठी उसके चेहरे के उतार-चढ़ाव का तटस्थ अध्ययन करती रहीं।

उसे दिया गया काम कितना कठिन है, इसे सविता ने उस समय तक नहीं जाना जब तक वह प्रमोद के सामने न आ गई। अगर वह उसे समझा नहीं पाती तो भाभी कहेंगी, यह समझा सकती थी, लेकिन जान-बूझ कर ही इसने चाहा नहीं। और अगर समझा लेती है तो? तो फिर अंधकार—महान अंधकार की अथाह गहराइयों में वह खो जायेगी...।

'आपसे कुछ जरूरी बात कहनी है।' भाभी के पास से आकर वह चुपचाप, गुमसुम उसकी मेज पर आ कर बैठी रही थी, सामने यों ही किताब-कापियाँ खोल ली थीं, लेकिन पता नहीं क्यों बार-बार आँखों में आँसू भर आते थे। फिर भी उसने दृढ़ निश्चय कर लिया था कि यहाँ नहीं रोना। रोना घर जाकर है कि मन का सारा गुबार निकल जाय। जी भर कर रोना है! जब प्रमोद आया तो वह चुपचाप कुर्सी से उठकर मेज से सटकर खड़ी हो गई, और काँपती उँगलियों वाले हाथों से किताब-कापियाँ टटोलने लगी, जैसे उन्हें समेटना चाह रही हो। प्रमोद एक कुहनी मेज पर टेककर उसपर सिर टेके कुछ गम्भीरता से सोच रहा था, शायद बाहर कुछ ऐसी ही बात हो गई थी...

'कहिये, अब आपकी अपनी जरूरी बात कह डालिये। जितनी भी जरूरी बातें हैं सब आज ही मेरे सिर पर थोप देना सब लोग; कोई बचने न पावे।' उसने तलखी से कहा।

वह अपनी बात कहने के लिए साहस इकट्ठा कर रही थी, लेकिन इस बात से उसने पलकें ऊँची करके प्रमोद को देखा तो उसकी ठोड़ी और होठ काँप रहे थे जैसे खाल के भीतर सैकड़ो सुइयाँ एक साथ उठ गिर रही हों। वह एक क्षण चुपचाप खड़ी रही, फिर जरा सकुचा कर बोली—'तो मैं चलती हूँ।' वह मुड़ पड़ी।

'अरे, उस जरूरी बात का क्या हुआ? चौंक कर उसने पूछा—

सविता की चाल एक क्षण को ठिठकी। बिना मुड़े ही उसने कहा—'नहीं, कुछ नहीं।'

'रुको, प्रमोद जोर से बोला और एक ही झटके में उसके पास आ गया। उसकी बाँह पकड़ कर रोकते हुए कहा—'बोलो... ?'

वह कुछ नहीं बोली, दूसरे हाथ से उसकी कसी उंगलियों को बाँह से हटाकर छुड़ाने का प्रयत्न करती रही। उसने गर्दन दूसरी ओर मोड़ ली।

'भैया...।' उसने कहा और अगले शब्द जैसे प्रयत्न करने पर भी उसके गले से निकले नहीं। वह एकदम अपना सिर प्रमोद के कन्धे पर रख कर फफक पड़ी।

चिन्तित चकित प्रमोद स्तब्ध रह गया। सिर्फ एक शंका उसके दिमाग में गूँजती रही—कोई आ जाय तो ? उसकी समझ में इस अप्रत्याशित विस्फोट का कारण नहीं आया। फिर भी उसने साँत्वना के लिए उसके सिर और बालों पर हाथ फेर कर थरथराते गले से कहा—'अब बोल न...।'

'तुम मान क्यों नहीं जाते...?

प्रमोद जैसे ऊपर से नीचे तक सन्न् रह गया। उसने उसके फैले बालों को पकड़ कर अपने कन्धे से चिपका सिर उठाया, बड़ी कठिनाई से उसने कहा—'तुम...तुम सविता...यू टू ब्रूटस्'।

सविता का सिर फिर वहीं आ चिपका।

दोनों थोड़ी देर चुपचाप खड़े रहे। फिर प्रमोद ने निरुद्विग्न स्वर में कहा, 'अच्छा सविता, अब तुम जाओ।'

सविता नहीं गई।

'कुछ और जरूरी बात ? हल्के व्यंग्य से प्रमोद ने एक क्षण रुककर पूछा, 'तुमसे भाभी ने कहा है न ? तुम चाहती हो, घर वालों की बोली पर मैं नीलाम की तरह बिकूँ ?'

करुण याचना भरे स्वर में सविता इतना ही कह सकी, 'तुम मुझे गलत समझ रहे हो।'

'अभी तक तो जरूर ऐसी बात थी, अब तो गलत समझने का कोई कारण नहीं रह गया।' अपने उद्वेग को अधिकार में रखने की उसमें जितनी भी ताकत थी, उससे वह अपने को इस समय संयत रखे था। स्वर को बहुत स्वाभाविक

बना कर कहा, 'मैं तुम्हें काफी मजबूत समझता था।...खैर... ।' व्यस्त

सविता अपराधी की तरह चौखट में लगे किवाड़ों को रोक रखने वाले गुटके को खोल-बन्द कर रही थी...

'लो देखो...।' उसका हाथ पकड़ कर प्रमोद उसे भीतर ले आया और अपने कपड़े टाँगने की आलमारी खोलकर उसने बड़ा सा चेस्टर उतार कर एक ओर गिरा दिया। उसके नीचे एक रुद्राक्ष की माला और खद्दर का लम्बा-चौड़ा चोंगा झूल रहा था...। पहले तो विस्मित-उत्सुक सविता उसे देखती रही, ना-समझ की तरह खुली आँखों से...फिर एकदम दीवार से बाँह टिका कर फूट-फूट कर रो पड़ी...

प्रमोद ने अधलेटे ही जैसे तन्द्रा से जागकर देखा और दुहराया, 'हुँह, जहर देगी...मैं भी तो देखूँ कैसा जहर देगी...कमजोर लड़की...।' फिर उसे सहसा याद आया कि कार्यकारिणी की मीटिंग में कुछ बातें तय हो चुकने के बाद शायद घण्टे-आध घण्टे बाद ही खुला अधिवेशन है। जो चीज कार्यकारिणी में तय होगी, उसको जरा प्रभावशाली ढंग से रखकर डेलीगेटों से वोट भी तो लेने हैं...अब जो भी हो, वहाँ तो जाना ही है...चाहे दस मिनट का समय निकाल कर ही सही। उसने अपने अलसाये मन में जरा-सा साहस इकट्ठा किया और समय देखने के लिए फिर फूलदान के पास रखे उस लिफाफे को उठा लिया। हल्का हरा लिफाफा—वह उसे अधमुँदी आँखों से देखता रहा। स्मृतियों के शहद में डूबी मुस्कान तितली की तरह उसके होठों पर खेलती रही...फिर भीतर का कागज और वही पुराने चिर-परिचित अक्षरों को बाहर निकालने के लिए छूते हुए उसे ऐसा लगा जैसे वह सजीव हैं। दो तह किया हुआ एक छोटा-सा लम्बा लिफाफे के ही रंग का कागज और उस पर सविता के होठों की रह-रहकर कल्पना में आने वाली फड़फड़ाहट की याद दिलाने वाले अक्षर...सुन्दर उन्हें न कहा जा सके, लेकिन कितने अधिक मुखर हैं—हर अक्षर जैसे अभी बोल पड़े। और इन अक्षरों ने उससे क्या-क्या नहीं कहा है...उसने कोने पर जहाँ कागज का पकड़ रखा था वहाँ देखा, रोमन अक्षरों में लिखा था (हर अक्षर 'एम्बास' किया हुआ था) लोकेश भारद्वाज, डी० एस-सी, प्रोफेसर आफ

"स' उसके बाद कालेज का नाम...वह धीरे-धीरे डूब गया...

दोराहा, भँवर और दिग्भ्रान्त

लोकेश भारद्वाज, डी० एस-सी०

प्रोफेसर आफ फिजिक्स,

नेम-प्लेट देखकर स्वयंसेवक साइकिल से उतर पड़ा और कोठी का फाटक खोलने को उसने हाथ बढ़ाया ही था कि भीतर से एक चाइना पपी किस्म का छोटा-सा बड़े-बड़े बालों वाला कुत्ता भूँकता लपका। दोपहर के समय खाना-वाना खाकर सविता छोटी-सी बाँस की कुर्सी पर धूप की ओर पीठ किये, और दोनों पाँव कुर्सी पर ऊपर समेट कर रखे झुकी हुई जरा अलसाई-अलसाई सी नेलकटर से नाखून काट चुकने के बाद उन्हें गोल घिस रही थी। पता नहीं किस पार्टी में जाने के समय लगाई गई पालिश अब छूटकर लाल धब्बे-सी रह गई थी। आज नई पालिश लगा ली जाय या इसे भी छुड़ा डाली जाय—सविता अभी घिसते-घिसते यही सोच रही थी। उसे मालूम था कि गालों से ढुलकते आँसू उसके नथुनों को छूकर सूखे-सूखे होठों पर खारा-खारा स्वाद पैदा करते हैं, फिर उसकी चूड़ियों, पाँव के अँगूठों और नाखून घिसते हाथ की उँगलियों पर टपक पड़ते है। पत्र भेज चुकने के बाद से वह इसके सिवा कुछ भी सोच ही नहीं पाती थी कि प्रमोद ने कैसी उत्सुकता से पत्र लिया होगा, किस ढंग से खोला होगा, और पढ़कर कैसे मुँह बिचकाया होगा। प्रमोद के विषय में वह इतना कुछ जानती है कि किस समय वह क्या करेगा, इस बात का एक-एक चित्र वह साधिकार सोच सकती है। पत्र पढ़कर विद्रूप से टेढ़े हुए होठों, व्यंग्य से हँसती निगाहों को तो सचमुच वह अपने सामने इतनी साफ और साकार देख सकती है कि यदि हाथ बढ़ाये तो छू ले। लेकिन उसी व्यंग्य पर वह झुँझलाकर कुढ़ जाती है—कभी किसी बात को गम्भीरता से लेना तो सीखा ही नहीं है, हमेशा वही बचपना, चाहे कोई कैसी ही महत्वपूर्ण बात क्यों न हो।...तभी कुत्ते के भूँकने से उसका ध्यान टूटा और चौंक कर पल्ले से आँखों और मुँह को पोंछा, और नेल कटर हाथ में लिये ही फाटक तक आई तो स्वयंसेवक ने नाम पूछकर बाहर से ही लिफाफा बढ़ा कर दे दिया। लिफाफा हाथ में लेते ही वह समझ गई कि वह

प्रमोद का है; उसके मन में आया, भगवान करे मना कर दिया हो, बहुत व्यस्त हूँ। इसलिये आने में असमर्थ हूँ। लेकिन पता नहीं कैसे लिफाफा हाथ में लेते ही वह समझ गई कि वह आ रहा है। इस बात की स्वीकृति ही इसमें है। मालूम नहीं यह क्या रहस्य है कि वह प्रमोद की हर बात को इतनी अच्छी और सच्ची तरह समझ गई है, किस बात से उसके भीतर क्या और किस तरह प्रतिक्रिया होगी, फिर वह क्या करेगा। अपने इस प्रकार के विचित्र रूप से विकसित प्रातिभ-ज्ञान पर उसे हमेशा ही आश्चर्य और अधिकार पूर्ण प्रसन्नता हुई है। लिफाफा लेते ही जब उसने ऊपर केवल सविता लिखा देखा तो जैसे उसकी आँखों के आगे वे लिखते हुए हाथ, कलम और कागज की पकड़, लिखने से पहले प्रमोद के मन में 'श्रीमती' लिखने में या बाद में 'भारद्वाज' लगाने में जो द्वन्द्व हुआ हो या—सब जैसे बिल्कुल स्पष्ट रूप से मूर्त हो उठे, और गर्व के उन क्षणों में उसे लगा जैसे प्रमोद के आँसुओं में घुटे अन्तिम शब्द नये अधिकार और नई शक्ति के साथ जागकर उसके कानों में गूँज उठे हैं—अच्छी बात है, जो तुम्हारा मन हो सो करो, जहाँ चाहो रहो, लेकिन याद रखना तुम्हारी आत्मा चिर कुमारी है और उसका किसी के साथ विवाह नहीं हो सकता। उस पर तो मेरा और केवल मेरा अधिकार है।' इन शब्दों की गूँज से उसके प्राण रोमांचित और गद्गद हो उठे। उसका मन हुआ कि वह धीरे से बुदबुदा उठे, हाँ प्रमोद, उस पर सिर्फ तुम्हारा ही तो अधिकार है। इतना महान और इतना पवित्र एक है जो उसके एक भ्रू-भंग पर सचमुच पहाड़ खोद कर नहर बना सकता है। इस अनुभूति के आह्लाद से उनकी आँखों में आँसू उफन आये। विक्टर ह्यूगो की लाइनें एक-एक अक्षर करके अँधेरे के पार जलती रेखाओं में जैसे चमक उठीं। जीवन में चरम सुख के क्षण वह हैं जब आप सच्चे मन से यह अनुभव करें कि कोई आपको अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व से प्यार करता है। उसके मादक नयनों के सपने केवल आपके लिए हैं, आपकी अपनी कमजोरियों और कमियों के बावजूद वे आपके हैं।—तुम नहीं हारे प्रमोद, लेकिन सविता तो सचमुच बिल्कुल टूट गई और वह करे भी तो क्या? होठों के बीच में नेलकटर दबाये, हथेलियों के बीच में लिफाफा लिये वह ऐसे खड़ी रही जैसे

किसी अदृश्यशक्ति को नमस्कार कर रही हो—खोले या न खोले...लिफाफा तो उसी के नाम है...कुछ क्षण असमंजस में खड़े रहने के बाद वह धीरे-धीरे हथेलियों में दबाए ही भीतर चली आई और टेबुल-लैम्प जलाकर मोटी-सी किताब खोलकर पढ़ते लोकेश की किताब पर चुपचाप लिफाफा रख दिया... उसे दिन में भी चारों तरफ से किवाड़ बन्द करके टेबुल-लैम्प जला कर पढ़ने की आदत थी, बिना इसके उसका मन एकाग्र ही नहीं हो पाता था।

चौंक कर लोकेश ने अपना लिफाफा समझ कर उसे उलटा—पलटा, लेकिन सविता का नाम देख कर थोड़े चकित ढंग से पढ़ने का चश्मा लगी आँखों से उसकी ओर देखा। उनमें साफ प्रश्न था, 'मैं इसका क्या करूँ ?'

'प्रमोद जी का उत्तर है !' उसने यों ही निर्लिप्त स्वर में सूचना दी।

'तुम्हारे नाम है न, तुम देखो...' लोकेश ने एक बार फिर लिफाफे की लिखावट देखी, और चश्मा उतार कर हाथों में लेते हुए कहा, 'सविता, तुम मुझे बहुत गलत समझ रही हो, मेरी उस आदमी से व्यक्तिगत रूप से कोई शिकायत नहीं है।'

उसकी बात न सुनकर बीच में काट कर वह बोली, 'नहीं आप ही देख लीजिये।' मन में तो उसके आया कि कह दे कि मैं क्या देखूँ, मैं तो अक्षर-अक्षर जानती हूँ उसमें क्या लिखा है।

और वह बिना अधिक रुके, बिना अधिक प्रतीक्षा किये एकदम पलट कर लौट पड़ी। उस समय उसकी चाल की हर गति में एक शहीदाना गर्वपूर्ण आत्म-विश्वास था। पीछे मुड़कर उसने नहा देखा, लेकिन वह जानती थी उसकी इस दृढ़ता को, अंग-अंग से अभिव्यक्त होने वाली इस दृत बलिदान भावना को लोकेश आँख उठाकर देख रहा है, प्रभावित हो रहा है और लिफाफा वह उसी समय खोल सकेगा जब वह कमरे के बाहर आ जायेगी...वह फिर उसी बेंत की कुर्सी पर आ बैठी, उसी तरह उसने लाल रंग के बाथरूम-स्लीपरों को नीचे ही छोड़ कर पैर ऊपर समेट लिये और फिर नाखूनों में उलझ गई—उन्हें घिस कर गोल करने लगी। पर पता नहीं उसके पेट में क्या बगूला-सा उठा कि वह कुर्सी की पीठ पर बाँह रखकर उस पर सिर टिकाये जोर से बिलख-बिलख कर रो पड़ी।

...वह पत्र क्यों दे आई लोकेश को ? वह तो सिर्फ उसका ही था...प्रमोद ने अपने निश्छल हृदय से उसे प्यार किया था और उसका बदला यह हो कि वह उसे यों बुला कर जहर दे...ऐसी क्या विवशता थी कि वह यों कह बैठी, हाँ वह उसे जहर दे सकती है...कितनी हल्की तरह बातचीत चल रही थी...जरा भी तो जरूरत नहीं थी कि उस बात का यों अनिवार्य अन्त होता...

सुबह लोकेश के पलंग की पाटी पर बैठकर मेज पर रखी चाय की ट्रे में से प्याला बना कर चीनी हिलाते हुए उसने बिना उधर देखे ही कहा, 'लीजिये, यह चाय ठण्डी हो रही है...।' उसकी निगाहें अपनी गोद में फैले अखबार पर थीं और हाथों से वह चाय का प्याला बढ़ा रही थी...

रजाई छाती से नीचे खिसकाते हुए लोकेश पलंग के सिरहाने से टिका हुआ अधलेटा उठ आया और उसने जैसे ही प्याला सविता के हाथों से लिया, वैसे ही वह चौंक उठी—'अरे, यह तो प्रमोद भैया हैं...!'

मुँह की ओर बढ़ता प्याला रुक गया। थोड़ा और उठकर वह अखबार की ओर झुक आया। एक बार गौर से फोटो देखी, नीचे का परिचय पढ़ा फिर और बड़े इत्मीनान और संतोष से उसी तरह सहारा लेकर बैठ गया।

जब वह प्रमोद के विषय में तस्वीर के नीचे लिखी गई लाइनों को निगल रही थी, तब लोकेश ने बड़ी तन्मयता से चाय पीते हुए पूछा, जैसे कोई अत्यन्त ही महत्वहीन बात कह रहा है—'इन्हें तो तुम बहुत दिनों से जानती हो...।

'जानती क्या, हमारे पड़ोसी ही थे, और...'सविता का एक-एक रोम आह्लाद की पुलक से उमँग आया था।

'पड़ोसी ही नहीं, बहुत कुछ थे...। स्वर में बड़ी हल्की-सी दृढ़ता अवश्य थी, लेकिन जैसे चाय और प्याले से खेलने के लिए ही लोकेश ने अपनी आदत के विरुद्ध प्लेट में चाय उँडेल ली और थोड़ा-थोड़ा 'सिप' करने लगा।

'बहुत कुछ क्या ?' सविता अभी तक उमंग में डूबी थी। उसने अबोध सरलता से ही दुहरा दिया—'वे मेरे बड़े भाई हैं, गुरु हैं...।'

'बस—?' चाय से गीले होठों में हल्का व्यंग्य उभर आया था, लेकिन

इतना आक्रमण-रहित जैसे एक सरल परिहास हो।

'बस!' सविता तन कर बैठ गई और उसने दोनों हाथ जोर से तस्वीर पर ढँक दिये, उसने सीधी आँखों से लोकेश की आँखों में झाँका। हाथों के बोझ से अखबार खड़खड़ा उठा।

चेहरे के अविश्वास को छिपाने की लोकेश ने कोशिश नहीं की...।

उस समय दोनों चुप रहे, लेकिन शेव करते समय, नहाते समय, हर क्षण लोकेश को ऐसा लगा जैसे सविता उसके आस-पास मँडरा रही है, उससे कुछ कहना चाहती है, जैसे अवसर खोज रही हो, या स्वयं बात शुरू करने का बहाना चाहती हो...आखिर नाश्ते के समय उसने स्वयं अवसर दिया। अत्यंत ही निष्कपट भाव से वह बोला, 'प्रमोद को आज खाने पर बुला न लो।'

'मैं तो बुलाने नहीं जाऊँगी, अधिकार समझते तो खुद नहीं आते?' उस समय वह लोकेश की पैण्ट में बकसुआ लगा रही थी। डोरे को दाँत से काटते हुए बोली, 'आप हम लोगों के विषय में क्या सोचते हैं?' प्रयत्न करके भी उसकी आँखें उठी नहीं, वह दृष्टि गड़ा कर सुई में डोरा पिरोती रही।

'कोई खास नहीं, जैसा कि हमउम्र लड़के-लड़कियों में होता है, वैसा ही शायद तुम लोगों में था। कम से कम मैंने ऐसा ही सुना...।' लोकेश ने बिल्कुल ही निरुद्विग्न भाव से बात को शुद्ध वार्तालाप के स्तर पर रखते हुए कहा—जैसे वह किसी अनुपस्थित व्यक्ति के बारे में बातें कर रहा हो।

लोकेश प्रतिक्रिया देखता रहा और सविता मन में साहस इकट्ठा करती रही। हाथ उसके सी रहे थे, लेकिन दिमाग बड़ी तेजी से चल रहा था। झुकी आँखों और बड़े झिझकते कण्ठ से उसने पूछा, 'क्या तुम्हे ऐसा लगा कि कहीं हमारे तुम्हारे बीच में वे हैं?'

'इसी बात का तो मुझे ताज्जुब होता है कि क्या हमारे-तुम्हारे बीच में वह नहीं ही है, या जो कुछ मैंने सुना था वह ही गलत था? या फिर—?' वह झिझका।

'या फिर—?' एक अनिमेष जिज्ञासा।

'या फिर साफ है कि तुम दोनों जगह ईमानदार नहीं रही हो।'

थोड़ी देर चुप्पी रही और सविता आहत की तरह देखती रही। फिर बोली, 'सच बतायें ? जो तुमने सुना था वह भी गलत नहीं था और हमारे-तुम्हारे बीच में वह नहीं है, यह भी सही है...।'

'यानी ?'

'यानी कुछ नहीं। जब लड़की घर से आती है तो अपने सारे सम्पर्कों और सम्बन्धों को वहीं छोड़ आती है, उसमें बहुत से अच्छे होते हैं, बहुत से बुरे होते हैं, लेकिन उन्हें कुछ को वह भूल जाती है, कुछ को वह भुला देती है। इस तरह ससुराल वह बिल्कुल ही नयी हो कर आती है। और ऐसा कौन लड़की कह सकती है कि उसके किसी भी तरह के कोई सम्बन्ध पहले थे ही नहीं ?'

'तो आप कहना यह चाहती हैं कि उसके प्रति आपके हृदय में कोई इमोशनल फीलिंग नहीं है अब...?

'हाँ, अपनी तरफ से तो मैं शायद ऐसा कह ही सकती हूँ।' पैण्ट को पलंग पर रखते हुए वह बोली। कोशिश के बाद भी बात करते समय वह अपने हाथ के काम में या व्यस्तता में अन्तर नहीं आने दे रही थी।

लोकेश समझदारी से मुस्कुराया। लड़की चालाकी से बातें कर रही है। बच-बच कर अपनी तरफ से तथा 'शायद' जैसे शब्द लगाकर बोलती है। उसने पूछा, अगर वह मर जाय आज, तो तुम्हे कोई दुख नहीं होगा...?'

'मेरा तो ख्याल यही है।' यह सोचकर सविता भी मुस्कुराई कि इस समय उन लोगों के बीच नाजुक विषय पर कैसे सचेत अनजानेपन से बातें हो रही हैं। अभी ही जरा-सी बात गजब कर सकती है।

'मान लो तुम्हे उसे जहर देना पड़े तो ?' लोकेश अपने भोले प्रश्नों से एक-एक कदम धकेलता हुआ सविता को किधर ले जा रहा है, इसे वह नहीं जान सकी। उसकी कोई भी प्रतिक्रिया उसकी आँखों से नहीं छिपी थी।

'अव्वल तो ऐसा मौका आयेगा नहीं,—लेकिन अगर आया भी तो मेरा विश्वास है कि मैं झिझकूँगी नहीं...लेकिन ऐसा मौका आयेगा ही क्यों ?'

'तो सविता—' इस बार बहुत ही दृढ़ और निर्णयात्मक ढंग से लोकेश बोला, 'मेरी इच्छा है कि इस बार तुम उसे जहर दो। मेरे सामने। मैं देखना

चाहता हूँ कि उसे जहर देते हुए तुम्हारे हाथ काँपते हैं या नहीं। तुम झूठ कह रही हो या सच। यह सिर्फ सुरक्षित आत्म-स्वीकृति का बहाना मात्र ही तो नहीं है।

सविता चौंकी, फिर सँभल गई।

'जब चाहे...' सविता मुस्कुराई। इन मजाकों से वह डरने वाली नहीं है।

'जब का सवाल नहीं है। यह बहुत अच्छा मौका है। तुम आज ही उसे बुलाओगी। मैं बहुत ही गम्भीरता-पूर्वक यह बात इसलिये कह रहा हूँ कि हमारा दाम्पत्य-सुख इसी घटना पर आधारित होने जा रहा है।'

उठकर कमरे की ओर जाते हुए लोकेश ने कहा, तुम अभी उसे मेरे सामने पत्र लिखो और उसमें साफ लिख दो कि तुम्हारा इरादा उसे जहर देने का है... वह आयेगा?

'वह रुक नहीं सकते।'

सुनकर एक क्षण को लोकेश ने मुड़कर देखा और फिर कुछ दूर चुप ही चलकर बोला—अच्छा, तो तुम खत लिखो, मैं जरा वकील की तरफ भी जाऊँगा। खत भी साथ ले जाना होगा...उधर से ही भिजवाना होगा न।'

और तब सविता ने जाना कि वह बातों-बातों में क्या कह चुकी है, क्या कह बैठी है और उसकी स्थिति कैसी भयंकर हो उठी है! फिर भी अब, जब खत पहुँच चुका है और प्रमोद की स्वीकृति आ चुकी है, तब भी शुरू की तरह उसे, विश्वास है, यह सब एक मजाक है और इसमें जरा भी सत्य और गम्भीरता नहीं है। ऐन मौके पर जरूर कोई न कोई ऐसी घटना हो जायेगी कि सारी स्थिति एकदम सँभल जाएगी। सब कुछ एकदम पलट जायेगा। या हो सकता है आने से ही पहले अचानक कोई ऐसा काम आ पड़े कि जाना पड़े या ऐन मोके पर अचानक कोई तार आ जाय...मतलब कुछ न कुछ होगा जरूर कि सारी चीज सँभल जायेगी...

और अब रोते-रोते भी सविता को आश्चर्य था कि वह इतने आत्म-विश्वास से कैसे दुहरा सकी कि वह रुक नहीं सकते। इतनी हिम्मत कहाँ से आई उसमें? और जब वह जानती है कि वह रुक नहीं सकता, तो फिर यह सब असम्भव कल्प-

नाएँ क्यों कर रही हैं ? हिम्मत पर ही उसे ध्यान आया प्रमोद का एक वाक्य ! कितनी व्यथा, शिव की तरह का कैसा जहर का घूँट पीकर उसने केवल इतना कहा था—'कमजोर लड़की ?' हाँ, वह कमजोर ही तो थी जो अपनी कमजोरी को दूसरों के वाक्यों की आड़ में छिपाना चाहती थी। दुनिया भर के शब्दों का बहाना लेकर...उफ् ! कितना हृदय द्रावक दृश्य था वह ! उसे वह शायद इस जन्म में तो भूल नहीं सकती—जैसे हर क्षण वह वाक्य, उसका एक-एक शब्द उसकी आत्मा के 'फ्लास्क' में तैरती मछलियों की तरह, जो अपने विहार से पानी को जरा भी नहीं कँपाती, लेकिन हमेशा तैरती दीखती हैं, अनुभव होती है कि वे हैं।

वह स्टूल पर बैठा रहा और सविता उसके मुड़े घुटनों पर कनपटी टिकाये उससे सहारा लेकर धरती पर थी। प्रमोद के हाथ उसके खुले बालों पर रखे थे—जैसे निर्जीव, निस्पंद। साँझ का अँधेरा गहरा हो आया था, लेकिन दोनों चुप थे। जैसे कुछ भी कहने को नहीं है, सब कुछ समाप्त हो चुका है, बस केवल एक मौन ही बचा है जिससे उन्हें समझौता करना है...जैसे किसी यूनानी शिल्पी ने यह मूर्तियाँ गढ़ दी हैं जो किसी सुनसान उजाड़ बस्ती के किनारे इसी तरह जाने कब से खड़ी हैं और न जाने कब तक यों ही खड़ी रहेंगी...वे शाप के प्रभाव से पत्थर बनी मूर्तियाँ...वे गवाह हैं कि यह बस्ती उन्हीं के सामने बनी, जागी और उजड़ गई...एक बहुत बड़ी चील, सारे क्षितिज को ढँक डालने वाले अपने बहुत बड़े-बड़े डैने फड़फड़ाती आई और मूर्ति के सिर पर बैठ गई...उसने अपने फैले पंखों को दो-चार बार फड़फड़ाकर शरीर साधा और ताश की फैली गड्डी की तरह समेट लिया, फिर इधर-उधर देखा और जोर से अपनी कुल्हाड़े जैसी चोंच एक मूर्ति की आँख में मार दी...'ठक्'...क्षितिज में शब्द गूँजा दूर; उफ ! प्रमोद के घुटनों पर सिर रखे सविता सिसक रही थी...

'अच्छा, उठो और बत्ती जला दो...।' प्रमोद ने आँसुओं के गीलेपन में सचेत होकर कहा।

सविता ने बिना कुछ कहे उठकर बत्ती जला दी। फिर वह उसी असमंजस में खड़ी रही, रुके या चली जाय।

'सविता...।' उसने सुना।

बिना बोले वह छाया की तरह पास आ खड़ी हुई। प्रमोद ने बैठे हुए ही उसके कन्धे पर हाथ रख दिया और देर तक उसकी ओर देखता रहा—कहे या न कहे। सविता को ऐसा लगा जैसे वे अगस्ती निगाहें उसके अणु-अणु में समाई जा रही हैं, वे अभी उसकी सारी चेतना और शक्ति को सोख लेंगी और वह सूखी बालू की मूर्ति की तरह धरती पर बिखर जायेगी। नहीं, नहीं उससे अब वे निगाहें नहीं देखी जा सकेंगी। वह दूसरी ओर देखती रही।

'हम लोग...' थूक सटक कर प्रमोद जल्दी से बोल गया—'हम लोग कहीं और नहीं जा सकते?'

'कहाँ?' और इस कहाँ का सीधा अर्थ था कि कैसी बातें करते हो—कितनी असम्भव!

फिर चुप्पी

'सविता...।'

'हूँ...'

'मेरी ओर देखो।

'कहिये'—सविता ने नहीं देखा—उसके कान का इयरिंग बिल्कुल नहीं हिल रहा था।

'देखो...।' स्वर में करुण याचना थी।

'क्या?' मुँह घूमा, लेकिन आँखें नहीं उठीं। अपनी कमजोरी पर एक हल्की छाया जैसी मुस्कुराहट का आभास उभरा...

'देख रही हो...।' जैसे धार की काट से धँसक उठने से एक क्षण पहले कगारा बोले।

सविता ने देखा, पुतलियों पर पानी की एक हल्की परत। 'बच्चन' के एक गीत की लाइन उसके मनमें उभरी—

खींच ऊपर को भ्रुओं को
रोक मत इन आंसुओं को
भार कितना सह सकेगी यह नयन की नाव।

'कुछ दीखता है...?'

एक साथ दोनों के मनमें एक मधुर क्षण पर दुहराई 'पंत' की लाइन टकराई—'तुम्हारे नयनों का आकाश, खो गया मेरा खग अनजान...' सविता का निचला होठ फड़का। वह दूर जैसे आँखों के पार कहीं देखती रही—ऊपर की छत में जलती बत्ती की दो परछाइयाँ पनीली पुतलियों पर चमक रही थीं—जैसे वे दो झरोखे हैं जहाँ से झाँक कर वह अतीत के विशाल विस्तार को देख सकती है...

'कुछ नहीं दीखता?' प्रमोद उसकी दोनों कनपटियों पर हाथ रखे उसकी खुलीं आँखों में गौर से देखता रहा—सचमुच तुम्हें कुछ भी नहीं दीखता, सविता...?

'न...हीं...' गोली खाकर साँस तोड़ते पक्षी की तरह शब्द फड़फड़ाये। वह उन्हें देखने में ऐसी डरती थी जैसे दो अथाह अँधेरे गड्ढों में देखने में डरती हो...

'नहीं दीखता...? ध्यान से देखो न...'

सविता को लगा जैसे उसका मनोबल कहीं हवा में घुलकर खोता जा रहा है, जैसे वह हिप्नोटाइज हो रही है—वह धीरे-धीरे डूबती जा रही है या एक विस्मृति का अँधियारा धीरे-धीरे चेतना पर उतर रहा है—सब कुछ शान्त सुन-सान...केवल झींगुरों की अविराम झंकार—जैसा, जंगल में बहते झरने सी झंकृति...

'दीखता है न? देखो...एक विशाल रेगिस्तान है। चारों तरफ कैसा फैला हुआ है...? उसके एक किनारे, दूर, एक बाढ़ पर आई-सी नदी फैली जा रही है...देख रही हो न? उसके किनारे खड़े बबूल को वह नंगी बाँहें उठाये, नसों की जाली के नक्शे-सा वह पेड़...कैसा है अकेला-अकेला, जैसे किसी ने उसे निर्वासन दे दिया हो, देश निकाला...और देखो उसकी एक डाली पर कितने गिद्ध बैठे हैं...? दूर से तो बिल्कुल काले-काले धब्बे से दीखते हैं... और नीचे एक चिता जलती नहीं देखतीं तुम? पास में वह कुत्ता बैठा कैसी लम्बी जीभ निकाले हाँफ रहा है। देखो, गौर से देखो...जानती हो, वह चिता

किसकी है...?'

अचानक उसके गले में बाँहें डालकर उसके कन्धे पर लटक कर सविता फूट-फूट कर रो पड़ी...सिसकती साँसों में उसने सुना...कमजोर लड़की...

नहीं—वह कन्धा नहीं था, वह किसी का गला नहीं था, जिसमें बाँहें डाल कर वह रोई थी—बेंत की कुर्सी के टिकाव पर दोनों बाँहें रखे पर सिसक रही थी...उसे पता भी नहीं था कि धूप वहाँ से जा चुकी है...

कहानी का प्रारम्भ

पाठको, मैं जानता हूँ कि मेरी कहानी दो लड़के और एक लड़की वाले पुराने त्रिकोण पर आ गई है, फिर भी मैं चाहता हूँ कि यह त्रिकोण कहानी की समाप्ति न हुआ करे।

'आपको दुनिया भर में घूमने की फुर्सत है, नेतागिरी करने को वक्त है, बस हमारे यहाँ आने को ही टाइम नहीं है।' सविता ने ताना मारा—उसका दिल धक्-धक् बजा...गला सूखने सा लगा।

'बाहों में भरे सोकेश को छोड़ते हुए प्रमोद ने पुलक कर पूछा—कैसी रही सविता? अरे तू तो बड़ी मोटी हो गई है, क्या पानी-वानी यहाँ का बहुत अच्छा है...शहर तो बड़ा गन्दा है, बस यही हिस्सा जरा खुला समझ लो...।

'कहाँ? अभी तो बीमार हो कर उठी हूँ, फिर नजर लगा दो...' सविता लजा उठी, उफ! झूठा कहीं का, ऊपर से कैसा खुश है, हँस रहा है। भीतर से चाहे जो हो रहा हो...।

'तब तो भाई भारद्वाज, तुमसे हमें बड़ी सहानुभूति है...बीमारी के बाद जब यह हाल है तो अच्छेपन का भगवान ही मालिक है...।'

तीनों खुलकर हँस पड़े...अचानक जैसे याद आ गया हो, प्रमोद ने सँभल कर कहा, 'अच्छा भाई, सविता, क्या खिलाना-पिलाना है? खिला दो फिर चलें। मीटिंग बीच से छोड़कर आया हूँ; अभी खोज होगी। पता चल गया तो...खुला अधिवेशन है न, सो उसमें पहुँचना है...।'

'हाँ, हाँ पता है, बहुत बड़े नेता हो गये हो। क्यों हल्ला मचाते हो?' एक क्षण को सविता जैसे वह विकट परिस्थिति बिल्कुल भूल गई...वह जैसे

बताना चाहती थी कि देखो लोकेश, प्रमोद बहुत बड़ा नेता है और मैं उसके साथ ऐसे अधिकार से बोल सकती हूँ।

'नहीं नहीं, फिर आऊँगा, इस समय तो जरा जल्दी है...अब तो घर देख लिया है न'—वह खुलकर हँस पड़ा।

सविता के भीतर जैसे कुछ जोर से कसक उठा—यह अब भी उसी तरह गला फाड़ कर हँस सकते हैं, दिल में जरा भी द्विधा नहीं उठती...?

खाने की मेज पर केवल तीन ही थे...

'अगर मैं जरा जल्दी-जल्दी खाऊँ तो बद्‌तमीजी के लिए माफ कीजिये...।' प्रमोद ने लोकेश से कहा।

लोकेश कुछ नहीं बोला, वह गम्भीर था...

जल्दी-जल्दी खाने की व्यस्तता में मुँह चलाते हुए प्रमोद ने पूछा—यह टीक-टाक रहती है या बहुत तंग करती है...?'

ओफ,कम्बख्त कैसा मस्त होकर खाये जा रहा है...जरा भी चिन्ता नहीं है विश्वास नहीं करता... विता भी उसके साथ यह सब कर सकती है...कैसे तोड़े ऐसे निश्छल आदमी के विश्वास को वह...नहीं, वह खुद खा लेगी...सविता की एक-एक धड़कन जैसे घड़ी की टिक-टिक हो और उसे मालूम हो कि पच्चीसवीं धड़कन पर गिलोटिन का गड़ाँसा गिरेगा और नीचे रखा सिर 'खच्' से कट कर दूर जा गिरेगा...एक...दो...तीन...उफ, कैसे रोके वह इन सुइयों को... सुनते हैं. मानसिक शक्ति (विलपावर) से बहुत से काम रोके जा सकते हैं। क्या उसकी इच्छा-शक्ति फुफकारते नाग-सी एक-एक पल सरकती इस दुर्घटना को नहीं रोक पायेगी?

'जैसी आपने बना दी है वैसी ही है...' मुँह में कौर ले जाने वाले हाथ को रोक कर लोकेश बोला।

'कैसी?' चौंक कर प्रमोद ने गौर से लोकेश को देखा और फिर जोर से हँस पड़ा—'क्या घर में ही क्रान्ति करने लगी है? क्यों री, क्या सुन रहा हूँ?'

इस वक्त भी मजाक नहीं छोड़ रहे।...उसे साफ दीखता है डैमोक्लीज की बाल में बँधी तटकती तलवार धीरे-धीरे नीचे सरक रही है...उससे बोला नहीं गया...उसकी आँखों के आगे 'पो' की कहानी का वह तेज धार वाला पैण्डुलम घूमने लगा जो कुएँ में बन्द आदमी की आँखों के आगे घूम रहा था। वह केवल

इधर-उधर चुग-सा रही है, उससे खाया नहीं जा रहा है, मेज पर बैठी वह सिर्फ प्रमोद की चलती उँगलियों को देख रही है—लोकेश सब मार्क कर रहा था।...

और जब खाना खत्म करके प्रमोद ने जल्दी से गोद में रखी तौलिया नेपकिन से हाथ पोंछे तो लोकेश बोल उठा—'अरे, ये पुडिंग तो लीजिये न...। फिर उसने स्टेनलैस स्टील की खुबसूरत तश्तरी में जमाये गये चाँदी के वर्कों से मढ़े पुडिंग की ओर इशारा करके कहा, 'सविता, भाई साहब को पुडिंग दो न...।'

नहीं...नहीं...अभी कोई अप्रत्याशित घटना होगी, अचानक जोर से बिजली कड़कड़ाकर छत फाड़कर यहाँ आ गिरेगी कि पुडिंग की तश्तरी के टुकड़े टुकड़े बिखर जायेंगे...

'हाँ भई, दो फिर, देर हो रही है...।' प्रमोद ने चम्मच उठा लिया...

अँगूठी का नग झिलमिलाया, कलाई की चूड़ियाँ हिलीं, तश्तरी के किनारे पर ऊपर टिका गूठा और न चे से उठाती उँगलियाँ काँपी। उसे लगा वह अभी जोर से तश्तरी बाहर फेंक देगी...और पागलों की तरह चीखें मारती बाहर भाग जायेगी...क्या यह तश्तरी वह लोकेश की तरफ...नहीं...नहीं...अब उसकी चीख किसी भी तरह नहीं रुक सकती...उसने फेफड़ों में साँस खींची...

अनजाने ही तश्तरी प्रमोद की ओर बढ़ आई और काँपते हाथ की तश्तरी में से लेने में दिक्कत न हो, इसलिये एक हाथ नीचे लगाकर उसने चम्मच भर ली...और तेजी से चम्मच होठों की तरफ बढ़ाई...

दुखान्त कहानी के पाठकों के लिए मेरी यह कहानी खत्म हो गई है और वे बिना आगे पढ़े बड़े मजे में सन्तोष कर सकते हैं।

सुखान्त कहानियाँ पसन्द करने वाले नीचे की पँक्तियाँ और जोड़ लें...

अचानक प्रमोद की कलाई को लोकेश ने पकड़ लिया, भरे गले से बोला—'बस!'

चौंककर प्रमोद ने उसकी ओर देखा कि दोनों एकदम घबरा कर उठ खड़े हुए क्योंकि सविता कुर्सी के नीचे लुढ़क गई थी...उस ओर झपटते हुए लोकेश के मुँह से निकला—'कमजोर लड़की!'

—:०:—

श्री मार्कण्डेय

जन्मकाल	रचनाकाल
१६३१ ई०	१६४८ ई०

गुलरा के बाबा

'कवन है रे ! वह सरपत काट रहा ?' बाबा ने अमिल-हवा के नीचे खड़े हो कर, अपनी लाठी कन्धे से उतारते हुए कहा। आवाज सारी गुलरा में गूँज गयी—बड़ी गम्भीर और बुलन्द आवाज थी वह। अनजान आदमी तो एकाएक डर जाये और चिरई-चुरगुन भी पेड़ों पर से उड़ पड़ें। गुलरा की बगिया का एक-एक जीव, एक-एक पत्ता बाबा के इस गर्जन से परिचित है। क्यों न हो, बाबा रात-दिन तो इन्हीं पेड़ों की सेवा-सत्कार में लगे रहते हैं !

पर बाबा की पुकार का कोई असर न हुआ। उन्होंने एक बार सिर नीचे किया और अपने उघरे शरीर को देखा: चमड़े झूल रहे थे और उन पर बेशुमार झुर्रियाँ पड़ गयी थीं। पूरे पँचहत्थे ज्वान, भींट-जैसी छाती, हाथी की सूँड़-जैसे हाथ, बड़ी-बड़ी तेज आँखें—लोग बाबा को हनुमान कहते थे, हनुमान ! मेले-ठेले में अपने पिता ठाकुर गंजन सिंह की राह साफ करने का काम बाबा ही करते। बड़ी से बड़ी भीड़ को पानी की काई की तरह इधर-उधर कर देना उनके लिए कोई विशेष बात न थी। बखरी में खाने के लिए घुसते समय बिटियों—पतोहुओं को जता देना तो जरूरी होता है न !—बाबा दालान ही में से खाँसते और सारी बखरियों के कुत्ते मारे डर के भाग कर बाहर हो जाते।

बाबा के दिल को धक्का लगा। 'मैं गुलरा का बाबा कहा जाता हूँ। इतनी बड़ी आम की बगिया और जंगल मेरे ही उपर तो छोड़ रखा है परिवार वालों ने; और यहाँ दस कोस में कौन नहीं जानता इसे......' उनका आहत अभिमान नयी भाषा में बोला—बुढ़ापे के एहसास के कारण ! और क्रोध की हल्की गर्मी उनके शरीर में दौड़ गयी। उन्होंने बगल में देखा—लेहसुनवाँ में नये गोफे आ

गये थे—शायद इस साल इसमें बौर भी आ जायँ और धीरे-धीरे उस हिलती सरपती की ओर बढ़े।

चैतू अहीर था—पूरा चेलिक; करीब चौबीस-पच्चीस का काला मजीठ—शरीर जैसे कोल्हू की जाठ। इसी ने तो बनारस के मशहूर पहलवान झग्गा को पटक दिया—केवल दो मिनट में।

चैतू बाबा को देख कर रुक गया।

'सलाम ठाकुर!'

'खुश रहो चैतू! लेकिन तुम यह क्या कर रहे हो?'

'सरपत काट रहे हैं ठाकुर!'

'अच्छा, कल से मत काटना!' और चैतू लटक कर हँसिया चलाने लगा।

'यह बात नहीं चैतू! बाबा सागर की-सी गहराई से कहते गये, 'मैं तुम्हारी बात समझ रहा हूँ। अपने दो-एक संगी-साथियों और बूढ़-पुरनियों को भी बुलाये आना—यहीं; यदि तुम मेरा गट्टा टेढ़ा कर दोगे, तो मैं कभी जबान नहीं खोलूँगा और यदि नहीं, तो तुम कल से यहाँ दिखाई न पड़ना।'

चैतू कटी-कटायी सरपत छोड़ कर चला गया।

दूसरे दिन बाबा, सभी भाई, कुछ गाँव के तमाशबीन और चैतू के संगी-साथी, खासी भीड़ हो गयी थी। बाबा ने बाँह फैला दी—बित्ता भर नीचे तक झुर्रीदार चमड़ा लटक गया और चैतू ने दाँत पीस-पीस कर जोर लगाया—माथे पर पसीना हो आया, पर बाबा का हाथ टस से मस न हुआ।

किसी ने कहा, 'बस चैतू, अब तुम हाथ फैलाओ।' चैतू ने हाथ फैलाया और बाबा ने बच्चों की तरह मरोड़ कर दबा दिया। चैतू चिचिया उठा। बाबा ने छोड़ दिया।

बाबा के लहुरे भाई देवीसिंह बड़े लठइत थे। उनसे चैतू की यह धृष्टता देखी नहीं जा रही थी, पर बाबा ने डाँटा, 'यह बहुत बुरा है!' और अब, जब चैतू हार गया, तो एकाएक वे उबल पड़े, 'कहो तो दे दूँ साले की पीठ पर दो लाठी!' बाबा देवीसिंह पर बिगड़ गये; बेचारे सिटपिटा गये।

× × × ×

फागुन का दूसरा पखवारा अभी लगा ही था—दिन की सुनहरी धूप, शाम का अबीरी आकाश और रात की रुपहली-टहकी चाँदनी–खलिहान जौ-गेहूँ के डाठ से खचाखच भरे हुए। हवा भी तो चिबोला करती है न! बकरिदिया ठाकुर के घर से नह काट कर लौट रही थी—फगुनहट का एक झोंका आया और आँचल उड़ा कर चला गया—'शरमा गयी, बकरीदा! इसमें क्या बात है रे! फागुन में बाबा देवर लागें!' देवीदयाल ने आज खूब छान ली। 'भौजी ने मेरी सिलिक की कमीज रद्द कर दी!'—नन्हकुआ मुसकराता जा रहा था और हाथ से कमोज सुखाता। 'जीताबो आज खूब फँसी—बड़ी ओस्ताद बनती थी न! आज पड़ गया सुधुआ से पाला, कलाई मरोड़ कर रंग का लोटा छीन लिया और खूब नहला कर गालों पर ऐसो रोली मली कि बच्ची को छठी का दूध याद आ गया।'

'बड़ा बुरा किया—राम! राम!! कुनरु ऐसे गाल इतने जोर से दबाने के लिए थोड़े ही हैं!' रामदीन खाँसते हुए बोले और खटिया पर करवट बदल ली। पारस ने मुँह बनाते हुए जवाब दिया, 'बुढ़ापा आ गया, लेकिन लत न छूटी, मरते-मरते जबान में कीड़े पड़ जायेंगे बाबा! अब तो मान जाओ आखिरी समय में।'

गुलरा के पलाशों पर तो फागुन उतर कर बैठ गया था—अजब का फूल होता है। लाल टेस, और टहनयाँ काली या चितबकरी—बे-पत्तियों की। शाम की किरणें रोज उन पर थम जाती हैं और आम की बगिया की साँवरी छाँह जैसे उनकी ललछहट में एक खैरी, मटमैली रेखा से बट जाती है। बाबा एकटक नीचे देख रहे हैं—गोमती की लहरों में, पछुवा के वेग, पानी की थिरकन और उसमें पड़ती हुई सुनहली रेखाएँ और पलाश की छाया।

नार की कली की चारपाई, हुक्का-चिलम, फरसा-कुदार, गगरी और बाँस की पुरानी लाठी; सब एक नन्हीं-सी फूस की मड़इया में; सुखई चिलम भर कर देता जा रहा है—बाबा का चेला है—अखाड़े का। बड़ा गठीला ज्वान, बाबा ने अपनी सब पेंच तो इसी को सिखायी। पट तो इतना रवाँ है कि एक बार गामा को भी उठा कर फेंक दे।

'बाबा ! आज मनकिया भी आ गयी', सुखई ने दम लगाते हुए कहा—अब तो कुल छे रंडियाँ हो गयीं। मुदा चमेलिया जैसी गाने वाली......'

बाबा की आँखें जैसे पलाश के फूलों में जा कर धँस गयी हों। दिन की उदासी जैसे घनीभूत हो कर गुलरा के आमों की डाल पर बैठ गयी हो।

चमेलिया बचपन से आती थी इसी गाँव में। फागुन के छे दिन ठाकुर के चबूतरे पर तबला ठनकता ही रह जाता, एक नहीं दस-दस रंडियाँ आतीं।

उस समय बाबा बच्चे थे। बड़े ठाकुर के चौथे-पाँचवे पुत्र थे शायद; और नित्य ठाकुर के साथ महफिल में बैठते। एक दिन खेलते-खेलते गये और पतुरिया की नन्ही बच्ची के कुर्ते की छोर पकड़ कर खींचने लगे। 'अभी से सीख रहा है !' किसी ने ठहाका मारा और लड़की चिल्ला कर रोने लगी। चमेलिया बाबा के साथ ही जवान हुई और उसने अपनी माँ की गद्दी को जगाया।

उसका स्वर, उसका रूप और उसके पाँवों की थिरकन लोगों को मोह लेती थी और जब बाबा होते, तब क्या पूछना; जैसे उसके पैरों में परियों के पंख गुँथ गये हों। वह पुरानी कहानी 'एक बच्चे ने बच्ची का कुर्ता पकड़ कर खींच लिया था, कोई हँस पड़ा था और बच्ची बहुत रोयी थी' बाबा भी जानते थे और चमेलिया भी। पर बाबा की भौंहें कभी टेढ़ी नहीं हुईं और चमेलिया कभी हारी भी नहीं।

जाते समय इनाम के बाद भी बाबा से रुपये माँगना—जरूरत न रहने पर भी 'ले जा, चमेलिया ! पर इसे कर्ज समझना !' चमेलिया एक तीखी हँसी हँसती। जैसे वासना का जीवित स्वर उसके कंठ में उतर आया हो। उसकी आँखें, चेहरा सब दमदमा उठते, पर बाबा स्थिर, गम्भीर—उनके उन्नत वक्षस्थल पर बनी हुई कड़ी-कड़ी माँस-पेशियाँ और बलिष्ठ भुजाएँ जैसे सींक से छू दो तो खून आ जाय, और चमेलिया उसे देखती—आँखों में भरती चली जाती।

उस साल वह जा ही तो रही थी, पर रास्ते के लिए इतना सिंगार-पटार, जैसे मेनका धरती पर उतर आयी हो। लम्बा छरहरा सुडौल बदन और कुल बीस बरस की उम्र—चमेलिया बाबा का कर्ज चुकाना ही चाहती थी। गुलरा केराकत के रास्ते ही में तो पड़ता है। समाजी घाट पर चले गये और चमेलिया बगिया में

घुसी। बाबा कसरत करके पसीना सुखा रहे थे। खटिया रेत पर पड़ी थी। रोशनी सँवरा गयी थी। थोड़ी देर में रात होगी और बाबा खाना खाने घर जायँगे, पर एकाएक नुपूर की आवाज सुन कर बाबा ने गरदन घुमायी—

आम्रपाली आम की बगिया में उतर आयी पर बुद्ध भगवान् का वहाँ कोई शिष्य नहीं था, वर्ना आँख पर पट्टी बाँध लेने को कहते।

'चमेलिया! तुम यहाँ?'

'हाँ, कर्ज चुकाने आयी हूँ।'

'मैंने कभी तगादा किया था क्या रे!'

'फिर भी वह कर्ज तो है।' कह कर वह मुसकरायी—एक मोह-भरी मुसकान की रोशनी बिखर गयी, पर रतिराज के पलाश-पुष्प वाले बाण कारगर नहीं हुए। बाबा कपड़ा नहीं पहने थे, एकाएक याद आ गया। बढ़ कर धोती उठाना चाहते थे, पर लपक कर चमेलिया ने धोती उठा ली और कस कर सीने में दबोच लिया और एकटक बाबा की ओर देखने लगी—बड़ी ही तेज आँखें थीं वे—कटार की तरह।

'मुझे देखने भी न दोगे?'

मसें भीन रही थीं—नीचे से ऊपर तक जैसे साँचे में गढ़ा शरीर। एक अजीब कसाव और ऐंठन!

'मैंने ऐसा शरीर नहीं देखा है!' उसने अपनी आँखें तिरछी करते हुए कहा। ये अचूक आँखें थीं, स्नेह से छलछलायी हुई।

बाबा नीचे सिर किये ही हँसे—'ऐसे उरिन नहीं होने की चमेली!'

चमेलिया के चेहरे पर पराजय की प्रतिहिंसा चमकी। एक तेज, एक जोश उसकी आँखों में उभर आया—बिलकुल अनदेखा। वह सारी शक्ति लगा देगी।

चमेलिया बढ़ कर बाबा के पैरों के पास बैठ गयी, पर बाबा चुप तो चुप। उनके तीसरा नेत्र नहीं था, वर्ना शंकरजी की तरह आज काम को जला देने की ठान लेते। पर चमेलिया स्त्री थी, स्त्री पर हाथ उठाना—यह बाबा से नहीं हो सकता था।

'जा चमेलिया ! तेरी आँखों का दोष मिट जायगा !' बाबा ने बड़ी उदासी से कहा।

चमेलिया की आँखें चकरा गयीं—उसका रोयाँ-रोयाँ काँप गया। 'आँखों का दोष मिट जायगा ? वेश्या की आँखों का दोष ?'

और चमेलिया उसी साल अन्धी हो गयी।

सुखई ने मौन तोड़ा 'अब तो देर हो रही है बाबा !'

'अरे, हाँ रे सुखइया ! मैं तो भूल ही गया था कि घर भी चलना है।' बाबा ने एक फीकी हँसी हँस दी। रात काफी बीत चुकी थी। बगिया में घना अँधेरा छा गया था। एकाएक बाबा को आम की सोर से ठोकर लग गयी। 'बाबा को ठोकर कभी नहीं लगती गुलरा में !' सुखई सोचते-सोचते कहने लगा—

'बाबा यह वही पेड़ है। याद है न ?'

'याद है सुखइया ! गजब की सिल्ली थी इसकी। अभी तक इसकी खुत्थियाँ बची ही रह गयी है !'

कई वर्ष पहले की बात है, जब बड़की बखरी बन रही थी। गर्मी का महीना—आराकस लगे थे। अकेलवा आम कटा था, काड़ियाँ चीरी जाने को थीं। सिल्लीं अहार कर ठीक कर ली गयी थी। गढ़ा खोद कर तैयार था। दस आराकस और आठ चरवाहे—लोहार—कुल मिला कर अट्ठारह। हलाकान हो गये बेचारे—एड़ी का पसीना चोटी पहुँच गया, पर सिल्ली टस से मस नहीं हुई। आखिर थक कर बैठ गये। बाबा रस-दाना करके गुलरा आ रहे थे—क्या रे ! पेड़िया नहीं उठी ?'

'यह जुम्मिस नहीं खा रही है बाबा ! आओ आपके साथ भी जोर लगा कर देख लें !'

सब उठ खड़े हुए। बाबा के साथ यही सुखइया था—कुल सोलह वर्ष का और एक बारह बरस का गड़ेरिया।

बाबा ने बड़ी स्थिरता से कहा, 'अब तुम लोग बैठो, देखो हम तीनों कुछ कर सकते हैं ?'

बाबा ने सिल्ली का माथा थामा। ऊपर को उठाया और झटका दे कर उसे हाथों पर रोक लिया। दोनों लड़के इधर-उधर—एक बार और जोर लगा। बाबा ने कहा, 'शाबाश मेरे बेटो!' और दूसरे झटके में सिल्ली खड़ी हो गयी।

आराकस सन्न रह गये। बाबा को भी पसीना हो आया। उन्होंने कहा, 'आड़ लगा कर चीरो!' और तनिक हट कर लेहसुनवाँ की छाया में बैठ गये। दोनों लड़के भी वहीं छुँहाने लगे।

सब के सब—आराकस और लोहार बाबा के पास पहुँचे। उनमें एक लोहार था—लड़ता-भिड़ता भी था, पूरा ज्वान। कहने लगा, 'बाबा! बड़ा जोर है आपके गट्टे में!'

बाबा हँसे, 'अरे यह मेरा जोर नहीं है जी, यह तो सुखइया और नगइया का है!'

बच्चे हँस पड़े। लोहार ने कहा, 'नहीं बाबा! ये सब बच्चे हैं, क्या जोर लगायेंगे!'

बाबा ने कहा, 'बात भी मानो, यह उन्हीं का जोर था।'

फिर लोहार ने हँसते हुए सिर हिलाया।

'अच्छा, तो अजमा लो!' बाबा ने वैसे ही कह दिया। दोनों की कुश्ती हो गयी—हाथ मिला और फिर दूसरे ही मिनट सुखइया लोहार के सीने पर था।

बाबा हँसे, लोहार शरमा गया। 'सचमुच इन सबों में जोर है!' लोहार फुसफुसाया और उठ कर सब काम पर चले गये। बाबा देर तक हँसते रहे।

× × × ×

बाबा चौके में चले गये थे। थाली परसी जा चुकी थी, तब तक देवीसिंह एकाएक घर में घुसे। बाबा ने उनकी ओर देखा, 'क्या नाच बन्द हो गयी?'

'नहीं तो। अरे चैतुआ साले की टाँग टूट गयी। खबर मिली तो हम लोग उठ कर पता लगाने चले गये।'

'क्या कहा?' बाबा जैसे भौंचक्के से हो गये।

'अरे गरूर का नतीजा यह होता है। गट्टा टेढ़ा करने आया था न बाबा का! अब इन कमीनों की हिम्मत इतनी बढ़ गयी!' देवीसिंह ने मुँह बनाते हुए कहा।

'तुम्हें जिन्दगी भर तमीज न होगी। आखिर कैसे टूटा टाँग?'

'जाके देख क्यों नहीं आते, बड़ी मोह लगी है तो। वह तो टूटनी ही थी, आज अखाड़े में गिर कर टूटी है, कल हम लोगों की लाठों से टूटती। गुलरा में सरपत काटने गया था न।'

थाली परसी रही, पर बाबा रुके नहीं। 'वे यह काम तो जानते हैं न, कितनी दूर-दूर के आदमी उनके यहाँ हड्डियाँ बैठवाने आते हैं!' और दौड़ कर मन्ना साव की दूकान पर पहुँचे—अम्मा हरदी, चोट मुसब्बर और सेत खरी—पुड़िया बँध गयी। बाबा ले कर दौड़े तो चाँदनी पिघल कर धरती पर पसर गयी थी। हवा के झोंके इस ओर से उस ओर को चले जाते थे। 'बुढ़ाई का समय, अब कहाँ है वह चाल?' बाबा सोचने लगे, 'कितना अच्छा लड़ैत है वह। उस दिन कितना जोर लगाता था। झग्गा कोई मामूली पहलवान थोड़े ही है—दो ही मिनट में तो उसे दे मारा। अब तो गाँव का नाम यही रखे है।'

चैतू का घर आ गया। बाबा थक कर चूर हो गये थे। साँसें बढ़ गयी थीं। तनिक थम कर देखने लगे—लोग घेरे थे और चैतू जमीन पर पड़ा तड़फड़ा रहा था। टाँग कमर के पास वाले जोड़ से सरक गयी थी। सब लोग हट गये। बाबा ने हाथ लगाया—थोड़ा तेल तो लाओ! और दवाई जरा पीस लेना!' उन्होंने देखा, चोट बड़ी बेतुकी थी। चैतू को पट सुला दिया, फिर चोट को माँजते-माँजते एकाएक पैर लगा कर चैतू की टाँगे हाथ से उठा दीं। चट की आवाज हुई और चोट ठीक हो गयी, हड्डी बैठ गयी। बाबा ने दवा गरम करवायी और चोट बाँध दिया।

चैतू होश में आ गया था। उसकी माँ और बीबी एकटक बाबा को देख कर रो रही थीं—खुशी के मारे चैतू ने भी देखा—आँखें मुलमुलायीं। फिर एकाएक बोल उठा, 'बाबा!' और उसकी आँखों से आँसू बहने लगे।

बाबा ने उसका सिर अपनी जाँघ पर टिका लिया। इधर-उधर देखा, चैतू का छप्पर टूटा पड़ा था। बखरी का ओसार भी छान्ह का ही बना था—वह भी सड़ गया था।

बड़े सबेरे जब पलाशों की लाली पर सूरज की किरणें एक-एक कर उतर रही थीं—गुलरा की सरपत में पच्चीस मजदूर लगे थे--कटाई हो रही थी। सुखई ने पूछा--'क्या होगी सरपत, बाबा?'

'चैतुआ की छान्ह टूट गयी है रे!' बाबा ने उत्साह से कहा।

—:o:—

श्री ओंकारनाथ श्रीवास्तव

जन्मकाल	रचनाकाल
१६३२ ई०	१६५१ ई०

कालसुन्दरी

तम्बाकू की पीक मुँह में भरे हुए बाबा अटपटाते हुए कमरे की साँकल हटा-कर चबूतरे पर आये। जगत पर बैठे मिसिर दातुन कर रहे थे। बाबा ने पीक थूक कर कहा—'पाँय लागी मिसिर।'

मिसिर कूँची की जीभी बना चुके थे और जीभ साफ करने के लिए मुँह में डालने ही वाले थे। हाथों से जरा ठहरने का इशारा करके, जीभी मुँह डाल कर ओअ-ओअ करने के बाद एक बुल्ला पानी अपने नीचे इतनी जोर से फेंका कि सारी छिट्टियाँ उन्हीं के ऊपर पड़ी। खैर, मुँह तो साफ हुआ। बोले-'खुस रहो बाबा।'

बाबा रिटायर्ड अहलमद थे। जरूरत के हिसाब से लोग उनको 'मुंशीजी,' 'पेशकार साहब' 'सरिश्तेदार साहब' और 'मुंसरिम साहब' कहते थे, हालाँकि अपने लड़कों की शादी में उन्होंने जुमले के मुताबिक अपने नाम के आगे 'रईस व जमींदार' ही छपवाया था। वैसे वे सबके 'बाबा' थे, मुहल्ले भर के 'बाबा'। और मिसिर, बस मिसिर थे—पूरे निठल्ले। बिधवा भौजाई कूट-पीस, माँग-जाँच कर जो कुछ लाती थी, उसे राम का भेजा हुआ समझ कर खा लेते थे, लेकिन दाल में नमक ज्यादा होने पर भौजाई को 'चमारिन' से 'बंगालिन' तक बना डालते थे। मिसिर छप्पन के थे, बाबा बहत्तर के। लेकिन मिसिर ब्राह्मण जो ठहरे और बाबा कायस्थ। इसलिए बाबा पैलगी करते थे और मिसिर असीस देते थे। 'पाँय लागी मिसिर जी' और 'खुस रहो बाबा' से दोनों निठल्लों का दिन शुरु होता था। एक सरकारी निठल्ला था और दूसरा प्राइवेट निठल्ला—लेकिन गैर सरकारी नहीं।

'और कहो मिसिर जी, अबकी बौर कैसा आया है ? जंगल तो रोज जाते हो, देखते ही होगे। पारसाल तो चटनी की अमिया तक नही मिली।' बाबा न छेड़ा।

'अब पूछो बाबा, मारे बौर के डारें झुक गई हैं। वह अरघान उठी है कि तबियत मस्त हो जाय। राम चाहे तो अब की बार आम सड़ेगा—कहाँ तक खायेगा कोई—मिसिर का चेहरा मस्त हो गया।

'सो कुछ नहीं होने का मिसिरजी। इब्तदा की बातें अब नहीं रहीं। तब कभी ऐसा नहीं होता था कि आम पैदा न हो। और आम बेचना तो पाप मानते थे, पाप। अब तो जिनके बड़े-बड़े बाग हैं, वे भी बेच देते हैं और चटनी तक के लिए मोल मँगाते हैं।'

तभी एक आवाज आई—ओ कुआँ पर के लोगो, कोई एक बाल्टी पानी दे दो। एक बाल्टी पानी······'

मिसिर चिल्लाये—'चुप बुढ़िया, सबेरा हुआ नहीं कि टिर्र-टिर्र शुरु कर दी।'

बुढ़िया चुप।

मिसिर ने फिर कहना शुरु किया 'हाँ बाबा, अब वे दिन लद गये। घी, दूध आँख में लगाने को नहीं मिलता। मुफ्त तो आम की कौन कहे, आम की गुठली भी नहीं मिलती। मगर बाबा जो अरघान उठी है कि जंगल महर-महर कर रहा है।' मिसिर ने किसी तरह अपनी मस्ती फिर लौटा ली।

'बौरों के साथ-साथ मिसिर भी बौरा गये हैं। कहते हुए दुर्गा महराज ने बाबा का ध्यान अपनी ओर खींच लिया। बाबा ने दूसरी ओर देखा तो नीम की एक टहनी की सींके तोड़ते दातुन करने की तैयारी करते हुए दुर्गा महराज हँस रहे थे बोले—'आदाबरज है मुंशी जी—मैंने कहा कि मिसिर जी भी कुछ-कुछ बौरा गये हैं।' दुर्गा महराज कचहरी में चपरासी थे, इसलिए कायदे से बातचीत करने की कुछ आदत सी पड़ गई थी उनकी।

बहत्तर वर्ष के बाबा भी कम इखलाक-पसन्द न थे। हालाँ कि आदाब के बाद दुर्गा महराज ने उन्हें बोलने का मौका नहीं दिया था, फिर भी वे बोले—बंदगी अर्ज है—'क्या कहा महराज ?'

मिसिर बीच में बोल उठे—'अरे महराज ही तो हैं; जो चाहे कहें।'

इतने में फिर वही आवाज–'कुआँ पर के दानी एक बाल्टी पानी।'

'वाह री बुढ़िया' कहते हुए मिसिर उसकी बाल्टी भर देने के लिए उठे।

बाबा के चबूतरे के सामने एक छोटा सा शिवजी का मण्डप था। उससे लगी हुई थी बुढ़िया की कोठरी–और कोठरी के सामने चबूतरा। चबूतरा काफी ऊँचा था, इसलिए मुहल्ले वाले उसे 'ऊँचे पर की बुढ़िया,' 'ऊँचे पर की महराजिन' या सिर्फ 'ऊँचे पर वाली' कहा करते थे। शुरू-शुरू में जब कुछ गहने जेवर थे, उन्हें बेच-बेच कर पेट पालती रही। गहने गये तो उनके साथ जवानी का जोश भी उतरा और पवित्रता आने लगी। गृहस्थों के घरों में पैठ हुई और माँग-जाँच कर काम चलने लगा। बुढ़िया पचास से ऊपर न थी, लेकिन लट गई थी। इधर साल भर से मोतियाबिन्द हो जाने की वजह से चलने फिरने से मजबूर थी। इसीलिए सबेरे से चबूतरे पर बैठकर जरुरत की सब चीजों के लिए एक-एक कर हाँक लगाते रहना ही उसकी दिनचर्या थी। रोज ही कोई न कोई पसीज जाता था। आज मिसिर की बारी थी। पैरों की धमक और बाल्टी की खड़क से जब यह मालूम हो गया कि बाल्टी भरने के लिए कोई उठा ले गया तो बुढ़िया के जी में जी आया। चेहरे की झुर्रियाँ कुछ-कुछ चिकनी हुईं और वह बोल उठी–'सरिस्ते-दार साहब हैं क्या ?'

बाबा सुन कर भी चुप रहे।

बुढ़िया फिर बोली–'अरे सरिस्तेदार साहब, एक बीरा तमाखू मेरे लिए भी·········'

बाबा ने लापरवाही से कहा–'देखो बनाता हूँ!'

मिसिर जब तक बुढ़िया की बाल्टी कुँए में लटका चुके थे। दुर्गा महराज बोले—'मुंशी जी, मैं कहता हूँ मिसिर की जवानी लौट आई है। देखिये कोई पट्ठा भी क्या इतनी फुर्ती में पानी भरेगा और वह भी बूढ़ा का पानी।'

मिसिर मन ही मन गदगद हो गये। बनावटी क्रोध दिखाते हुए मुँह फेर कर बोले—हँसौवा करते हो महाराज ?

'हँसौवा की कौन बात है ? अभी तो साठ के भी नहीं हुए मिसिर जी। जवानी कहीं चली थोड़े गई है। अबकी लगनों में मुंशीजी मिसिर का भी कुछ

इन्तजाम होना चाहिये।' दुर्गा महराज ने कहा।

'बाबा ने ताली पर रख कर तमाखू पीटते हुए कहा—'हाँ-हाँ, क्या हरज है, मिसिर जी तो काफी जिन्दादिल हैं।'

बाल्टी भर कर मिसिर बुढ़िया के चबूतरे पर पहुँच गये थे। बाबा ने बुलाया, 'मिसिर जी जरा यह तमाखू बुढ़िया को दे तो देना।' फिर दुर्गा महराज से बोले—'कहीं डौल भी लगाया है या यों ही।'

दुर्गा महराज ने वहीं से खड़े-खड़े इतने जोर से फुसफुसाकर कहा कि सब कोई सुन ले—'अरे यह क्या है ऊँचे पर वाली।'

अब तक बाबा से तमाखू लेकर मिसिर बुढ़िया को दे रहे थे। आँखों से मजबूर हो जाने की वजह से बुढ़िया के कान जरूरत से ज्यादा सचेत हो गये थे। सब कुछ ध्यान लगाकर सुनती थी। इतना सुनती थी कि देखने की कमी पूरी हो जाय। सुना तो आग लग गई देह में। गाली देकर बोली—'मना करो सरिस्तेदार इस दुर्गवा को। हम बूढ़ियों से हँसोवा करना चाहिये इसे?'

दुर्गा महाराज ने बात काट कर कहा—

'कौन कहता है तुम्हें बूढ़ी। ईंगुर ऐसा तुम्हारा मुँह, अभी पचास भी तो पार नहीं किया। और फिर पचास भी क्यों, देखकर तुम्हें कोई तीस के ऊपर तो अन्दाज हो नहीं सकता। दिखाई नहीं पड़ता तो क्या हुआ! जिन्हें दिखाई ही पड़ता है, वे ही कौन बड़े समझदार हैं। आँखें खोले टुकुर-टुकुर किया करती हो, जैसे हिरनी का बच्चा और बोलती हो कि बस चिरई के बोल—देखो, कितने दुलार से मिसिर तमाखू दे रहे हैं तुमको।'

मिसिर मुँह सिकोड़ कर दूर हट कर ऐसे खड़े हो गये जैसे बुरा मान गये हों। बुढ़िया अबकी बार गाली देते-देते हँस पड़ी, बोली—'बस-बस मेरे सामने चतुरा न करो।' शायद उसे बीस साल पहले की बातें याद हो आईं। शहर के पराग पुरोहित की दुलहिन थी वह। सब उसे पंडिताइन कहते थे। पुरोहित जी चौथी शादी कर लाये थे—बूढ़े हो चले थे। और वह गजाधर कितना सजीला जवान था...फिर वह मस्ती के दिन और रातें; गजाधर का धोखा। जब मामला छिपने लायक न रहा तब पराग पुरोहित ने उसे घर से

निकाल दिया। जंगल में सरपत के थूहों के बीच मरी लड़की पैदा हुई। फिर इस मुहल्ले वाले उसे यहाँ ले आये। पराग पुरोहित ने चालीस रुपये की यह कोठरी लेकर उसके नाम कर दी थी और तब से दोनों का कोई सम्बन्ध न था। हाँ, इतना सम्बन्ध था कि गजाधर के मरने की खबर आई तो पराग पुरोहित ने कहला भेजा कि चूड़ियाँ न तोड़ना, वे मेरी हैं। तब से वह चूड़ियाँ पहनती चली आ रही थी। एक साथ स्मृतियों का तूफान; उसने आँचल समेट लिया।

बाबा ने अपनी बुजुर्गी के नाते शायद बोलना ठीक नहीं समझा, लेकिन तटस्थता प्रदर्शित करने के लिए चबूतरे पर ही बैठ गये।

गोपाल पंण्डित 'श्रीरामचन्द्र कृपालु भजु मन...'आदि गुनगुनाते हुए रस्सी, बाल्टी लिये पानी भरने चले आ रहे थे। बाबाने फौरन कहा—पाँय लागी पंडित जी।'

गोपाल पंडित ने कहा—'आयुष्मान् बाबा।'

'आयुष्मान नहीं, अब तो कहो कि जल्दी मर जाओ' बाबा ने अपने माथे की झुर्रियों पर बल देते हुए कहा।

पंडित जी ने बाल्टी कुए की जगत पर रख दी और बाबा की ओर मुखातिब होकर कहा—'ना बाबा, मनुष्य योनि बड़े पुण्य के बाद कहीं मिलती है। जितने सुख लूटना चाहो इसी योनि में लूट लो, नहीं तो फिर वही बिना बोल का जानवर बनना होगा जो बेचारा 'राम' का नाम भी नहीं ले सकता... ।'

मिसिर बुढ़िया और बाबा बड़े ध्यान से सुनने लगे थे कि दुर्गा महराज ने बात काटते हुए कहा—'अरे छोड़ो भी सुकुल इन सब बातों को (पंडित जी का पूरा नाम पं० गोपाल प्रसाद शुक्ल था) फिर जरा सा आँख मार कर कहा कि आज तो कुछ और ही मसला पेश थे—ये जो मिसिर हैं न, इनके ऊपर आजकल बड़ी मस्ती छाई हुई है। आमों के साथ-साथ ये भी बौरा गये हैं। तो सुकुल बस ऐसा करो कि अबकी लगनों में कुछ इनका इन्तजाम हो जाय।

पंडित जी मुस्कुराये, बोले—'किसके साथ ?'

दुर्गा महाराज ने जोर से आँख दबाकर हाथ तरेरते हुए बुढ़िया की ओर इशारा किया।

पंडित जी जोर से हँसे—'हाँ-हाँ क्या हुआ। पुराणों में पंचकन्याओं का जिक्र है जिनका सबेरे नाम लेने से आदमी तर जाता है...'

बाबा नाम लेने लगे थे—प्रातहि लीजै पाँच नाम–हरि, बलि, कर्ण युधिष्ठिर, परशुराम और अहिल्या, तारा, कुन्ती, मन्दोदरी, द्रौपदी।

पंडित जी ने कहा—'हाँ और ये होंगी छठी कन्या।'

लोग जोर से हँस पड़े। बुढ़िया ने गालियों की बौछार शुरू कर दी थी—पंडित जी पूछते ही रह गये कि—'और इनका नाम?'

बाबा ने कहा—'नाम क्या...बस ऊँचे पर वालो। दुर्गा महराज बात काट कर बोले—'वाह मुंशी जी, आप इनका नाम भी नहीं जानते हैं—आधा शहर 'सुन्दरा महराजिन' को जानता है—खुब सुन्दरी है। इनका नाम—वाह-वाह, क्या नाम है—सुन्दरी।

मिसिर इतने मगन हो चुके थे कि अपने को रोक न सके बोले—'सुन्दरी नहीं, कालसुन्दरी।'

'कालसुन्दरी सही भाई। जब तुम्हारी ही होकर रहना है इन्हें, तब जो चाहो कहो। 'कालसुन्दरी' कोई खराब नाम तो नहीं।'

मिसिर कट कर रह गये।

बुढ़िया गालियाँ बकती हुई कोठरी के अन्दर चली गई और दरवाजा इतने जोर से बंद किया कि उसकी सारी चूलें चरचरा उठीं।

[२]

शाम तक सारी बातें मुहल्ले के लड़कों को मालूम हो गई थीं। हँसी का नया मसाला था, खेल का नया सामान था। मंदिर और बाबा के चबूतरे के बीच की सँकरी गली में सब के सब इकट्ठे हो गये थे और तरह-तरह से बुढ़िया को चिढ़ा रहे थे। कोई किसी से पूछ रहा था—'क्यों भाई, मिसिर की बरात में चलोगे या बुढ़िया की तरफ से रहोगे।' कोई कह रहा था कि शादी के बाद बुढ़िया गधे पर सवार होकर ससुराल जायेगी। कोई जाकर बुढ़िया को तम्बाकू देने के बहाने उसके मुँह में धूल झोंक आया था और वह धारा-प्रवाह गालियाँ बक-बक कर मुँह पोंछ रही थी। इतने में लड़कों को एक नया खेल सूझा। सबके

सब दो दलों में बँट गये। एक बुढ़िया के नाम पर और दूसरा मिसिर के नाम पर कबड्डी शुरू हुई। बुढ़िया के दल वाले 'कालसुन्दरी' 'कालसुन्दरी' कहते हुए दूसरे पाले में घुसते थे और मिसिर के दल वाले 'मिसिर जी,' 'मिसिर जी,' कहते हुए। खेल जोरों से चल रहा था। इतने में मिसिर अपने घर से बड़-बड़ाते हुए निकले—भौजाई को कोस रहे थे—'याद रखो, नादान देवर को दुःख दोगी तो नरक में भी ठौर न मिलेगा।' जब भी भौजाई उन्हें घर से निकालती थी, वे भौजाई को यही शाप देते थे। लेकिन और दिनों तो लड़ाई खाने के ही वक्त होती थी। आज की शाम की लड़ाई की वजह यह थी कि भौजाई ने भी इस तथाकथित विवाह की बात सुनी थी और तब से ही वह न जाने क्यों कुढ़ रही थी। शाम को मिसिर को भी न जाने क्या सूझी कि हाँड़ी से थोड़ा-सा कड़ुवा तेल निकाल कर अपनी जुल्फें चिकनिया ली थीं। भौजाई ने यह नई हरकत देखी तो आग हो गई। ज्यों-ज्यों लड़कों का शोर बढ़ता गया त्यों-त्यों वह भड़कती गई और उसने आखिरकार मिसिर को घर से खदेड़कर ही दम लिया।

मिसिर को आते देख कर छोटे-छोटे लड़के तो भाग गये। बड़े भला क्यों डरने लगे? आगे बढ़कर बोले—'वाह मिसिर फूफा, विवाह तय कर लिया और हमको न्योता तक नहीं दिया। अच्छा यह तो बताओ तुम्हारा सहबल्ला कौन बनेगा।' मिसिर जले हुए थे। डपट कर बोले—'सरम तो नहीं लगती होगी अपने से बड़े के मुँह लगते।'

लड़कों का मजाक खाली गया तो कुछ चिढ़ गये, बोले—'ओ हो-हो कालसुन्दरी की लाल चुन्दरी का इन्तजाम हो गया है, लेकिन हमारी मिठाई की फिक्र ही नहीं। अच्छा यह तो बताओ, आज बुलबुली में यह तेल कहाँ से डाल लाये।'

अब तो मिसिर के मुँह से बेसाख्ता गालियाँ निकलने लगीं।

इतने में एक लड़के ने किलकारी लगाई—'बूढ़े मुँह मुहासे'।

लड़के बोले—'लोग चले तमासे'।

और फिजां में जैसे लड़कपन छा गया। लड़के चिल्लाते जा रहे थे, मिसिर

बड़बड़ाते जा रहे थे और बुढ़िया को भी ज्योंही मौका मिलता था, कुछ-कुछ शिकायत के तौर पर बोल लेती थी। इतने में ही सामने की गली से दुर्गा महराज आते हुए दिखाई दिये। गर्मी की धूप में तपे हुए थे। शोर सुना तो उबल पड़े—'चुप रहो शैतानों। यह क्या आसमान सिर पर उठा रखा है।'

सब के सब जहाँ के तहाँ रुक गये। बूढ़े मुँह मुँहासे का जवाब नहीं मिला। मिसिर कह रहे थे—कल के लड़के और बुढ़िया तो कुलच्छनी, अभागी···कहकर ही रुके।

दुर्गा महराज का मुहल्ले के लड़कों पर काफी रोब था। सब लड़के एक-एक करके तितर-बितर हो गये। दो-एक ने जाते-जाते दुर्गा को मुर्गा की बोली सुना दी—कुकड़ूँ कूँ।

दुर्गा महराज ने डपट कर मिसिर से पूछा—'क्यों मिसिर यह क्या वाहियात शोर गुल मचा रखा है?'

मिसिर ने ऊँची आवाज करके कहा जिससे घर के अंदर उसकी भौजाई भी सुन ले—'अरे वह बंगालिन चैन से एक पहर बैठने तो दे। हर बेर निकल-घर से, निकल घर से। आज निकल आया हूँ—अब ससुरी के हाथ का बनाया कभी न खाऊँगा। उपास करूँगा, जान दे दूँगा इसी महादेव के चबूतरे पर।

दुर्गा महराज कुछ मूड में नहीं थे, इसलिये 'हत्तेरी रोज-रोज की लड़ाई की' कह कर झींखते हुए घर के अन्दर चले गये। बुढ़िया कान उलट कुछ सुनने के लिए तैयार बैठी ही रह गई। मिसिर शिवाले पर बैठ कर भुनभुनाने लगे।

कुढ़न थी तो भौजाई से; बुढ़िया से तो कोई शिकायत थी नहीं जो मिसिर उस शाम को उसका पानी न भरते। और पानी भरने वाले भी आते रहे और बुढ़िया रोज की जरूरत की चीजों के लिए गुहार उठाती रही जैसे तमाखू, आग, नमक आदि।

जैसे-जैसे शाम गहरी होती गई मिसिर को भूख लगती गई, लेकिन आज भौजाई ने भी अकड़े रहने की ठान ली थी। थोड़ी देर बाद उनकी सारी आशाएँ छितिज के उस पार डूब गईं और निराशा का गहरा अंधकार छा गया। सबके

दरवाजे बंद हो गये। बुढ़िया भी टटोल-टटोल कर अपने चूल्हे से जूझने लगी। मिसिर मारे गुस्से के मन ही मन बौखला रहे थे, लेकिन कोई उपाय न सूझता था। आखिरकार थोड़ी देर में म्युनिसिपैलिटी की लालटेन जलाने वाला आता दिखाई दिया तो मिसिर ने ही छेड़ा—'क्यों खयाली आज कुछ देर कर दी।'

खयाली बोला—'नहीं पंडित, अभी तो सिर्फ साढ़े सात का टैम हुआ है।'

एक लम्बी साँस लेकर बात बढ़ाने के इरादे से मिसिर ने कहा – 'अच्छा खयाली कितने दिनों से हो म्युनिसिपैलिटी की नौकरी में? तलब क्या मिलती है—ऊपर का डौल तो काहे लग पाता होगा?'

मगर खयाली को फुरसत कहाँ। बत्ती जलाकर वह दम भर में मिसिर के सवाल के जवाब में कुछ हाँ, हूँ कहता हुआ चला गया।

अब मिसिर कुछ सोच कर उठे और ठिठकते हुए अपने घर की ओर बढ़े। दरवाजा खटखटाया तो भीतर से भौजाई डपट कर बोली—'को है?'

मिसिर फिर जल गये। गाली देकर बोले—'अरी मैं हूँ; क्या घर से निकाल देगी तो ओढ़ना-बिछौना भी खा जायेगी? समझती होगी कि मैं इससे खाना माँगने आया हूँ। हँ: ला दे मेरा ओढ़ना बिछौना।'

भौजाई ने बड़बड़ाते हुए दरवाजा खोल दिया और मिसिर किसी तरह दस-पाँच मिनट में अपनी कथरी, कमली समेट कर घर के बाहर निकल आये। बेचारे क्या-क्या सोचकर गये थे, लेकिन क्रोध ने सब कुछ चौपट कर दिया। खैर, शिवाले के चबूतरे पर कथरी बिछाकर लेट गये और एक गाना गुनगुनाने लगे—

'जमाना रंग बदलता है···'

बुढ़िया कच्ची-पक्की रोटी सेंककर खा चुकी थी। मिसिर ने गाना शुरू किया तो कान लगाकर सुनने लगी।

गुनगुना चुके तो लगा कि कुछ शान्ति मिल रही है। एक भजन छेड़ दी—

'बस में होते आ-आ-ए, भगवान भगत के बस में···।' भजन खत्म करते-करते थक गये, कुछ सुस्ताने लगे थे कि बुढ़िया बोली—'मिसिर जी, अभी कुछ भोजन

नहीं हुआ।'

उस वक्त मिसिर को शायद दर्दे-दिल की बात भी उतनी मार्मिक न लगती जितनी बुढ़िया की वह छोटी सी बात लगी। उत्तर में कुछ सोचते हुए सिर्फ 'उँह' कह कर रह गये।

बुढ़िया ने कहा—'सतुवा खाओगे?'

मिसिर ने धीरे से कहा—'हूँ'

बुढ़िया—'तो बर्तन ले लो, पानी भर लो, सतुवा और नमक मैं दिये देती हूँ।'

मिसिर ने सब इन्तजाम किया। बुढ़िया ने तीन मुट्ठी सत्तू और चुटकी भर नमक दे दिया। मिसिर जल्दी-जल्दी सानकर खाने लगे।

जब थोड़ा ही खाने को रह गया तो मिसिर ने कहा—'क्यों ऊँचे पर वाली, ये कैसे सत्तू हैं, न जाने कैसा सवाद है।'

बुढ़िया ने कहा—'आँय—सत्तू तो अच्छे खासे थे। लेकिन रुको, मैंने गलती से तुम्हें गोजई का पिसान तो नहीं दे दिया!'

मिसिर ने कहा—'धत्तेरे की पिसान खिला दिया—वही तो मैं सोच रहा था कि न जाने कैसा सवाद है।'

बुढिया ने कहा—'खैर, इसे छोड़ दो। यह सत्तू ले लो, मुँह का सवाद बदल डालो।'

मिसिर ने सत्तू लेकर खा तो लिया, लेकिन बुढ़िया के ऊपर झुँझलाते रहे।

दूसरे दिन जब भौजाई मना कर घर ले गई तब उससे बुढ़िया की बहुत बुराई की कि उसने उन्हें गोजई का पिसान खिला दिया।

[३]

दिन बीतते रहे। 'पाँय लागी मिसिर जी' और 'खुस रहो बाबा' से उस गली की रोज की जिन्दगी शुरू होती—फिर वही बाबा की बुजुर्गी, वही दुर्गा महराज के मजाक, वही गोपाल पंडित के प्रवचन, वही मिसिर की मस्ती, वही बुढ़िया की रटन और लड़कों की कालसुन्दरी वाली कबड्डी चलती रही, चलती रही···

हाँ, एक परिवर्तन हुआ था। वह यह कि अब मिसिर जब घर से निकाले जाते तब बुढ़िया के यहाँ रोटी, सत्तू या कुछ न कुछ पा ही जाते थे और खुद भी बदले में जो गालियाँ भौजाई को दिया करते थे सो बुढ़िया को दे दिया करते।

जब आम की सीकर टपकने लगी तब मिसिर जी रोके न रुके। शहर में आम मुफ्त तो खाने को मिल नहीं सकता था, इसलिये कोई दूर का रिश्तेदार ढूँढ़ निकाला और आम खाने के लिए उसके घर, गाँव, चले गये।

फिर भी रोज के क्रम में कोई खास फर्क नहीं आया। बाबा औरों से पैलगी कर लिया करते थे और फिर उनकी बुजुर्गी दुर्गा महराज के मजाक, गोपाल पंडित के प्रवचन, बुढ़िया की रटन और सब कुछ वैसा ही नहीं, तो करीब वैसा ही चलता रहा।

[४]

वह दिन रोज की तरह नहीं शुरू हुआ। बाल्टी कुँए की जगत पर रखते हुए गोपाल पंडित दुर्गा महराज से कह रहे थे—'और फिर इस बार तो महामारी का बड़ा प्रकोप है, पत्रा में लिखा है कि········'

इतने में बाबा ने कमरे से निकल कर तमाखू की पीक थूकी और बोले 'पाँय लागी पंडित जी।'

पंडित जी—'आयुष्मान बाबा।'

बाबा—'आयुष्मान नहीं अब तो कहो··········'

दुर्गा महराज ने बात काट कर कहा—'हाँ, तो क्या लिखा है पत्रा में?'

पंडित जी ने कहा—'तुमने बाबा सुना कि नहीं?'

बाबा—'क्या? कोई खास बात?'

पंडित जी—'अरे यही कि मिसिर जी का देहान्त हो गया।'

बाबा—'आँय, क्या कहा? मिसिर जी ने चोला छोड़ दिया। क्या बात थी? कोई बेरामी—आरामी?'

पंडित जी—'हाँ, हैजा हो गया था; वही तो मैं अभी कह रहा था कि इस साल पत्रा में महामारी के प्रकोप का जोग बनता है।'

बाबा सिर पकड़ कर बैठ गये। फिर रुक-रुक बोले—'बड़े अच्छे थे बेचारे

मिसिर जी, कभी किसी का बुरा नहीं चेतते थे।'

बुढ़िया, जो चबूतरे पर आकर बैठ गई थी, धीरे-धीरे कोठरी के अन्दर चली और अन्दर से दरवाजा बन्द कर लिया।

शाम को लड़कों की कालसुन्दरी की कबड्डी जमी। लड़के बहुत चीखे चिल्लाये, लेकिन बुढ़िया न बोली तो न बोली। लेकिन बिना कुछ गालियाँ सुन लिए लड़कों का खेल कैसे पूरा होता, इसलिए एक लड़का—'बूढ़ा तमाखू लोगी' कहता हुआ उसकी कोठरी में घुसा। वह कोठरी की देहली की बगल में बैठी हुई थी—सिर लटकाये एक दम गंभीर। बुढ़िया का जवाब न पाने की वजह से लड़का कुछ सहम सा गया था। इसलिए एकाएक मुँह में मिट्टी झोंक देने की हिम्मत न पड़ी। उसने सिर झुका कर देखा तो बुढ़िया की लाल सूजी बेनूर आँखों में कुछ छलक आया था। लड़का चिल्लाता हुआ भागा—अरे बूढ़ा तो रो रही है।

सब लड़के बारी-बारी से झाँक कर देख गये कि बुढ़िया सचमुच रो रही है लेकिन किसी की निगाह उसके सूने हाथों पर न पड़ी।

उसने अपनी चूड़ियाँ तोड़ डाली थीं।

—:o:—

श्री शिवप्रसाद सिंह

जन्मकाल रचनाकाल

१६२६ ई० १६५१ ई०

कर्मनाशा की हार

काले साँप का काटा आदमी बच सकता है, हलाहल जहर पीने वाले की मौत रुक सकती है, किन्तु जिस पौधे को एकबार कर्मनाशा का पानी छू ले, वह फिर हरा नहीं हो सकता। कर्मनाशा के बारे में किनारे के लोगों में एक और विश्वास प्रचलित था कि यदि एक बार नदी बढ़ आये तो बिना मानुस की बलि लिये लौटती नहीं। हालाँकि थोड़ी ऊँचाई पर बसे हुए नई डीहवालों को इसका कोई खौफ न था; इसी से वे बाढ़ के दिनों में, गेरू की तरह फैले हुए अपार जल को देखकर खुशियाँ मनाते, दो-चार दिन की यह बाढ़ उनके लिए तबदीली बनकर आती, मुखिया जी के द्वार में लोग-बाग इकट्ठे होते और कजली-सावनी की ताल पर ढोलकें ठनकने लगतीं। गाँव के दुधमुहें तक 'ई बाढ़ी नदिया जिया लेके माने' का गीत गाते क्योंकि बाढ़ उनके किसी आदमी का जिया नहीं लेती थी। किन्तु पिछले साल अचानक जब नदी का पानी समुद्र के ज्वार की तरह उमड़ता हुआ, नई डीह से आ टकराया, तो ढोलकें बह चलीं, गीत की कड़ियाँ मुरझा कर होठों में पपड़ी की तरह छा गईं, सोखा ने जान के बदले जान देकर पूजा की, पाँच बकरों की दौरी भेंट हुई, किन्तु बढ़ी नदी का हौसला कम न हुआ। एक अन्धी लड़की, एक अपाहिज बुढ़िया बाढ़ की भेंट रहीं। नई डीह वाले कर्मनाशा के इस उग्र रूप से काँप उठे, बूढ़ी औरतों ने कुछ सुराग मिलाया। पूजा-पाठ कराकर लोगों ने पाप-शान्ति की।

एक बाढ़ बीती, बरस बीता। पिछले घाव सूखे न थे कि भादों के दिनों में फिर पानी उमड़ा। बादलों की छाँव में सोया गाँव भोर की किरण देखकर उठा तो सारा सिवान रक्त की तरह लाल पानी से घिरा था। नई डीह के वातावरण में

हौलदिली छा गई। गाँव ऊँचे अरार पर बसा था, जिस पर नदी की धारा अनवरत टक्कर मार रही थी, बड़े-बड़े पेड़ जड़-मूल के साथ उलट कर नदी के पेट में समा रहे थे, यह बाढ़ न थी, प्रलय का संदेश था, नई डीह के लोग चूहेदानी में फँसे चूहे की तरह भय से दौड़-धूप कर रहे थे, सबके चेहरे पर मुर्दनी छा गई थी।

'कल दीनापुर में कड़ाह चढ़ा था पाँड़े जी' ईसुर भगत हकलाते हुए बोला। कुएँ की जगत से बाल्टी का पानी लिए जगेसर पाड़े उतर रहे थे। घबड़ाकर बाल्टी सहित ऊपर से कूद पड़े। 'क्या कह रहे थे भगत, कड़ाह चढ़ा था, क्या कहा सोखा ने ?' चौराहे पर छोटी सी भीड़ इकट्ठी हो गई। भगत अपने शब्दों को चुमलाते हुए बोले—काशीनाथ की सरन, भाई लोगों, सोखा ने कहा कि इतना पानी गिरेगा कि तीन घड़े भर जायेंगे, आदमी, मवेशी की छय होगी, चारों ओर हाहाकार मच जायेगा, परलय होगी—परलय न होगी, तब क्या बरकत होगी ? हे भगवान जिस गाँव में ऐसा पाप-करम होगा वह बहेगा नहीं, तब क्या बचेगा ? माथ के लुग्गे को ठीक करती हुई धनेसरा चाची बोलीं, 'मैं तो कहूँ कि फुलमतिया ऐसी चुप काहे है। राम रे राम, कुतिया ने पाप किया, गाँव के सिर बीता। उसकी माई कैसी सतवन्ती बनती थी, आग लाने गई तो घर में जाने नहीं दिया, मैं तो तभी छनगी कि हो न हो दाल में कुछ काला है। आग लगे ऐसी कोख में। तीन दिन की बिटिया और पेट में ऐसी घनघोर दाढ़ी !

'कुछ साफ भी कहोगी भौजी' बीच में जगेसर पाँड़े बोले—'क्या हुआ आखिर...?'

'हुआ क्या, फुलमतिया राँड़ मेमना लेके बैठी है। विधवा लड़की बेटा वियाकर सुहागिन बनी है।'

'ऐं कब हुआ...सबकी आँखों में उत्सुकता के फफोले उभर आये। आगत भय से सबकी साँसें टँगी रह गईं। तभी मिर्चे की तरह तीखी आवाज में चाची बोलीं—'कोई आज की बात है ? तीन दिन से सौरी में बैठी है। डाइन पाप को छाती से चिपकाये है, यह भी न हुआ कि गर्दन मरोड़ कर गड़हे-गुच्ची में डाल दे।'

लोगों को परलय की सूचना देकर, हवा में उड़ते हुए आँचल को बरजोरी बस में करती चाची दूसेरे चौराहे की ओर बढ़ चलीं, गाँव का सारा आतंक, भय, पाप उनके पीछे कुत्ते की तरह दुम दबाये चले जा रहे थे। सबकी आँखों में नई डील का भविष्य था, रक्त की तरह लाल पानी में चूहे की तरह ऊभ-चूभ करते हुए लोग चिल्ला रहे थे, मौत का ऐसा भयंकर स्वप्न भी शायद ही किसी ने देखा था।

[२]

भैरो पाँड़े बैसाखी के सहारे अपनी बखरी के दरवाजे में खड़े बाढ़ के पानी का जोर देख रहे थे, अपार जल में बहते हुए साँप-बिच्छू चले जा रहे थे। मरे हुए जानवर की पीठ पर बैठा कौवा लहर के धक्के से बिछल जाता, भींगे चूहे पानी से बाहर निकलते तो चील झपट पड़ते। 'विचित्र दृश्य है'—पाँड़े न जाने क्यों बुदबुदाये। फिर मिट्टी की बनी पुरानी बखरी की ओर देखा। पाँड़े के दादा देस-दिहात के नामी पंडित थे, उनका ऐसा अकबाल था कि कोई किसी को कभी सताने की हिम्मत नहीं करता था। उनकी बनवाई है यह बखरी। भाग की लेख कौन टारे। दो पुश्त के अन्दर ही सभी कुछ खो गया, मुट्ठी में बन्द जुगुनु हाथ के बाहर निकल गया। आज से सोलह साल पहले माँ-बाप एक नन्हा लड़का हाथ में सौंपकर चले गये, पैर से पंगु भैरो पांड़े अपने दो बरस के छोटे भाई को कन्धे से चिपकाये असहाय, निरवलम्ब खड़े रह गये—धन के नाम पर बाप का कर्ज मिला, काम-धाम के लिए दुधमुँहे भाई की देख-रेख, रहने के लिए बखरी जिसे पिछली बाढ़ के धक्कों ने एकदम जर्जर कर दिया है।

'अब यह भी न बचेगी'—पाँड़े के मुँह से भवितव्य फूट रहा था जिसकी भयंकरता पर उन्होंने जरा भी खयाल करना जरूरी नहीं समझा। दरारों से भरी दीवालें उनके खुरदरे हाथों के स्पर्श से पिघल गईं, वर्षा का पानी पसीज कर हाथों में आँसू की तरह चिपक गया।

सनसनाती हवा गाँव के इस छोर से उस छोर तक चक्कर लगा रही थी। 'विधवा फुलमतिया को बेटा हुआ है, बेटा—कुतिया के पाप से गाँव तबाह हो रहा है, राम राम......ऐसा पाप......भैरो पांड़े के कानों में आवाज के स्पर्श

से ही भयंकर पीड़ा पैदा हो गई। बैसाखी उनके शरीर के भार को सँभाल न सकी और वे धम्म से चौकठ पर बैठ गये। आज के धक्के से कुहनी छिल गई, चिनचिनाती कुहनी का दर्द उनके रोंये-रोंये में विध रहा था, और पाँड़े इस पीड़ा को होठों के बीच दबाने का प्रयत्न कर रहे थे!

'सब कुछ गया'—वे बुदबुदाये। कर्मनाशा की बाढ़ उनकी इस जर्जर बखरी को हड़पने नहीं, उनके पितामह की उस अमूल्य प्रतिष्ठा को हड़पने आई है जिसे अपनी इस विपन्न अवस्था में भी पाँड़े ने धरती पर नहीं रखा। दुलार से पली वह प्रतिष्ठा सदा उनके कन्धे पर चढ़ी रही। 'मैं जानता था कि यह छोकरा इस खानदान का नाश करने आया है'–पाँड़े की आँखो में उनके छोटे भाई की तस्वीर नाच उठी। १८ वर्ष का छरहरा पानीदार कुलदीप जिसकी आँखों में भैरो की माँ की छाया तैरती नजर आती, उसके काले काकुल को देखकर मुखिया जी कहते कि इस पर भैरो पाँड़े की दादा की लौछार पड़ी है। पाँड़े हो-हो कर हँस पड़ते। 'जा रे कुलदीप', बरामदे में बैठ कर भैरो पाँड़े मन में बुदबुदाते—तेरे आँख में सौ कुन्ड बालू, हरामी कहीं का, लड़के पर नजर गड़ाता है, कुछ भी हुआ इसे तो भगवान् कसम तेरा गला घोट दूँगा, बड़ा आया मुखिया जी' फिर जरा बढ़ के बोलते—क्या लौछार पड़ेगी मुखिया जी, दादा के पास तो पाँच पछाहीं गायें थीं, एक से एक, दो थान दूह लें तो पँचसेरी बाल्टी भर जाती थी। यहाँ तो इस लौंडे को दूध पचता नहीं। फिर साल-बारह महीने हमेशा मिलता भी कहाँ है हम गरीबों को?

'अब वह पुराने जमाने की बात कहाँ रही पांड़ेजी' मुखिया कहता और अपने संकेतों से शब्दों में मिर्चे की तिताई भर कर चला जाता। काले काले काकुलों वाला नवजवान कुलदीप उसे फूटी आँखों नहीं सुहाता, किन्तु भैरो पाँड़े के डर से वह कुछ कह न पाता।

भैरो पाँड़े दिन भर बरामदे में बैठकर रुई से बिनौले निकालते, तूँगते, सूत तैयार करते और अपनी तकली पर, नचा नचाकर जनेऊ बनाते, जजमानी चलाते, पत्रा देख देते, सत्यनारायण की कथा बाँच देते, और इससे जो कुछ मिलता कुलदीप की पढ़ाई, उसके कपड़े-लत्ते आदि में खर्च हो जाता।

'यह सब कुछ मरमर कर किया था इसी दिन को ?' पाड़े की आँखों में प्यास छा गई, लड़के ने उन्हें किसी ओर का नहीं रखा। आज यहाँ आफत मची है, अपने पता नहीं कहाँ भाग कर छिपा है।

'राम जाने कैसे हो' सूखी आँखों से दो बूदें गिर पड़ी, 'अपने से तो कौर भी नहीं उठा पाता था, भूखों बैठा होगा कहीं, बैठे-मरे हम क्या करें।' पाड़े ने बैसाखी उठाई। बगल की चारपाई तक गये और धम्म से बैठ गये। दोनों हाथ में मुह छिपा लिया और चुप लेटे रहे।

[३]

पूरबी आकाश पर सूरज दो लट्ठे ऊपर चढ़ आया था। काले-काले बादलों की दौड़-धूप जारी थी, कभी-कभी हल्की हवा के साथ बूदें बिखर जातीं। दूर किनारों पर बाढ़ के पानी की टकराहट हवा में गूँज उठती। भैरों पाँड़े उसी तरह चारपाई पर लेटे आँगन की ओर देख रहे थे। बीचों बीच आँगन के तुलसी-चौरा था जो बरसात के पानी से कट कर खुरदरा हो गया। पुराने पौधे के नीचे कई मासूम भरकती पत्तियों वाले छोटे-छोटे पौधे लहराने लगे थे। वर्षा की बूदें पुराने पौधे की सख्त पत्तियों पर टकरा कर बिखर जातीं, टूटी हुई बूँदों की फुहार धीरे से मासूम पौधों पर फिसल जाती, कितने आनन्द-मग्न थे वे मासूम पौधे। पाड़े की आँखों के सामने कातिक की वह शाम भी नाच उठी। दो बरस पहले की बात होगी। शाम के समय जब वे बरामदे में लेटे थे, फुलमती आई, अपनी बाल्टी माँगने, सुबह भैरों पाँड़े ले आये थे किसी काम से।

'कुलदीप, जरा भीतर से बाल्टी दे देना।' कहा था पाँड़े ने। सफेद साड़ी में लिपटी-लिपटाई गुड़िया की तरह फुलमती आंगन में इसी चौरे के पास आकर खड़ी हो गई थी। और बाल्टी उठाने के लिए जब कुलदीप झुका था तो फुलमती भी अपने दोनों हाथों से आँचल का खूँट पकड़ कर तुलसी जी की बन्दना करने के लिए झुकी थी। कुलदीप के झटके से उठने पर वह उसकी पीठ से टकरा गई थी अचानक। तब न जाने क्यों दोनों मुस्करा उठे थे। भैरो पाँड़े क्रोध से तिल-मिला गये थे। वे गुस्से के मारे चारपाई से उठे तो देखा कुलदीप बाल्टी लिये खड़ा था और फुलमती तुलसी-चौरे पर सिर रखकर प्रार्थना कर रही थी।

न जाने क्यों पाँड़े की आंखें भर आईं। बरसात के दिनों के बाद इस खुरदरे चौरे को उनकी माँ पीली मिट्टी के लेवन से सँवार देतीं, फिर श्वेत बलुई माटी से पोत कर सफेद कर देतीं। शाम को सूखे हुए चबूतरे पर घी के दीपक जला कर माथाटेककर वे लड़कों के मंगल के लिए विनय करतीं। तब वे भी ऐसे ही झुक-कर आशीर्वाद मांगती और पाँड़े बगल में चुपचाव खड़े दियों का जलना देखा करते थे।

पाँड़े को सामने खड़ा देख कुलदीप हड़बड़ाया और फुलमती बाल्टी लेकर चुपचाप बाहर चली गई। पाँडे के चेहरे पर एक विचित्र भाव था, जिसे सँभाल सकने की ताकत उन दोनों के मन में न थी, और दोनों ही भय की कम्पन लिये इधर-उधर भाग खड़े हुए।

बहुत दिनों तक पाँड़े के चेहरे पर अवसाद का यह भाव बना रहा। कुल-दीप डर के मारे उनकी ओर देख नहीं पाता, न तो पहले जैसी जिद कर सकने की हिम्मत होती न तो हँसी के कलरव से घर के कोने-कोने को गुंजान बनाने का साहस। पाड़े ने अपने दिल को समझाया, इसे लड़कों का क्षणिक खिलवाड़ समझा। सोचा धरती की छाती बड़ी कड़ी है। ठेस लगते ही सारी गुलाबी पंखुरियाँ बिखर जायेंगी, दोनों को दुनियाँ का भाव-ताव मालूम हो जायेगा।

पाँड़े के रुख से फुलमती भी संशक हो गई थी, वह इधर कम आती। कुलदीप के उठने-बैठने, पढ़ने-लिखने पर पाँड़े की कड़ी नजर थी। वह किताब खोलकर बैठता तो दिये की टेम में श्वेत वस्त्रों में लिपटी फुलमती खड़ी हो जाती, पुस्तक के पन्ने खुले रह जाते और वह एकटक दिये की लौ की ओर देखता रह जाता। पाँड़े को उसकी यह दशा देखकर बड़ा क्रोध आता, पर कुछ कहते नहीं।

'कुलदीप'—एक बार टोक भी दिया था—क्या देखते रहते हो इस तरह, तबीयत तो ठीक है न ?

'जी'—इतना ही कहा था कुलदीप ने, और फिर पढ़ने लग गया था। दिये की टेम कुलदीप के चेहरे पर पड़ रही थी, जिसके पीछे घने अन्धकार में लेटे

पाँड़े क्रोध, मोह और न जाने कितने प्रकार के भावों के चक्कर में झूल रहे थे। उन्हें फूलमती पर बेहद गुस्सा आता। टीमल मल्लाह की यह विधवा लड़की मेरा घर चौपट करने पर क्यों लगी है। पता नहीं कहाँ से वह-दह कर यहां आकर बस गये। कुलच्छनी, अब क्या चाहती है, बाप मरा, पति मरा, अब न जाने क्या करेगी। जाने कौन सा मंत्र पढ़ दिया। यह कबूतर की तरह मुँह फुलाये बैठा रहता है। न पढ़ता है न लिखता है। हँसना, खेलना, खाना सब भूल गया। पाँड़े चारपाई से उतर कर इधर-उधर चक्कर लगाते रहे। पर कुछ निर्णय न कर सके।

समय बीतता गया। कुलदीप भी खुश नजर आता। हँसता-खेलता। पाँड़े की छाती से चिन्ता का भारी पत्थर खिसक गया। एक बार फिर उनके चेहरे पर हँसी की आभा लौटने लगी। रुई, सूत का काम फिर शुरू हुआ। गाँव के दो-चार उठल्ले-निठल्ले आकर बैठ जाते, दिन गपाष्टक में बीत जाता। सुरती मल-मल ताल ठोंकते, और पिच् से थूँककर किसी को गाली देते या निन्दा करते। इन सब चीजों से वास्ता न रखते हुए भी पाँड़े सुनते जाते उनका मन तो चक्कर खाती तकली के साथ ही घूमता रहता, हूँ हाँ करते जाते और निठल्लों की बातों में सन्नाटे को किसी तरह झेल ले जाते।

पाँड़े उसी चारपाई पर लेटे थे। अन्तर इतना ही था कि दिन थोड़ा और ऊपर चढ़ आया था लहरों की टकराहट थोड़ी और तेज हो गई थी, रक्त की तरह खौलता हुआ लाल पानी गाँव के थोड़ा और निकट आ गया था। उनकी नशें किसी तीव्र व्यथा से जल रहीं थीं। 'पाँडे के वंश में कभी ऐसा नहीं हुँआ था'—वे फुसफुसाये—बगल की दीवार में ताखे पर रामायन की गुटका रखी थी, उन्होंने उठायी, एक जगह लाल निशान लगा था। पिछले दिनों कुलदीप रात में रामायन पढ़ा करता था। जब से वह गया, आज तक गुटका खुली नहीं। पाँड़े के हाथ काँपे, गुटका उलट कर उनकी छाती पर गिर पड़ी। उठा कर खोला, वही लाल निशान—

कह सीता भा विधि प्रतिकूला,
मिलइ न पावक मिटइ न सूला।

सुनहुँ विनय मम विटप असोका ,
सत्य नाम करु हरु मम सोका ॥

पाँड़े की आँखें भरभरा आईं । झरझर आँसू गिरने लगे—हिचकी लेकर वे टूट पड़े । 'यह चुड़ैल मेरा घर खा गई'–शब्द फूटे, किन्तु भीतर घुमड़ कर रह गये । गाली देने से ही क्या होगा अब, इतने तक रहता तो कोई बात थी, आज उसे बच्चा हुआ है, कहीं कह दे कि लड़का कुलदीप का है तो...नहीं, नहीं, ऐसा नहीं हो सकता', पाँडे बड़बड़ाये और अपने बालों को मुट्ठियों से कसकर खींचा, जैसे इनकी जड़ में पीड़ा जम गई है, खीचने से थोड़ी राहत मिलेगी । वे उठना चाहते थे, किन्तु उठ न सके । आँखों के सामने चिनगारियाँ टूटने लगीं । उन्हें आज मालूम हुआ कि वे इतने कमजोर हो गये हैं । कुलदीप के जाने के बाद से आज तक उनका जीवन अव्यवस्था की एक कहानी बनकर रह गया है । चार-पाँच महीने से कुलदीप भागा है, पहले कई दिनों तक वे जरूर बहुत बेचैन थे, किन्तु समय ने उस दुःख को भुलाने में मदद की थी । आज फिर कुलदीप उनकी आँखों के सामने आकर खड़ा हो गया । बीती घटनाएं एक एक कर आँखों के सामने नाचने लगीं ।

फागुन का आरंभ था । मुखिया जी की लड़की की शादी थी । गाँव भर में खुशी छाई रहती, जैसे सबके घर शादी होने वाली हो । शादी के दिन तो गाँव वालों में बनने-सँवरने की होड़ लग गई । सब लोग पट्टी कटा रहे थे, शौकीनों की पट्टी चार-चार अंगुल चौड़ी, छूरे से बनी थी । कुएँ की जगत पर दोपहर के दो घंटे पहले से भीड़ लगी थी, और अब दो बजने को आये, साबुन लग रही थी, पैरों में जमी मैल सिकड़े से रगड़-रगड़ कर छुड़ाई जा रही थी ।

बारात आई । द्वार-पूजा की शोभा का क्या कहना ? बनारस की रंडी नाचने आई थीं । छैल छबीलों की भीड़ जम गई थी । शाम को महफिल जमी । मुखिया जी का दरवाजा आदमियों से खचाखच भरा था । एक ओर गली में सिमट कर औरतें बैठी हुई थी । गाँव की लड़कियाँ, बूढ़ियाँ और कुछ मनचली बहुएँ । बाईजी आईं । अपना ताम-जाम फैला कर बैठ गईं । सरंगी लेकर बूढ़े मिया ने

किन किन किया, बाई जी ने अलाप के बाद गाया—

नीच ऊँच कुछ बूझत नाहीं, मैं हारी समझाय।
ये दोनों नैना बड़े बेदरदी दिल में गड़ि गये हाय ॥

महफिल से बहुत दूर, गाँव के छोर पर आमों के पेड़ों पर फागुन के पीले चाँद की छाया फैली थी ? जिसके नीचे चितकबरे को चाम की तरह फैली चाँदनी में एक प्रश्न उठा; 'मुखिया जी की महफिल में पतुरिया ने जो गीत गाया था, कितना सही था—

'कौन सा गीत'

'ये दोनों नैना बड़े बेदरदी······'

'धत्'

'उस दिन मैं बड़ी देर तक इन्तजार करता रहा'

'मेरी माँ के सर में दर्द था'

'कौन है ?' जोर की आवाज गूँज उठी थी

पास की गली में एक छाया खो गई थी।

'कौन है ?' फिर आवाज आई थी।

'मैं हूँ कुलदीप'

'यहाँ क्या कर रहे हो।'

'नदी की ओर चला गया था।'

'इस समय ?

'पेट में दर्द था।'

क्रोध की हालत में भी भैरो पाँडे मुस्करा उठे थे—झूठे, पेट में दर्द था कि आँख में। कुलदीप का सिर लज्जा से झुक गया था। उसे लगा जैसे एक क्षण का यह भयप्रद जीवन उसकी आत्मा पर सदा के लिए छा जायेगा। एक क्षण के के लिए बोला हुआ यह झूठ उसके सारे जीवन को झूठ साबित कर देगा। एक क्षण के लिए यह झुका माथा फिर कभी न उठ सकेगा। वह झूठ के इस पर्दे को फाड़ डालना चाहता था, किन्तु···'कुलदीप' भैरो पाँडे ने आहिस्ते-आहिस्ते कहा—तुम गलत रास्ते पर पाँव रख रहे हो बेटा, तुमने कभी अपने, बाप-दादों की

इज्जत के बारे में भी सोचा है ? बड़े पुण्य के बाद इस घर में जन्म मिला है भाई, इसे कभी मत भूलना कि अच्छे घर में जन्म लेने से कोई बहुत बड़ा काम नहीं हो जाता, किन्तु इस अवसर को गलत कह कर नीचे गिरने से बड़ा पाप और कोई नहीं है।' कुलदीप को लगा कि तीखे काँटों वाली कोई जीवित मछली उसके गले में फँस गई, गरदन को चीरती हुई यदि वह निकल जाये तो भी गनी-मत,—किन्तु यह असह्य पीड़ा तो नहीं सही जाती और न जाने क्यों वह हिचकियों में फूट-फूट कर रो उठा था। भाई के मन की पीड़ा की कल्पना भी उसके लिए कष्ट कर थी, किन्तु उसकी आत्मा अपने सम्पूर्ण भाव से जिस वस्तु को वरेण्य समझती है, उसे वह एकदम ही व्यर्थ कैसे कह दे ? जिसकी छाया में न जाने क्यों उसे एक अजाने आनन्द का अनुभव होता है, उसे कालिख कह सकना उसके वश की बात नहीं थी, और इस कष्ट के भार को उसकी आँखें सँभाल नहीं सकीं। भैरो पाँड़े भी भाई से लिपट गये थे। उसकी पीठ सहला रहे थे और उसे बार-बार चुप हो जाने को कह रहे थे, 'यदि कोई देख ले' तो, उसके मन में आया और वे कुलदीप को जल्दी-जल्दी खींचते हुए एक ओर चले गये।

आँसुओं में जो पश्चाताप उमड़ता है, वह दिल की कलौंज को माँज डालता है। पाँड़े ने सोचा था कि कुलदीप अब ठीक रास्ते पर आ जायेगा। उसके वंश की मर्यादा अपमान के तराजू पर चढ़ने से बच जायेगी, भूखों रह कर भी पाँड़े ने जिस इज्जत के बिरवे को खून से सींच कर तरोताजा रखा है उस पर किसी के व्यंग-कुठार नहीं चलेंगे।। किन्तु एक महीना भी नहीं बीता कि कुलदीप उसी रास्ते पर चल पड़ा। छोटे भाई के इस कार्य को छिपकर देखने की पापाग्नि से भैरो पाँड़े अपनी आत्मा को जलते हुए देखते, किन्तु वे विवश थे।

चैत के दिनों में गर्मी से जली-तपी कर्मनाशा किनारे के नीचे चिपक गई थी। नदी के पेट में दूर तक फैले हुए लाल बालू का मैदान, चाँदनी में सीपियों के चमकते हुए टुकड़े, सामने के ऊँचे अरार पर घन-पलाश के पेड़ों की आरक्त पातें, बीच में घूग्घूं चाहों, और जल विहार करने वाले पक्षियों का स्वर······ कगार से नदी तीर तक बने हुए छोटे बड़े पैरों के निशानों की दो पंक्तियाँ··· सिर्फ दो।

'तुम मुझे मझधार में लाकर छोड़ तो नहीं दोगे ।' घुटन और शंका में खोये हुए धीमे स्वर । श्यामा की तीरती दर्दभरी आवाज ।

एक चुप्पी, फिर हकलाती आवाज, मैं अपना प्राण दे सकता हूँ, किन्तु······ तुमको···कभी नहीं······

चाँदनी की झीनी परतें सघन होती जा रही थीं, सुनसान किनारे पर भटकी हवा की सनसनाहट में आवाजों का अर्थ खो जाता, कभी हल्के हास्य की नर्म ध्वनि, कभी आक्रोश के बुलबुले कभी चंचला की तरंग कभी सिसकियों की सरसराहट······

भैरों पाँड़े एक बार चाँदनी के इस पवित्र आलोक में अपनी क्रूरता और निर्ममता पर विचार करने के लिए रुक गये । तो क्या आज तक का उनका सारा प्रयत्न निष्फल था ? क्या वे असाध्य को संभव बनाने का ही प्रयत्न करते रहे ? एक क्षण के लिए भैरों पाँड़े ने सोचा–काश फुलमती अपनी ही जाति की होती, कितना अच्छा होता वह विधवा न होती······तुलसी चौरे की वन्दना पाँड़े के मस्तिष्क में चन्दन के गंध की तरह छा गई । उसका रूप, चाल-चलन संकोच सब कुछ किसी को भी शोभा देने लायक था । एक क्षण के लिए उनकी आँखों के सामने सफेद साड़ी में लिपटी फुलमती की पतली-दुबली काया हाथ जोड़ कर खड़ी हो गई, जैसे वह अँचल फैलाकर आशीर्वाद माँग रही हो । भैरों पाँड़े विजड़ित खड़े थे, विमूढ़ ।

'यह असंभव है' पांड़े ने वैशाखी सँभाली, और नीचे की ओर लपके ।

'कुलदीप'–बड़ी कर्कश आवाज थी पांड़े की ।

दोनों सिर झुकाये सामने खड़े थे, आज पहली बार पाप की साक्षी में दोनों समवेत दिखायी पड़े थे । पाँड़े फिर एक क्षण के लिए चुप हो गये ।

'मैं पूछता हूँ, यह सब क्या है' पाँड़े चिल्लाये, 'इतने निर्लज्ज हो तुम दोनों' पाँड़े बढ़कर सामने आये, फुलमती की ओर मुँह फिरा कर बोले ', इसकी जिन्दगी क्यों बिगाड़ना चाहती है ? क्या तू नहीं जानती कि तू जो चाहती है वह स्वप्न में भी हो सकता, कभी नहीं; कभी नहीं ।'

फुलमती चुप थी, पाँड़े दूने क्रोध से बोले, चुप क्यों है चुड़ैल, बोलती क्यों नहीं?

'मैं क्यों इनकी जिन्दगी बिगाड़ूँगी दादा'–वह सहसा एक दम निचुड़ गई, 'मैंने तो इन्हें कई बार मना किया.........।'

'कुलदीप' पाँड़े दहाड़े, 'सीधे रास्ते पर आ जाओ, अच्छा होगा। तुमने भैरो का प्यार देखा है क्रोध नहीं; जिन हाथों से मैंने पाल-पोस कर बड़ा किया किया, उसी से तेरा गला घोंटते मुझे देर न लगेगी।'

'दादा......कुलदीप हकलाया, हम दोनों...

'पापी, नीच...' भैरो पाँड़े के हाथ की पाँचों अगुलियाँ कुलदीप के चेहरे पर उभर आइं, 'मैं सोचता था तू ठीक हो जायेगा'—पाँड़े क्रोध से काँप रहे थे लेकिन नहीं, तू मेरी हत्या करने पर तुल ही गया है—वे फुलमती की ओर घूम कर चिल्लाये—क्या खड़ी है डायन, भाग नहीं तो तेरा गला घोंट कर इसी पानी में फेंक दूँगा—

अन्धड़ को पीते हुए तृषित साँप जैसा स्वर—यह सब मैंने किया था। पाँड़े चारपाई पर घायल साँप की तरह तड़फड़ाते हुए बुदबुदाये। उनकी छाती से सरक कर रामायण की गुटका जमीन पर गिर पड़ी और उस पवित्र आराध्य वस्तु को उठाने का उन्हें ध्यान न रहा। कुलदीप दूसरे ही दिन लापता हो गया। पाँड़े अपनी बैसाखी के सहारे दिन भर गाँव गिराँव की खाक छानते फिरते। तीन दिन-रात बिना अन्न जल के वे पागल की तरह कुलदीप को ढूँढ़ते फिरे, किन्तु वह नहीं मिला। थक कर, हार कर पाँड़े वापस आ गये। बाप-दादों की इज्जत का प्रतीक इतनी लम्बी विशाल बखरी—जिसकी दीवालें मुँह दबाये शान्त, पुजारी के तप की तरह अडिग खड़ी थीं, किन्तु कितनी सुनसान, डरावनी निष्प्राण पिंजर की तरह लगती थी यह बखरी। चौकठ पर पैर रहते हुए पाँड़े की आत्मा कराह उठी—चला गया!' वैशाखी रखकर पाँड़े आँगन के कोने में बैठ गये—अब वह कभी नहीं लौटेगा।

रात में उन्हें बड़ी देर तक नींद नहीं आई। कुलदीप को बचपन से लेकर आज तक उन्होंने कभी अपनी आँख की ओट नहीं होने दिया। छुटपन से लेकर

आज तक खिलाया, पिलाया, पाला-पोसा, और आज लड़का दगा देकर निकल गया। पाँड़े अधरों की मेड़ के पीछे बिथा के शैलाब को रोकने का असफल प्रयत्न करते रहे।

भोर होने में देर थी, उनींदी आँखें कड़ुआ रहीं थीं, किन्तु मन की जलन के आगे उस दर्द का क्या मोल। पाँड़े उठकर टहलने लगे। सामने की बँसवार के भीतर से पूरबी क्षितिज पर ललछौंहाँ उजास फूटने लगा था। गली की मोड़ से कच्चे मकान के भीतर से जाँत की घर्र-घर्र गूंज रही थी। एक घुमड़ता गरगराहट का स्वर, जिसके पीछे जाँतवाली के कंठ की व्यथा की एक सुरीली तान टूट-टूट कर कौंध उठती थी।

मोहे जोगिनी बनाके कहाँ गइले रे जोगिया

पाँड़े एक क्षण अवाक् होकर इस दर्दीले गीत को सुनते रहे। पियासे, भूले, भटके—थके हुए स्वर—पाँड़े की आत्मा में जैसे समान वेदना को पहचान कर उतरते चले जा रहे हों।

'अब रोने चली है चुड़ैल' पांड़े पागल की तरह बड़बड़ाते रहे—रो-राकर मर, मैं क्या करूँ।

बाढ़ के लाल पानी में सूरज डूब रहा था, पाँड़े वैशाखी के सहारे आकर दरवाजे पर खड़े हुए, नदी की ओर से आदमियों की भीड़ खड़ी थी। वे धीरे धीरे उधर ही बढ़े। सामने तीन चार लड़के अरहर की खूटियाँ गाड़ कर पानी का बढ़ाव नाप रहे थे।

'क्या कर रहा है रे छबीला' पांड़े बलात् चेहरे पर मुस्कराहट का भाव लाकर बोले—

'देखता नहीं लँगड़ा, बाढ़ रोक रहे हैं।'

पाँड़े मुस्कराये—जैसा बाप वैसा बेटा। तेरा बाप भी खूँटिया गाड़ कर कर्मनाशा की बाढ़ रोकना चाहता है।

'वह भीड़ कैसी है रे छबीले'

'नहीं जानते, फुलमती को नदी में फेंक रहे हैं, उसके बच्चे को भी, उसने पाप किया है' छबीला फिर गंभीर खड़े पाँड़े से सटकर बोला—क्यों पाँडे चाचा

जान लेकर बाढ़ उतर जाती है न ।'

'हाँ, हाँ' पाँड़े आगे बढ़े । बोतल की टीप खुल गई थी। पाँड़े के मन में भयानक प्रेत खड़ा हो गया । 'चलो, न रहेगी बाँस, न बाजेगी बाँसुरी। हुँ, चली थी पाँड़े के वंश में कालिख पोतने । अच्छा ही हुआ कि वह छोकरा भी आज नहीं है......।'

फुलमती अपने बच्चे को छाती से चिपकाये टूटते हुए अरार पर एक नीम के तने से सटकर खड़ी थी । उसकी बूढ़ी माँ जार-बेजार रो रही थी, किन्तु आज जैसे मनुष्य ने पसीजना छोड़ दिया था, अपने-अपने प्राणों का मोह इन्हें पशु से भी नीचे उतार चुका था, कोई इस अन्याय के विरुद्ध बोलने की हिम्मत नहीं करता था । कर्मनाशा को प्राणों की बलि चाहिये 'बिना प्राणों की बलि लिये बाढ़ नहीं उतरेगी......फिर उसी की बलि क्यों न दी जाय, जिसने पाप किया...... पर साल जाने के बदले जीव दी गईं, पर कर्मनाशा दो बलि लेकर ही मानी... ...त्रिशंकु के पाप की लहरें किनारों पर साँप की तरह फुफकार रही थीं। आज मुखिया का विरोध करने का किसी में साहस न था । उसके नीचता के कार्यों का ऐसा सामर्थ्य न कभी न हुआ था। 'पता नहीं किस बैर का बदला ले रहा है बेचारी से ।' भीड़ में कई इस तरह सोचते, ऐसा तो कभी नहीं हुआ था, किन्तु कौन बोले, सब मुँह-सिये खड़े थे......।

'तुम्हारी क्या राय है भैरों पाँड़े' मुखिया बोला, सारे गाँव ने फैसला कर दिया—एक के पाप के लिए सारे गाँव को मौत के मुँह में नहीं झोंक सकते। जिसने पास किया है उसका दंड भी वही भोगे.........

एक वीभत्स सन्नाटा । पाँड़े ने आकाश की ओर देखा, आगे बढ़े, फुलमती भय से चिल्ला उठी । पाँड़े ने बच्चे को उसकी गोद से छीन लिया । मेरी राय पूछते हो मुखिया जी ? तो सुनो, कर्मनाश की बाढ़ दुधमुहे बच्चे और एक अबला की बलि देने से नहीं रुकेगी, उसके लिए तुम्हें पसीना बहाकर बाँधों को ठीक करना होगा......कुलदीप कायर हो सकता है, वह अपने बहू-बच्चे को छोड़-कर भाग भाग सकता है, किन्तु मैं कायर नहीं हूँ; मेरे जीते जी बच्चे और उसकी माँ का कोई बाल भी बाल भी बाँका नहीं कर सकता......समझे ।

'तो यह है बूढ़े पाँड़े जी की बहू' मुखिया व्यंग से बोला—पाप का फल तो भोगना ही होगा पाँड़े जी, समाज का दंड तो झेलना ही होगा।

'जरूर भोगना होगा मुखिया जी······मैं आपके समाज को कर्मनाशा से कम नहीं समझता। किन्तु, मैं एक-एक के पाप गिनाने लगूं तो यहाँ खड़े सारे लोगों को परिवार समेत कर्मनाशा के पेट में जाना पड़ेगा······है कोई तैयार जाने को······?

लोग अवाक् पाँड़े की ओर देख रहे थे जो अपने कंधे से छोटे बच्चे को चिपकाए अपनी बैशाखी के सहारे खड़े थे, पत्थर की विशाल मूर्ति की तरह उन्नत, प्रशस्त, अटल······कर्मनाशा के लाल पानी में सूरज डूब रहा था···।

जिन उद्धत लहरों की चपेट से बड़े-बड़े विशाल पीपल के पेड़ धराशायी हो गये थे, वे एक टूटे नीम के पेड़ से टकरा रही थीं, सूखी जड़ें जैसा सख्त चट्टान की तरह अडिग थीं, लहरें टूट-टूट कर पछाड़ खाकर गिर रही थीं। शिथिल······थकी······पराजित········।

—:०:—

श्री लाडली मोहन

जन्मकाल	रचनाकाल
१६२७ ई०	१६५२ ई०

दूसरा ब्याह

सोलह वर्ष की आयु में जब मालती विधवा हो गई तो उसके माँ-बाप ने उसका दूसरा ब्याह कर देना ही उचित समझा। परन्तु मालती यही कहती रही, यदि मेरा दूसरा ब्याह किया गया तो मैं जहर खा लूँगी।

मालती के पति को संसार छोड़े अभी अधिक दिन नहीं हुए थे, इसलिये मृत पति की याद में रो-रो कर दिन काट देना ही उसकी दिनचर्या थी। उसके आले में एक फोटो रखा था; बस उसकी पूजा किया करती थी। एक समय खाना खाती थी। मिठाई छोड़ दी थी। वह सभी वस्तुएँ जो उसके पति को बहुत अच्छी लगती थीं, मालती नहीं खाती थी।

फिर अचानक न जाने कैसे एक दिन उसे यह जान पड़ा कि मोहल्ले की अन्य सधवाऐं उसके पास आने में हिचकती हैं। एक और दिन यह पता लगा कि इसी घर की रहनेवाली उसकी प्रिय भाभी भी सुबह के समय उसकी सूरत देखना अनुचित समझती हैं। डेढ़ साल तक इसी प्रकार की न जानें कितनी चोटें खाकर उसने हथियार डाल दिये और रोते हुए माँ से बोली, 'मेरा ब्याह कर दो माँ, नहीं मैं मर जाऊँगी।'

फिर वह आले के पास पहुँच कर हाथ जोड़ कर बोली—'मेरा कसूर माफ कर देना नाथ! मैं तुम्हारे पास नहीं आ सकी और अब और दूर जा रही हूँ, पर तुम्हें मेरे मन से कोई नहीं हटा सकेगा। मैं तुम्हारे चरणों की कसम खाती हूँ कि उस आदमी में भी तुम्हारी ही मूर्ति देखूँगी।'

मालती के पिता पैसे वाले थे, इसलिये उन्होंने एक बहुत ही सुशील, पढ़े लिखे क्वाँरे लड़के से मालती का ब्याह कर दिया।

ब्याह के बाद पहले ही दिन मालती के पति राममोहन ने मालती से कहा, 'प्रिये, यह स्वाभाविक है कि तुम मन ही मन अपने उनसे मेरी तुलना करोगी और हो सकता है कि मुझ में तुम्हें उनके मुकाबले में कुछ कमियाँ नजर आयें। पर तुम्हारे प्रति मेरा प्रेम उनसे किसी भी प्रकार कम न होगा। इतना विश्वास रखना।'

उत्तर में मालती ने रोते हुए अपना सिर राममोहन के कन्धे से लगा दिया था।

राममोहन ने और आगे कहा—'मैं जानता हूँ कि तुम दुःखी होगी, इसलिये सदा यही प्रयत्न करूँगा कि तुम धीरे-धीरे यह दुःख भूल जाओ।'

डेढ़ साल बाद ऐसे स्नेह भरे वाक्य सुनकर मालती को बड़ा सुख मिला था।

मालती इस ब्याह में अपने साथ बहुत सा सामान लाई थी। बहुत सी साड़ियाँ थीं जिन पर पहले पति का नाम टँका हुआ था। बहुत सी किताबें थीं जिन पर भी वही नाम लिखा हुआ था। राममोहन ने उन सबको बड़ी निराशा से देख कर मन ही मन कहा था—'इन नामों को मिटने में अभी बहुत देर है।'

फिर एक दिन राममोहन को पता चला कि मालती मिठाई नहीं खाती। कारण समझने में उसे देर नहीं लगी। एक और दिन मालूम हुआ कि मालती रेडियो के दर्द भरे गीत सुनकर अक्सर छिप-छिप कर रोया करती है। राममोहन को बड़ा दुःख हुआ।

बहुत ही पीड़ित होकर एक दिन वह मालती से बोला, 'यदि ऐसा ही था तब तुम्हें ब्याह नहीं करना चाहिये था।'

मालती ने कोई उत्तर नहीं दिया।

राममोहन की समस्त भावनाएँ अवगुंठन से बाहर निकलने के लिए आतुर हो रही थीं। उसने आगे कहा—'ब्याह से पहले मैंने अपने जीवन के प्रति भी कुछ मादक कल्पनाएँ की थीं, पर वह कल्पनाएँ वास्तविकता में न बदल सकीं। ब्याह के बाद एक बार भी खुल कर न हँस सका। मालती, सभी की तरह मैं भी हृदय रखता हूँ, कोई पत्थर का आदमी नहीं हूँ।'

उत्तर मालती ने आँसू भरी आँखों के साथ पैर छू कर दिया था—'माफ कर

दो नाथ, जब आप नहाते हैं, कपड़े उतारते हैं, आफिस जाते हैं, तभी आपको देख कर मुझे उनकी याद आ जाती है। बहुत भुलाने का प्रयत्न करती हूँ, पर नहीं रह पाती। प्रयत्न करूँगी कि आगे से ऐसा न हो।'

राममोहन को लगा कि जैसे किसी ने उसके गाल पर चाँटा मार दिया हो।

कुछ दिन बाद की बात है। राममोहन को पता लगा कि आज मालती ने रोटी नहीं खाई है। कारण पूछने पर मालती ने केवल इतना कहा—'मुझे भूख नहीं है।'

'भूख न होने का तो कोई कारण होगा। क्या तबियत खराब है?'

शाम तक कहीं जाकर राममोहन को कारण का पता लगा कि उस दिन दूसरी बरसी थी।

रात को राममोहन मालती से बोला—'तुम्हें शरम नहीं आती। मेरी आँखों के सामने ही एक दूसरे मरे हुए आदमी के लिए रोती हो।'

मालती मुँह से कुछ नहीं बोली।

'फिर कभी तुम्हें रेडियो से गाना सुनकर रोते हुए देखा तो अच्छा न होगा। बताये देता हूँ।'

मालती चुपचाप पति के पैर के तलुए सहलाती रही। 'और हाँ, कल से तुम्हें मिठाई इत्यादि सभी वस्तुएँ खानी पड़ेंगी।'

मालती का मन रो रहा था, किन्तु होठों पर हल्की सी मुस्कराहट थी। तलुओं को गुद्‌गुदाते हुए बोली—'अब कहे ही जाओगे, कह तो रही हूँ कि कल से सब ठीक हो जायगा।'

अगले दिन से मालती बिलकुल ठीक रहने लगी। दो साल में उसने उस दिन पहली बार मिठाई खाई। दोपहर को मालती ने एक ऐसी बात की ओर संकेत किया जिसे राममोहन न समझ सका। मालती ने संकेत को थोड़ा और खोलकर बताना चाहा पर राममोहन फिर भी न समझा।

अब आफिस के बाद का सारा समय राममोहन मालती के साथ ही व्यतीत करने लगा। शाम के समय अक्सर वह सिनेमा देखते। सूरजकुंड में नाव पर सैर करते। कभी कभी चड्ढा साहब के यहाँ चले जाते।

एक रात जब मालती अच्छे मूड में थी, राममोहन ने उसका मूड खराब कर देना ही उचित समझा। बहुत ही नपे-तुले शब्दों में उसने पूछा—'क्यों जी' बुलन्दशहर वाले को क्या बीमारी हुई थी।'

मालती उनका नाम नहीं लेती थी, बोली—'टायफाइड हो गया था। सच बात यह है कि उनका इलाज नहीं हुआ था। उनकी माँ सौतेली थी। उसकी मन चाही हो गई क्योंकि जीवित रहते तो आधी जायदाद के मालिक होते।' वह भावुक हो उठी थी।

'उनके आखिरी शब्द क्या थे।'

'मरने के दो घण्टे पहले ही वह मुझसे नाराज हो गये थे। वह चाहते थे कि मैं उस समय उनके पास जाऊँ पर बाहर बरामदे में बहुत से आदमी बैठे हुए थे; मैं शरम के मारे नहीं गई। उस समय किसी को उनके बारे में यह शक नहीं था कि यह इतनी जल्दी चले जायेंगे। मालती का गला भर्रा रहा था।

राममोहन ने पत्नी के माथे का एक चुम्बन लिया। सिर को एक बार सहलाया; फिर बोला—'नहीं, तुम्हें जाना चाहिये था?'

मालती ने खीज के स्वर में उत्तर दिया—'मरने से सात-आठ मिनट पहले की बात है कि मैं उनके कमरे की ओर बढ़ी। तभी घर में शोर मच गया। वह कमजोर तो थे ही, लोगों के पकड़ने और मना करने पर भी मेरे पास आने की जिद करने लगे। उस समय उनमें न जाने इतनी ताकत कहाँ से आ गई थी और पूजा वाले कमरे के दरवाजे तक पहुँचते ही एकदम गिर पड़े।'

राममोहन ने जानबूझ कर 'उफ' कहा।

इस छोटी सी 'उफ' के बाद थोड़ी देर के लिए दोनों खामोश हो गये। कुछ समय बाद राममोहन ने पूछा, 'फिर तो तुम उनके पास गई होगी।'

'नहीं, उसके बाद ही रोना-पीटना मच गया था।'

'फिर क्या हुआ?'

'फिर मुझे कुछ नहीं पता। मैं बेहोश हो गई। मैं दो दिन तक बेहोश रही थी।'

'दो दिन तक?'

'हाँ ।'

मृत्यु की चरम सीमा पर मालती की कहानी समाप्त हो गई थी । उसके बाद दोनों बहुत देर तक चुप पड़े हुए न जाने क्या क्या सोचते रहे । मालती बहुत दिनों तक अपने को बहलाये रही थी, इसलिये राममोहन ने यही उचित समझा कि एक बार पुरानी बातों को दोहराने से मालती के दबे उद्गार बह जायेंगे । हुआ भी यही, अगले दिन मालती बिलकुल ठीक हो गई थी ।

× × × ×

कुछ दिनों बाद मालती ने एक बहुत ही सुन्दर शिशु को जन्म दिया । इस अवसर पर राममोहन ने अपने मित्रों की दावत की । मालती बहुत खुश थी । वह हर समय चहकती रहती । अब उसे रेडियो के दर्द भरे गीत सुन कर कभी रोना नहीं आता था ।

जब शिशु तीन महीने का हो गया तो राममोहन को पत्नी के साथ चार-पाँच दिन के लिए ससुराल जाने का अवसर मिला । वहाँ पहुँचने के तीसरे दिन प्रातः राममोहन की दृष्टि आले में रखे हुए एक फोटो पर पड़ गई । उसे समझने में देर नहीं लगी कि फोटो किसका है । उसने उस फोटो को उठा लिया और गौर से देख कर अपने से तुलना करने लगा । राममोहन को उस फोटो में कोई विशेषता नजर न आई । उसी समय सामने से मालती आ गई । राममोहन के हाथ में उस फोटो को देख कर उसने झपट्टा मार कर छीन लिया और फाड़ कर उसके चार टुकड़े कर दिये । फिर जमीन पर डाल कर पैर से मसल कर उन टुकड़ों को नाली में गिरा दिया ।

राममोहन के मन में एक हूक-सी उठी । साथ ही उसका हृदय पत्नी के प्रति विरक्ति से भर गया । उसे लगा जैसे उसका ही फोटो जमीन पर, रगड़ा गया हो ।

—:o:—

श्री विद्यासागर नौटियाल

जन्मकाल   रचनाकाल
१९३३ ई०   १९५३ ई०

भैंस का कट्या

सुबह हो रही थी। हौंस्यारू अपने छज्जे पर बैठा तम्बाकू पी रहा था। तभी गोशाला से उसकी औरत ने आवाज दी 'भैंस* व्यैंगी।' हौंस्यारू हुक्के को एक ओर रख तेजी से नीचे गया, गोशाला के द्वार पर खड़े होकर उसने भैंस को पुचकारा। भैंस ने उत्तर में कहा—म्आ, म्आ।

आठ वर्ष का बालक गब्लू अभी बिस्तर पर ही लेटा था। सुबह हो गई थी और उसकी नींद खुल गई थी, फिर भी वह बिस्तर पर लेटा था। उठते ही उसे गाय दे दी जाती जिसे लेकर वह चराने चला जाता। यदि कभी बाप ने गाय देने मे देरी कर दी तो कोई और काम सौंप दिया जाता, जैसे किसी डोम को बुला लाना, पंडित जी के घर जाकर पूर्णमासो के दिन का पता लगाना, किसी का उधार का आटा वापस कर आना या किसी पड़ोसी का कोई बर्तन लौटा आना। गब्लू जानता था कि उठते ही उसे रात तक काम में व्यस्त रहना पड़ेगा, इसलिये वह अपने भरसक देर से उठता।

माँ की आवाज उसके कानों में भी पहुँची—भैंस को बच्चा हो गया। भैंस को बच्चा होने वाला था। गब्लू अक्सर बाप से पूछता—'कब होगा बाबा इसका बच्चा ?'

'होगा बेटा तो तू भी देख लेना, हो ही जायगा बेटा,' उत्तर में हौंस्यारू बताता। कई महीनों से बाप-व बेटा प्रतीक्षा में थे और आज भैंस को बच्चा हो गया।

लेटा हुआ गब्लू नंगा ही बाहर दौड़ा। 'कपड़े पहन ले मेरे बच्चे,'—माँ

---

* भैंस का बच्चा हो गया।

की आवाज सुनाई दी, 'ठण्ड लग जायेगी।' गबलू ने दौड़कर एक झँगुली गले मे डाली और दूसरे ही क्षण गोशाला के द्वार पर आ टिका।

हौंस्यारू अन्दर जाने लगा; गबलू ने पीछा किया। 'ठहर जा बेटा भैंस मारेगी इस वक्त'—बाप ने प्रफुल्लित स्वर में कहा और वह अँधेरी गोशाला के अन्दर पहुँचा जहाँ एक ओर गाय बँधी थी और दूसरी ओर भैंस। वह भैंस को सहलाने लगा। 'क्या हुआ ?' द्वार से उसकी स्त्री ने पूछा—

'कट्या'+ हौंस्यारू ने निराश स्वर में उत्तर दिया।

'तला, थोरेटू(१) ही हवै इ' हौंस्यारू की स्त्री ने अफसोस जाहिर किया।

मर्द भैंसे का जन्म इन किसानों को उत्साहित नहीं कर पाता। एक तो वह बेकार होता है और दूसरी बात उसे बचाना भी कठिन होता है। लोकोक्ति के अनुसार मर्द बच्चे का कहना है 'किन खौं घटकै, कित मरौं पटकै' याने या तो जी भर दूध पिऊँगा या तत्काल मर जाऊँगा। होता भी ऐसा ही है। भैंस का मादा बच्चा जितना दूध पीता है, उससे दुगुना नर पी जाता है। और सचमुच उसे इससे कम दें तो वह शीघ्र मर जाता है। लोग उसे बचाना भी नहीं चाहते। अपने पाले बच्चे को कौन तरुण अवस्था में तलवारों से कटते देख सकता है ? करीब-करीब सभी नर भैंसे, जिन्हें वे 'बेल्ला' कहते हैं, बड़े होते ही देवी और देवताओं के द्वार पर मार दिये जाते हैं। उनकी पूजा होती है और इनका बध।

हौंस्यारू निराश मन से बाहर लौटा। तभी गबलू ने प्रसन्नता के स्वर में कहा 'आहा भुला हवैगी*। निराश हौंस्यारू को गबलू की तूतली आवाज ने मुग्ध कर दिया और उसके सर पर हाथ रख कर उसने कहा—'हाँ बेटा तेरा छोटा भाई हुआ है।'

गबलू हौंस्यारू का एकलौता पुत्र था। आठ वर्ष पहले गबलू हुआ था। तब से उसके दो सन्तानें और हुईं—एक बेटा व एक बेटा। दो में एक भी बचा

+ भैंस का मर्द बच्चा।

(१) अफसोस, मर्द हुआ।

* आहा अनुज जन्मा है।

न रहा। बेटे को बुखार आया था व बेटी के पेट मे पीड़ा हुई थी। छोटा सा बालक गबलू किसी को 'भुला'(१) या 'भूली'(२) कहने को तड़पता। यह जानने पर कि उसकी भैंस का बच्चा होने वाला है, वह सोचता कि यदि नर हुआ तो भुला और मादा हुई तो भुली कहकर सम्बंधित करेगा।

एक बार फिर वह प्रसन्न मुद्रा में चिल्लाया—'ओहो भय्या हो गया, ओ हो भय्या हो गया।'

'उसने बाप से पूछा'—इसका नाम क्या रक्खा है बाबा?

कुछ नहीं बेटा—'हौंस्यारू ने उत्तर दिया।'

पिछले वर्ष गबलू का जो भय्या मरा, उसका नाम गज्जू था। गबलू ने सोचा, वह मेरा भुला था और उसका नाम गज्जू था। यह भी मेरा भुला है। इसलिए इसका नाम भी गज्जू रख दिया जाय।

'बाबा?'

'हाँ बेटा।'

'इसका नाम गज्जू रख दो न?'

हौंस्यारू को अपने बच्चे गज्जू की याद हो आई। उसे बुखार आया था, तेज बुखार। साल भर हो गया मरे हुए।

'रख दो न बाबा'—गबलू ने फिर कहा।

'बोल ले बेटा गज्जू ही बोल ले। गज्जू तो कहाँ गया कम्बख्त', कहकर वह छज्जे पर जाने लगा।

गबलू गोशाला के द्वार पर ही खड़ा रहा। बाहर से वह एक हाथ आगे की ओर कर के धीरे-धीरे कह रहा था—आ, आ भुला, गज्जू आ, आ गज्जू आ।

माँ ने आकर भैंस को दुहना शुरू किया। बाप भैंस को सहलाता रहा। गबलू भैंस के डर के मारे द्वार पर ही खड़ा उसके बच्चे को पुचकारता रहा। तब

---

(१) छोटा भाई।

(२) छोटी बहन।

हौंस्यारू ने गाय को खोल कर बाहर खदेड़ा। उसे लेकर नित्य की भाँति गबलू जंगल की ओर चल दिया। दिन में खाना खाने घर आया, फिर चला गया!

शाम को गबलू घर आया। गाय बाँध कर छज्जे पर बैठा ही था कि माँ ने आवाज दी—गबलू जरा यहाँ आ। मैं भैंस दुह लूँ तू इसके बच्चे को पकड़। वह गोशाला की ओर दौड़ा। जाकर भैंस के बच्चे के गले पर बँधे दाँवे को पकड़ कर उसने उसे भैंस के थन से अलग खींचा। माँ दुहने लगी।

जब माँ ने दुहना शुरू किया तो गज्जू को फिर थन चूसने का मौका मिला। गबलू जाकर रसोई में बैठ गया।

खाना खाकर गबलू लेट गया। और दिनों की तरह उसे एकदम नींद नहीं आई। वह सोचता रहा कि उसका भाई हुआ है। एक-दो बार लेटे ही लेटे उसने सोचा कि जाकर गोशाला के द्वार पर खड़े होकर गज्जू को देख ले। पर रात में भूत के डर के मारे वह नीचे अँधियारे में अकेला न जा सका।

माँ ने आवाज दी—गबलू पेशाब कर ले, रात में बिस्तर पर मूतेगा तू। गबलू को मौका मिला। दौड़ कर बाहर गया, माँ के साथ आँगन में उतरा। पेशाब करने के बाद वह गोशाला की ओर जाने लगा, गज्जू की ओर। पर द्वार बन्द था। बाघ के डर के मारे दरवाजे रात में जल्दी ही बन्द कर दिये जाते हैं, वर्ना बाघ कभी भी मवेशियों पर हमला कर बैठता है।

दौड़ कर माँ ने उसका हाथ पकड़ लिया—'चल बेटा सोने चल न। इधर कहाँ जा रहा है तू?' माँने प्रेम भरे स्वर में कहा। 'माँ जरा गज्जू को तो देख लें'—गबलू ने उत्तर दिया।

माँ ने फिर कहा—'नहीं बेटा कल देख लेंगे। इस वक्त वह सो रहा होगा।' गबलू को गोद में उठा कर उसने उसका मुँह चूम लिया। गबलू माँ की गोद से चिपक गया। माँ के गले में उसने बाहें डाल कर कहा—माँ! कल सुबह जब तू भैंस को दुहेगी तो गज्जू को मैं ही पकड़ूँगा।

'तू ही पकड़ना मेरे लाड़ले'—माँ का स्नेह उमड़ आया।

गबलू फिर लेट गया। उसके माँ बाप भी लेट गये। 'मैं लैम्प बुझाऊँगा माँ'—उसने खड़े होकर लैम्प पर फूँक मारी और फिर अपनी जगह पर लेट गया।

'इसे आज नींद ही नहीं आ रही है'—गबलू की माँ ने हौंस्यारू से कहा।

'आज तो वह भैंस के बच्चे की ही सोच रहा है'—हौंस्यारू ने उत्तर दिया। गबलू शरमा गया। आँखें बन्द कर उसने माँ बाप को दिखाना चाहा कि वह सो गया है; भले ही उस अँधियारे में उसकी खुली या बन्द आँखों को माँ-बाप नहीं देख सकते थे। वे तो उसे सोया हुआ तभी समझते थे जब वह बातें करना बन्द कर दे।

गबलू गज्जू के बारे में सोचता रहा। तभी धीमी आवाज में उसकी माँ ने कहा—'गबलू?' गबलू गज्जू के बारे में सोचता रहा। माँ की आवाज का उत्तर देना उसने बेकार समझा, यही सोच कर कि उसका बाप फिर न कह दे कि वह गज्जू के बारे में सोच रहा है।

'सो गया'—हौंस्यारू ने उत्तर दिया,

कुछ देर तक कोई आवाज न सुनाई दी। गबलू नीरवता में शान्तिपूर्वक सोचता रहा। केवल बाहर से आनेवाली तेज पहाड़ी हवा दरवाजों के छिद्रों से होती टक्कर की-सी आवाज 'सीं, सी, ई, स्यूँ ऊँ' ही उसे सुनाई दी और सहसा उसे लगा कि माँ कंप-सी रही है।

कुछ देर बाद गबलू के माँ-बाप बातें करने लगे। माँ ने कहा—'इस कट्या को कल छाँछ पिला देंगे; बेकार क्या करना है इसे पाल कर।

गबलू के कान खड़े हो गये। बाप ने कहा—'अरे रहने दो खुद मर जायेगा।'

गज्जू को बचाये रखना गबलू के माँ बाप के सामने एक समस्या थी। गज्जू अभागा, नर जाति का था जिसे इसलिए मारने की कोशिशें की जा रही थीं कि वह दूध अधिक पियेगा और हौंस्यारू व उसकी स्त्री अपने अंदाज के बराबर घी बनाकर पैसा न कमा पायेंगे।

माँ ने फिर कहा—'पता नहीं मरता है या नहीं। जब तक बचा रहेगा, वह तो सब दूध पी जायेगा।'

'बड़ा होने दो फिर कुछ पैसे कमा लेंगे।'

'हाय, हाय, वहाँ बेचोगे? हैं मारने को? ऐ राम! इससे अच्छा है अभी

मार दो। क्या फायदा है जो अपने हाथ से पाल-पोस कर मारने को देना है?'

'पैसे भी तो मिलेंगे एक मुश्त।'

'नहीं मिलें ऐसे पैसे, जो अपने पाले हुए बच्चे की मौत के हों। और फिर उतने का तो घी भी बिक जायेगा अगर दूध बचा रहे।'

गबलू के माँ बाप दोनों गज्जू को मारना चाहते थे। एक अभी मार कर मुक्त हो जाना चाहती थी और दूसरा बाद में औरों के हाथ में दे देना चाहता था मारने को। दया दोनों के अन्दर थी। माँ अपने पाले हुए बच्चे को कटते नहीं देख सकती थी और बाप बच्चे को अपने हाथों नहीं मार सकता था।

गबलू सहन न कर सका। वह भी उसी वातावरण में पला था। भले ही वह अभी शिशु था, पर रीति-रिवाजों का अनुभव तो उसे हो ही रहा था। अपनी आँखों के सामने उसने भैंस के बच्चों की मौत देखी थी, जवान भैंसे कटते देखे थे। वह समझ गया कि वार्तालाप उसके भुला गज्जू के बारे में ही है।

'माँ गज्जू को मत मारना'—वह रो उठा।

'अरे तू अभी सोया नहीं?' उसके बाप ने प्रश्न किया'—कितना धूर्त है? तबसे चुपचाप पड़ा है। छटाँक भर का है पर ऐब तो देखो इसके—'मां ने शरमाई आवाज में अपने पति से कहा—'क्या कलयुग लगा है देखो तो, कैसे चुप रहा यह तबसे।'

गबलू समझ न पाया कि उसका ऐब क्या था।

'सो जा बे'—उसके बाप ने डाँट कर कहा।

एक दिन जब माँ भैंस को दुहने आई और गबलू ने गज्जू को खोला तो वह थन पर न लगा। गबलू ने पकड़ा—'आ भुला दूध पी ले।' पर गज्जू ने उधर से मुँह हटा लिया।

गबलू चिल्लाया—मां तूने इसे छाँछ पिला दी मारने को।

'नहीं बेटा, मैं क्यों पिलाऊँगी इसे छांछ? मैं इसे मारना थोड़े ही चाहती हूँ, मैं नहीं मारूँगी बेटा इसे।'

'तो आज यह दूध क्यों नहीं पी रहा है?'

माँ भी असमंजस में पड़ गई। गज्जू को क्या हो गया? तबियत खराब

होगी शायद, उसने सोचा, स्वयं प्रयास किये पर गज्जू ने मुँह न लगाया। गबलू गज्जू के गले में हाथ डाल कर रोने लगा। माँ चिन्तामग्न हो गई।

'कहाँ गये ? जरा सुनो तो; यह तो आज दूध नहीं पी रहा है।'

हौंस्यारू ने आकर पूछा—'क्या हो गया ?'

'पता नहीं क्या हो गया आज। आजतक तो हमेशा पीता था।'

हौंस्यारू ने प्रश्न किया—'दूध दिया था किसी को आज ?'

'गैणी मुई ले गई थी, उसी की हाक* लग गई है।'

हौंस्यारू—'यही तो मुसीबत है। दूध देना तो पाप है। खुद तो गाय भैंस पाल नहीं सकते और दूसरे के मवेशियों को टोना टटमोना करते हैं। चटकारे मारती होगी दूध पीते वक्त, धूर्त कहीं की।'

'माँ—यह तो मुसीबत है इस गांव में। भगवान ऐसे दुष्टों को मारता भी तो नहीं। अपने आप मेहनत करते तो हड्डियाँ टूटती हैं और दूसरों की मेहनत का दूध पीकर गाय भैंस पर हाँक लगाते हैं। ऐसी बस्ती का तो नाश ही हो जाय तो अच्छा है।'

थोड़ी देर रुक कर फिर माँ ने कहा—'जरा पंडितजी के पास जाकर मंत्र तो लगवा दो।'

एक रुपया जेब में लेकर हौंस्यारू पंडितजी के पास गया। पंडितजी कुछ शब्द बड़बड़ाये जिन्हें वह समझ न पाया। उसने समझने की कोशिश भी न की।

लौट कर उसने भैंस के थन पर गज्जू को लगाने की कोशिश की पर बेकार, गज्जू ने पूर्ववत दूध न पिया। माँ ने गुस्से में भरकर कहा—'बड़ी सख्त हाक लगाई है राँड ने, पंडितजी के मंत्र से भी ठीक नहीं हो रही है हमारी भैंस।'

उस रात भैंस ने दूध न दिया। गज्जू ने गाय का दूध पीने से इन्कार कर दिया। गबलू कुछ देर रोता रहा और बिना खाये ही सो गया।

दूसरे दिन से गज्जू फिर दूध पीने लगा। हौंस्यारू व उसकी स्त्री की जान में

---

* नजर (टोक)

जान आई। गबलू खुश हो गया। गज्जू को वह अपना भाई समझता था। उसकी खुशी को अपनी खुशी और दुःख को अपना दुःख समझता था। दोनों का रिश्ता भी काफी पक्का था। एक ही भैंस का दूध पीकर दोनों बड़े हुए थे। दोनों बच्चे ही थे; गबलू अपनी जाति का बच्चा व गज्जू अपनी जाति का।

इस तरह दो साल बीत गये। गज्जू ने दूध पीना छोड़ दिया। अपनी जाति के तरुणों में उसका स्थान हो गया था। गबलू का अभी वही बचपन था। फिर भी दोनों को एक दूसरे से प्यार था। गज्जू तो अपने स्नेह को गूँगे की ही तरह व्यक्त करता और गबलू अभी भी उसे भुला कह कर पुकारता। दो वर्षों से लगातार एक साथ रहने से इनकी मित्रता और भी पुरानी तथा सुदृढ़ हो गई थी।

उस दिन दोपहर को जब गबलू खाना खाने घर आया तो उसने अपने घर दो मेहमान देखे। लाल टोपियाँ पहने वे दोनों हौंस्यारू से गज्जू के बारे में कुछ बातें कह रहे थे। गबलू उनके पास बैठ गया।

पुलिसवाले ने कहा—'अरे तू दे दे। पैसे तुझे टिहरी पहुँचते ही मिल जायेंगे। महाराज खुश हो जायेंगे तुझ पर।'

'मेरे महाराज तो तुम ही हो। वह गया और यह खाना छोड़ देगा।' हौंस्यारू ने गबलू की ओर इशारा किया।

गबलू समझने की कोशिश करने लगा।

पुलिसवाले ने फिर कहा—'तो हम महाराज से कह दें कि तू बेल्ला देने से मुकर रहा है?'

'मालिक क्यों ऐसा करते हो?'

'मैं क्या करूँ भाई, यह तो सरकार का हुक्म है।'

हौंस्यारू ने फिर पूछा—'तो पैसे कितने मिलेंगे सरकार?'

पुलिसवालों ने आपस में आँखें लड़ाईं।

पतले छहरे बदन के पुलिसवाले ने जिसकी आँखें भूरी-सी थीं, कहा—हाँ अब मोल-तोल रहा। मैं तो कहता हूँ हम ले जाँय और कीमत दरबार ही तय कर ले। इसमे तेरा फायदा रहेगा। महाराज खुश हो जायेंगे तो कमी किस चीज की है? ऐसी कीमत मिलेगी जो जिन्दगी भर याद रखेगा। राजाओं

की बात ही और होती है।

'मैंने दूध नहीं पिया, घी नहीं बनाया, छाछ नहीं देखी, कभी नोण(१) नहीं बेचा। कट्या पालना बहुत मुश्किल काम है, पूरा दूध खुद पी जाता है। अब थोड़ा आस बँधी है। भैंसों पर फसल लगायेगा तो कुछ आमदनी होगी। मैंने इसे अपना पेट काट कर पाला है। गबलू की कसम खाकर कहता हूँ,' हौंस्यारू ने गबलू के सर पर हाथ रख कर कहा।

'तू ले तो चल। एक बार महाराज की नजर लग गई तो मालामाल हो जायगा। सारे दूध घी की कीमत एक साथ मिल जायेगी?'

'कहाँ जा रहे हो बाबा? गबलू को ले जा रहे हो कहीं?'

हौंस्यारू ने क्षण भर पीछे मुड़ कर उसे देखा, तभी पुलिस वालों ने कहा—'चल भइया'। गबलू रो कर माँ के पास दौड़ा। तब तक हौंस्यारू ने गज्जू को खोल दिया। गबलू दौड़ा, बाहर आया। आँगन में जाकर उसने गज्जू का पेट सहलाया। गज्जू गबलू से बड़ा हो चला था। अब गबलू का हाथ उसकी पीठ तक नहीं पहुँचता था; गबलू ने फिर गज्जू की गर्दन की ओर हाथ बढ़ाया। गज्जू ने गर्दन झुका ली, गबलू ने सहलायी।

'ये तुझे मारने ले जा रहे हैं भुला'—गबलू रोने लगा। पुलिस वाले भी द्रवित हो उठे। एक ने कहा—'अरे नहीं, हम तो इसे पालने ले जा रहे हैं।'

'नहीं तुम झूठ बोल रहे हो।'

'सच बोल रहे हैं हम।'

थोड़ी देर के लिए उसके मन में आशा का भाव उदित हुआ। खुश होकर पूछा—'सच?'

'हाँ सच, हम पालने ले जा रहे हैं।'

'तो वापिस कब लाओगे बाबा इसे?' बच्चे ने अपने विश्वसनीय पिता से प्रश्न किया।

हौंस्यारू चुप। गबलू ने गज्जू को भेंट-भाँट कर छोड़ दिया। हौंस्यारू गज्जू को लेकर चल दिया।

---

(१) मक्खन

शाम को गाँव के लड़कों ने गबलू को बताया—'टिहरी में दशौरा (दशहरा) मनाया जा रहा है। महाराज भी आ गये हैं। देवी के मन्दिर में, पुराने दर्बार में गज्जू की बलि दी जायेगी। अब गज्जू लौट कर नहीं आयेगा।'

शाम को घर आकर हौंस्यारू ने अपनी स्त्री को बताया कि गज्जू की कीमत सिर्फ तीस रुपये दी गई।

'इससे ज्यादा का तो घी ही हो जाता'—स्त्री ने कहा—'अगर उसी वक्त मार देते'।

'अब गलती हो गई क्या करें'—हौंस्यारू बोला।

उस रात गबलू सोचता रहा—'अब गज्जू को स्वप्न हो रहा होगा। कोई स्वप्न में उसे बता रहा होगा कि कल उसे मारा जायेगा, कि उस वक्त वह रोये ना, कि उस वक्त वह भागे ना, वर्ना देवी नाराज हो जायेंगी। कोई उसे सिखा रहा होगा कि खिचड़ी की थाली सामने आते ही वह उस पर मुँह डाल दे ताकि महाराज की तलवार का वार सह सके। गाँव के लड़कों ने ऐसा ही तो बताया था। मन्दिर में उसकी पूजा की जायेगी, नहीं उसकी नहीं, देवी की पूजा। उसकी गर्दन पर तो तलवार चलेगी।'

गबलू सिहर उठा—वही गर्दन जिसका वह आलिंगन करता था—वही गज्जू जो इसका छोटा भय्या था।

उस रात को घर में किसी ने भी खाना न खाया।

सोने से पहले गबलू ने कह ही दिया—'माँ उस रात को तू उसे छाछ पिला कर मारने की बात कर रही थी। तूने मारा क्यों नहीं माँ ?'

'मेरे बच्चे, तुझमें जानवरों के लिए कितनी दया है'—कहते-कहते माँ खुद भी रो उठी, पर अपने अन्दर छिपी दया का पता उसे न चल पाया।

—:०:—

श्रीमती कृष्णा सोबती

जन्मकाल	रचनाकाल
?	१९५५ ई०

बादलों के घेरे

भुवाली की इस छोटी-सी काटेज में लेटा-लेटा मैं सामने के पहाड़ देखता हूँ। पानी-भरे, सूखे-सूखे बादलों के घेरे देखता हूँ। बिना आँखों के भटक-भटक जाती धुन्ध के निष्फल प्रयास देखता हूँ। और फिर लेटे-लेटे अपने तन का पतझार देखता हूँ। सामने पहाड़ के रूखे हरियाले में रामगढ़ जाती हुई पगडंडी मेरी बाँह पर उभरी लम्बी नस की तरह चमकती है। पहाड़ी हवाएँ मेरी उखड़ी-उखड़ी साँस की तरह कभी तेज, कभी हौले, इस खिड़की से टकराती हैं, पलंग पर बिछी चद्दर और ऊपर पड़े कम्बल से लिपटी मेरी देह चूने की-सी कच्ची तह की तरह घुल-घुल जाती है और बरसों के ताने-बाने से बुनी मेरे प्राणों की धड़कनें हर क्षण बन्द हो जाने के डर में चुक जाती हैं।

मैं लेटा रहता हूँ और सुबह हो जाती है। मैं लेटा रहता हूँ शाम हो जाती है। मैं लेटा रहता हूँ रात झुक जाती है। दरवाजे और खिड़कियों पर पड़े परदे मेरी ही तरह दिन-रात सुबह-शाम अकेले मौन भाव से लटकते रहते हैं। कोई इन्हें भरे-भरे हाथों से उठाकर कमरे की ओर बढ़ा नहीं आता। कोई इस देहरी पर अनायास मुस्करा कर खड़ा नहीं हो जाता। रात, सुबह, शाम बारी-बारी से मेरी शैय्या के पास घिर-घिर आती हैं और मैं अपनी इन फीकी आँखों से अँधेरे और उजाले को नहीं, लोहे की पलंग पर पड़े अपने-आप देखता हूँ। अपने इस छूटते-छूटते तन को देखता हूँ और देखकर रह जाता हूँ। आज इस रह जाने के सिवाय कुछ भी मेरे बस में नहीं रह गया। सब अलग जा पड़ा है। अपने कंधों से जुड़ी अपनी बाँहों को देखता हूँ, मेरी बाँहों से लगी वे भरी-भरी बाँहें कहाँ हैं···कहाँ वह सुगंध-भरे केश, जो मेरे वक्ष पर बिछ-बिछ जाते थे? कहाँ

हैं वह रस-भरे अधर जो मेरे रस में भींग-भींग जाते थे ? सब था, मेरे पास सब था, बस, मैं आज-सा नहीं। जीने का संग था, सोने का संग था और उठने का संग था। मैं धुले-धुले सिरहाने पर सिर डाल कर सोता रहता और कोई हौले से चूमकर कहता —उठोगे नहीं···भोर हो गई।

आँखें बन्द किये-किये ही हाथ उस मोह-भरी देह को घेर लेते और रात के बीते क्षणों को सूँघ लेने के लिए अपनी ओर झुकाकर कहते—इतनी जल्दी क्यों उठती हो···

हलकी-सी हँसी···और बाँहें खुल जातीं। आँखें खुल जातीं और गृहस्थी पर सुबह हो आती। फूलों की महक में नाश्ता लगता। धुले-ताजे कपड़ों में लिपटकर गृहस्थी की मालकिन अधिकार भरे संयम से सामने बैठ रात के सपने को साकार कर देती। प्याले में दूध उँड़ेलती उन उँगलियों को देखता। क्या मेरे बालों को सहला सहलाकर सिहरा देने वाला स्पर्श इन्हीं की पकड़ में है ? आँचल को थामे आगे की ओर उठा हुआ कपड़ा जैसे दोनों ओर की मिठास को सँभालने को सतर्क रहता। क्षण भर को लगता, क्या गहरे में जो मेरा अपना है, यह उसके ऊपर का आवरण है या जो केवल मेरा है, वह इससे परे, इससे नीचे कहीं और है। एक शिथिल मगर बहती-बहती चाह विभोर कर जाती। मैं होता, मुझसे लगी एक और देह होती। उसमें मिठास होती जो रात में लहरा-लहरा जाती। और एक रात भुवाली के इस क्षय-ग्रस्त अँधियारे में आती है। कम्बल के नीचे पड़ा-पड़ा मैं दवा की शीशियाँ देखता हूँ और उन पर लिखे विज्ञापन देखता हूँ। घूँट भर कर जब इन्हें पीता हूँ तो सोचता हूँ, तन के रस रीत जाने पर हाड़-मास सब काठ हो जाते हैं, मिट्टी नहीं कहता हूँ, क्योंकि मिट्टी हो जाने से तो मिट्टी से फिर रस उभरता है, अभी तो मुझे मिट्टी होना है।

कैसे सरसते दिन थे ! तन-मन को सहलाते-बहलाते। उस एक रात को मैं आज के इस शून्य में टटोलता हूँ। सर्दियों के एकान्त मौन में एकाएक किसी का आदेश पाकर मैं कमरे की ओर बढ़ाता हूँ। बल्ब के नीले प्रकाश में दो अधखुली थकी-थकी पलकें जरा-सी उठती हैं और बाँह के घेरे-तले सोये शिशु को देखकर मेरे चेहरे पर ठहर जाती हैं। जैसे कहती हों, तुम्हारे आलिंगन को तुम्हारा ही

तन देकर सजीव कर दिया है। मैं उठता हूँ, ठण्डे मस्तक को अधरों से छूकर यह सोचते-सोचते उठता हूँ कि जो प्यार तन में जगता है, तन से उपजता है वही देह पाकर दुनिया में जी भी जाता है।

पर कहीं, एक दूसरा प्यार भी होता है जो पहाड़ के सूखे बादलों की तरह उठ-उठ आता है और बिना बरसे ही भटक-भटककर रह जाता है। वर्षों बीते। एक बार गर्मी में पहाड़ों पर गया था। बुआ के घर पहली बार उन आँखों-सी आँखों को देखा था। धुपाती सुबह थी। नाश्ते की मेज से उठा तो परिचय करवाते-करवाते न जाने क्यों बुआ का स्वर जरा-सा अटका था...साँस लेकर कहा—मन्नो से मिलो रवि, दो ही दिन यहाँ रुकेगी।—बुआ के मुख से यह फीका परिचय अच्छा नहीं लगा। साँस भरकर बुआ का वह दो दिन कहना किसी कड़ुपन को झेल लेने-सा लगा। वह कुछ बोली नहीं, सिर हिलाकर अभिवादन का उत्तर दिया और जरा-सा हँस दी। उस दूर-दूर लगनेवाले चेहरे से मैं अपने को लौटा नहीं सका। उस पतले, किन्तु भरे-भरे मुँख पर कसकर बाँधे घुँघराले बालों को देखकर मन में कुछ ऐसा-सा हो आया कि किसी के गहरे उलाहने की सजा अपने को दे डाली गई है।

सब उठकर बाहर आये तो बुआ के बच्चे उस दुबली देह पर पड़े आँचल को खींच स्नेहवश उन बाहों से लिपट-लिपट गये—मन्नो जीजी! मन्नो जीजी... बुआ किसी काम से अन्दर जा रही थीं, खिलखिलाहट सुनकर लौट पड़ीं। बुआ का वह कठिन, बँधा और खिचावट को छिपानेवाला चेहरा मैं आज भी भूला नहीं हूँ। कड़े हाथों से बच्चों को छुड़ाती, ठण्डी निगाह से मन्नो को देखती हुई ढीले स्वर में बोलीं—जाओ मन्नो, कहीं घूम आओ। तुम्हें उलझा-उलझा कर तो ये बच्चे तंग कर डालेंगे।—माँ की घुड़की आँखों-ही-आँखों में समझकर बच्चे एक ओर हो गये। बुआ के खाली हाथ जैसे झेंपकर नीचे लटक गये और मन्नो की बड़ी-बड़ी आँखों की घनी पलकें न उठीं, न गिरीं; बस एकटक बुआ की ओर देखती गई...

बुआ इस संकोच से उबरीं तो मन्नो धीर गति से फाटक के बाहर हो गई थी। कुछ समझ लेने के लिए आग्रह से बुआ से पूछा—कहो तो बुआ, बात क्या है?

बुआ अटकीं, फिर झिझककर बोलीं—बीमार है रवि, दो वर्ष सैनेटोरियम में रहने के बाद अब जेठजी ने वहीं काटेज ले दी है। साथ में घर का पुराना नौकर रहता है। कभी अकेले जी ऊब जाता है तो दो-चार दिन को शहर चली जाती है।

'नहीं, नहीं, बुआ !'—मैं धक्का खाकर जैसे विश्वास नहीं करना चाहता।

'रवि, जब कभी चार-छः महीने बाद लड़की को देखती हूँ, तो भूख-प्यास सब सूख जाती है।'

मैं बुआ की इस सच्चाई को कुरेद लेने को कहता हूँ—बुआ, बच्चों को एक दम अलग करना ठीक नहीं हुआ, पल भर तो रुक जातीं।

बुआ ने बहुत बड़ी निगाह से देखा, जैसे कहना चाहती थीं, 'तुम यह सब नहीं समझोगे' और अन्दर चली गईं। बच्चे अपने नये खेल में जुट गये थे। मैं खड़ा-खड़ा बार-बार सिगरेट के धुएँ से अपने तन का भय और मन की जिज्ञासा उड़ाता रहा। कितनी घुटन होगी उन प्राणों में! पर बुआ भी तो कुछ गलत नहीं थीं। उलझा-उलझा-सा मैं बाहर निकला और तराई उतर कर झील के किनारे-किनारे हो गया। सड़क के साथ-साथ इस ओर छाँह थी। उछल-उछल कर आती पानी की लहरें कभी धूप से रुपहली हो जाती थीं। देवी के मंदिर के आगे पहुँचा तो रुका; जंगले पर हाथ टिकाये झील में नौकाओं की दौड़ देखता रहा। बलिष्ठ हाथों में चप्पू थामे कुछ युवक तेज रफ्तार से तल्लीताल की ओर जा रहे हैं, पीछे की कश्ती में अपने तन-मन-से बेखबर एक प्रौढ़ बैठे ऊँघ रहे हैं। उसके पीछे बोट-क्लब की किश्ती में विदेशी युवतियाँ···फिर और दो-चार पाल-वाली नौकाएँ···

एकाएक किश्ती में नहीं, जैसे पानी की नीची सतह पर वही पीला चेहरा देखता हूँ, वही बड़ी-बड़ी आँखें, वही दुबली-पतली बाँहें, वही बुआ के घर वाली मन्नो। दो-चार बार मन-ही-मन नाम दोहराता हूँ, मन्नो, मन्नो, मन्नो···। मैं ऊँचे किनारे पर खड़ा हूँ और पानी के साथ-साथ मन्नो वही चली जा रही है। खिंचे घुँघराले बाल अनझपीं पलकें···पर बुआ कहती थीं बीमार है, मन्नो बीमार है।

जंगले पर से हाथ उठाकर बुआ के घर की दिशा में देखता हूँ। चीना की चोटी अपने पहाड़ी संयम से सिर उठाये सदा की तरह सीधा खड़ा है। एक ढलती-सी पथरीली ढलान को उसने जैसे हाथ से थाम रखा है और मैं नीचे इस सड़क पर खड़े-खड़े सोचता हूँ कि सब-कुछ रोज-जैसा है, केवल मन से उभर-उभर आती वे दो आँखें नयी हैं और उन दो आँखों के पीछे की कहीं वहीं बिमारी···जिसे कोई छू नहीं सकता, कोई उबार नहीं सकता। घर पहुँचा तो बुआ बच्चों को लेकर कहीं बाहर चली गई थीं। कुछ देर ड्राइंग रूम में बैठा-बैठा बुआ के सुघड़ हाथों-द्वारा की गई सजावट देखता रहा। कीमती फूलदानों में लगाई गई पहाड़ी झड़ियाँ सुन्दर लगती थीं। कैबिनट पर कीमती फ्रेम में लगे सपरिवार चित्र के आगे खड़ा हुआ तो बुआ के साथ खड़े फूफा की ओर देखकर सोचता रहा कि बुआ के लिए इस चेहरे पर कौन-सा आकर्षण है जिससे बँधी-बँधी वह दिन-रात वर्ष-मास अपने को निभाती चली आती हैं। पर नहीं, बुआ ही के घर में होकर यह सोचना मन के शील से परे है······

झिझककर ड्राइंग रूम से निकलता हूँ और अपने कमरे की सीढ़ियाँ चढ़ जाता हूँ। सिगरेट जलाकर झील के दक्खिनी किनारे पर खुलती खिड़की के बाहर देखने लगता हूँ। हरे पहाड़ों के छोटे बड़े आकारों में टीन की लाल-लाल छतें और बीच-बीच में मटियाली पगडण्डियाँ। बुआ खाने तक लौट आयेंगी और मन्नो भी तो···देर तक बैठा-बैठा किसी पुराने अखबार के पन्ने पलटता रहा। बुआ लौटी नहीं। घड़ी की टन-टन के साथ नौकर ने खाने के लिए अनुरोध किया।

'खाना लगेगा साहिब?'

'बुआ कब तक लौटेंगी?'

'खाने को तो मना कर गई हैं।'

कथन के रहस्य को मैं इन अर्थहीन-सी आँखों में पढ़ जाने के प्रयत्न में रहता हूँ।

'और जो मेहमान है?'

नौकर तत्परता से झुककर—आपके साथ नहीं, साहिब। वह अलग से ऊपर खायेंगी।

मैं एक लम्बी साँस भरकर जले सिगरेट के टुकड़े को पैर के नीचे कुचल देता हूँ। शायद साथ खाने के डर से छुटकारा पाने की विवशता पर। उस दिन खाने की मेज पर अकेले खाना खाते-खाते क्या सोचता रहा था, आज तो याद नहीं; बस इतनी-सी याद है, काँटे-छुरी से उलझता बार-बार मैं बाहर की ओर देखता था।

मीठा कौर मुँह में लेते ही घोड़े की टाप सुनाई दी, ठिठककर सुना—सलाम साहिब।

धीमी मगर सधी आवाज़—दो घण्टे तक पहुँच सकोगे न?

'जी हजूर।'

सिढ़ियों पर आहट हुई और शायद अपने कमरे तक पहुँचकर खत्म हो गई। खाने के बरतन उठ गये। मैं उठा नहीं। दोबारा काफी पी लेने के बाद भी वहीं बैठा रहा। एकाएक मन में आया कि किसी छोटे-से परिचय से मन में इतनी द्विधा उपजा लेनी कम छोटी दुर्बलता नहीं है। आखिर किसी के घर किसी से मिल ही लिया है तो उसके लिए ऐसा क्यों हुआ जा रहा हूँ।

घण्टे भर बाद मैं किसी की पैरों चली सीढ़ियों पर ऊपर चढ़ा जा रहा था। खुले द्वार पर परदा पड़ा था। हौले से थाप दी।

'चले आइये'।

परदा उठाकर देहरी पर पाँव रखा। हाथ में कश्मीरी शाल लिये मन्नो सूटकेस के पास खड़ी थी। देखकर चौंकी नहीं। सहज स्वर में कहा—आइये। और सोफे पर फैले कपड़े उठा कर कहा—बैठिये।

बैठते-बैठते सोचा; बुआ के घर भर में सबसे अधिक सजा और साफ कमरा यही है। नया-नया फर्नीचर, कीमती परदे और इन सबमें हलके पीले कपड़ों में लिपटी मन्नो। अच्छा लगा।

बात करने को कुछ भी पाकर बोला— आप लंच तो······

'जी मैं ले चुकी हूँ'—और भरपूर मेरी ओर देखती रही।

मैं जैसे कुछ कहलवा लेने को कहता हूँ—'बुआ तो कहीं बाहर गई हैं।'

सिर हिलाकर मन्नो शाल की तह लगाती है और सूटकेस में रखते-रखते

कहती है—शाम से पहले ही नीचे उतर जाऊँगी। बुआ से कहियेगा, एक ही दिन को आई थी।

'बुआ तो आती ही होंगी।'

इसका उत्तर न शब्दों में आया, न चेहरे पर से। कहते-कहते एक बार रुका, फिर न जाने कैसे आग्रह से कहा—एक दिन और नहीं रुक सकेंगी?

वह कुछ बोली नहीं। बन्द करते सूटकेस पर झुकी रही।

फिर पल भर बाद जैसे स्नेह-भरे हाथ से अपने बालों को छुआ और हँसकर कहा—क्या करूँगी यहाँ रहकर? भुवाली के इतने बड़े गाँव के बाद यह छोटा-सा शहर मन को भाता नहीं।

वह छोटी-सी खिलखिलाहट, वह कड़वाहट से परे का व्यंग, आज इतने वर्षों के बाद भी, मैं वैसे ही बिल्कुल वैसे ही सुन रहा हूँ। वही हँसी है और वही पीलो-सी सूरत......

हम संग-संग नीचे उतरे थे। मेरी बाँह पर मन्नो का कोट था। नौकर और माली ने झुककर सलाम किया और अतिथि से इनाम पाया। साइस ने घोड़े को थपथपाया।

'हजूर चढ़ेंगी?'

उड़ती-उड़ती नजर उन आखों की बाँह पर लटके कोट पर अटकी।

'पैदल आऊँगी। घोड़ा आगे-आगे लिये चलो।'

चाहा कि घोड़े पर चढ़ जाने के लिए अनुरोध करूँ, पर कह नहीं पाया। फाटक से बाहर होते-होते वह पल भर को पीछे मुड़ी, जैसे छोड़ने के पहले घर को देखती हो। फिर एकाएक अपने को सँभाल कर नीचे उतर गई। राह में कोई कुछ बोला नहीं।

टैक्सी खड़ी थी, समान लदा। ड्राइवर ने उन कठिन क्षणों को मानों भाँपकर कहा—कुछ देर है, साहिब?

मन्नो ने इस बार कहीं देखा नहीं, कोट लेने के लिए मेरी ओर हाथ बढ़ा दिया।

कार में बैठी तो कुली ने तत्परता से पीछे कम्बल निकाला और घुटनों पर

डालते हुए कहा—कुछ और, मेम साहिब ?

घँघराली छाँह ढीली-सी होकर सीट के साथ जा टिकी। घुटनों पर पतली-पतली विवश-सी बाहें फैलाते हुए धीरे से कहा—नहीं, नहीं, कुछ और नहीं। धन्यवाद।

अधखुले काँच में से अन्दर झाँका। मुख पर थकान के चिन्ह थे। बाहों में मछली-मुखी कंगन थे। आँखों में क्या था, यह मैं पढ़ नहीं पाया। वह पीली, पतझड़ी दृष्टि उन हाथों पर जमी थी, जो कम्बल पर एक दूसरे से लगे मौन पड़े थे।

कार स्टार्ट हुई। मैं पीछे हटा और कार चल दी। बिदाई के लिए न हाथ उठे, न अधर हिले। मोड़ तक पहुँचने तक पीछे के शीशे से सादगी से बँधा बालों का रिबन देखता रहा और देर तक वह दर्दीले धन्यवाद की गूँज सुनता रहा—नहीं, नहीं, कुछ और नहीं।

वे पल अपनी कल्पना से आज भी लौटाता हूँ तो जी को कुछ होने लगता है। उस कार को भगा ले जानेवाली सूखी सड़क से घूमकर मैं ताल के किनारे-किनारे चला जा रहा हूँ। अपने को समझाने-बुझाने पर भी वह चेहरा, वह बीमारी मन पर से नहीं उतरती। रुक-रुककर, थक-थककर जैसे मैं उस दिन घर की चढ़ाई चढ़ा था, उसे याद कर आज भी निढाल हो जाता हूँ। घर पहुँचा। बरामदे में से कुली फर्नीचर निकाल रहे थे। मन धक्का खाकर रह गया। तो उस मन्नो के कमरे की सजावट, सुख-सुविधा सब किराये पर बुआ ने जुटाये थे। दोपहर में बुआ के प्रति जो कुछ जितना भी अच्छा लगा था, वह सब उल्टा हो गया।

आगे बढ़ा तो द्वार पर बुआ खड़ी थीं। सन्देह से मुझे देखा और पास होकर फीके गले से कहा—रवि, मुँह-हाथ धो डालो, सामान सब तैयार मिलेगा वहाँ; जल्दी लौटोगे न, चाय लगने को ही है !

चुपचाप बाथ-रूम में पहुँच गया। सामान सब था। मुँह-हाथ धोने से पहले गिलास में ढँककर रखे गर्म पानी से गला साफ किया। ऐसा लगा, किसी की घुटी-घुटी जकड़ में से बाहर निकल आया हूँ। कपड़े बदलकर चाय पर जा बैठा।

बच्चे नहीं, केवल बुआ थी। बुआ ने चाय उड़ेली और प्याला आगे कर दिया।

'बुआ।'

बुआ ने जैसे सुना नहीं।

बुआ, बुआ!—पल भर के लिए अपने को ही कुछ ऐसा-सा लगा कि किसी और को पुकारने के लिए बुआ को पुकार रहा हूँ। बुआ ने विवश हो आँखें ऊपर उठाईं। समझ गया कि बुआ चाहती हैं, कुछ कहूँ नहीं, पर मैं रुका नहीं।

'बुआ, दो दिन की मेहमान तो एक दिन में चली गई।'

सुनकर बुआ चम्मच से अपनी चाय हिलाने लगीं। इस मौन से मैं और भी निर्दयी हो गया।

'कहती थी, बुआ से कहना मैं एक ही दिन को आई थी।'

इसके आगे बुआ जैसे कुछ और सुन नहीं सकीं। गहरी लम्बी श्वास लेकर आहत आँखों से मुझे देखा—तुम कुछ और नहीं कहोगे रवि!—और चाय का प्याला वहीं छोड़ कमरे से बाहर हो गईं।

उस रात दौरे से फूफा के लौटने की बात थी। नौकर से पूछा तो पता लगा, दो दिन के बाद आने का तार आ चुका है। चाहा, एक बार बुआ के कमरे तक हो आऊँ, पर संकोचवश पाँव उठे नहीं। कुछ देर बाद सीढ़ियों में अपने को पाया तो सामने मन्नो का खाली कमरा था। आगे बढ़कर बिजली जलाई, सब खाली था, न परदे, न फर्नीचर...न मन्नो...एकाएक अँगीठी में लगी लकड़ियों को देख मन में आया, आज वह यहाँ रहती तो रात देर गये इसके पास यहीं बैठी रहती और मैं शायद इसी तरह जैसे अब यहाँ आया हूँ उसके पास आता, उसके...

यह सब मैं क्या सोच रहा हूँ, क्यों सोच रहा हूँ...

किसी अनदेखे भय से घबराकर नीचे उतर आया। खिड़की से बाहर देखा, अँधेरा था। सिरहाना खींचा, बिजली बुझाई और बिस्तर पर पड़े-पड़े भुवाली की वह छोटी-सी काटेज देखता रहा, जहाँ तक मन्नो पहुँच गई होगी।

'रवि!'

मैं चौंका नहीं, यह बुआ का स्वर था। बुआ अँधेरे में ही पास आ बैठीं और हौले-हौले सिर सहलाती रहीं।

'बुआ।'

बुआ का हाथ पल भर को थमा। फिर कुछ झुककर मेरे माथे तक आ गया। बँधे स्वर से कहा—रवि, तुम्हें नहीं, उस लड़की को दुलराती हूँ। अब यह हाथ उस तक नहीं पहुँचता...

मैं बुआ का नहीं, मानो मन्नो का हाथ पकड़ लेता हूँ।

बुआ देर तक कुछ नहीं बोलीं। फिर जैसे कुछ समझते हुए अपने को कड़ा कर कहा—रवि, उसके लिए कुछ मत सोचो, उसे अब रहना नहीं है।

मैं बुआ के स्पर्श-तले सिहर कर कहता हूँ—बुआ, मुझे ही कौन रहना है?

आज वर्षों बाद भुवाली में पड़े-पड़े मैं असंख्य बार सोचता हूँ कि उस रात मैं अपने लिए यह क्यों कह गया था? क्या कह गया था वे अभिशाप के बोल, जो दिन-रात मेरे इस तन-मन पर सच्चे उतरे जा रहे हैं? सुनकर बुआ को कैसा लगा, नहीं जानता। हाथ खींचकर उठी, रोशनी की ओर पूरी आँखों से मुझे देखकर अविश्वास और भर्त्सना से कहा—पागल हो गये हो, रवि! उसके साथ अपनी बात जोड़ते हो जिसके लिए कोई राह नहीं रह गई, कोई और राह नहीं रह गई।

फिर कुर्सी पर बैठते-बैठते कहा—रवि, तुम तो उसे सुबह-शाम ही देख पाये हो, मैं वर्षों से उसे देखती आयी हूँ और आज पत्थर-सी निठुर हो गयी हूँ। उसे अपना बच्चा ही करके मानती रही हूँ, यह नहीं कहूँगी। अपने बच्चों की तरह तो अपने बच्चों के सिवाय और किसे रखा जा सकता है। पर जो कुछ जितना भी था, वह प्यार, वह देख-भाल सब व्यर्थ हो गये हैं। कभी छुट्टी के दिन उसकी बोर्डिंग से आने की राह ताकती थी, अब उसके आने से पहले उसके जाने का क्षण मनाती हूँ और डरकर बच्चों को लिए घर से बाहर निकल जाती हूँ।

बुआ के बोल कठिन हो आये।

'रवि, जिसे बचपन में मोहवश कभी डराना नहीं चाहती थी, आज उसी से डरने लगी हूँ, उसकी बीमारी से डरने लगी हूँ।'—फिर स्वर बदल कर कहा—

तुम्हारा-ऐसा जीवट मुझमें नहीं कि कहूँ, डरती नहीं हूँ।—बुआ ने यह कहकर जैसे मुझे टटोला...और मैं बिना हिले-डुले चुपचाप लेटा रहा रहा।

बुआ असमंजस में देर तक मुझे देखती रहीं। फिर जाने को उठीं और रुक गईं। इस बार स्वर में आग्रह नहीं, चेतावनी थी—'रवि, कुछ हाथ नहीं लगेगा। जिसके लिए सब राह रुके हों, उसके लिए भटको नहीं।'

पर उस दिन बुआ की बात मैं समझा नहीं, चाहने पर भी नहीं।

अगली सुबह चाहा कि घूम-घूमकर दिन बिता दूँ। घोड़ा दौड़ाता लड़ियाकोटा पहुँचा और उन्हीं पैरों लौट आया। घर की ओर मुँह करते-करते, न जाने क्यों मन को कुछ ऐसा लगा कि मुझे घर नहीं, कहीं और पहुँचना है। चढ़ाई के मोड़ पर कुछ देर खड़ा-खड़ा सोचता रहा और जब ढलती दुपहरी में तल्लीताल की उतराई उतरा, तो मन के आगे सब साफ था।

मुझे भुवाली जाना था।

बस से उतरा। अड्डे पर रामगढ़ के लाल-लाल सेबों के ढेर देखकर यह नहीं लगा कि यही भुवाली है। बस में सोचता आया था कि वहाँ घुटन होगी, पर चीड़ के ऊँचे-ऊँचे पेड़ों से लहराती हवाएँ बह-बह आती थीं। छाँह ऊपर उठती है, धूप नीचे उतरती है और भुवाली मन को अच्छी लगती है। तन को अच्छी लगती है। चौराहे से होकर पोस्ट आफिस पहुँचा। काटेज का पता लिया और छोटे से पहाड़ी बाजार में होता हुआ 'पाइन्स' की ओर हो लिया। खुली-चौड़ी सड़क के मोड़ से अच्छी-सी पतली राह ऊपर जा रही थी। जँगले से नीचे देखा, अलग-अलग खड़े पहाड़ों के बीच की जगह पर एक खुली-चौड़ी घाटी बिछी थी। तिरछे सीधे, छोटे-छोटे खेत किसी के घुटने पर रखे कसीदे के कपड़े की तरह धरती पर फैले थे। दूर सामने दक्खिन को ओर पानी का ताल धूप में चाँदी के थाल की तरह चमकता था।

इस पहली बार भुवाली आने के बाद मैं एक बार नहीं, कई बार यहाँ आया। लौट-लौटकर यहाँ आया, पर उस आने-जैसा आना तो फिर कभी नहीं आया। मैं चलता हूँ, चलता हूँ और कुछ सोचता नहीं हूँ। न यह सोचता हूँ कि मैं जा रहा हूँ। बस चला जा रहा हूँ। पेड़ के तने पर लिखा है, 'पाइन्स'।

लकड़ी का फाटक खोलता हूँ और गमलों की कतारों के साथ-साथ बरामदे तक पहुँच जाता हूँ। कार्पेट पर हौले-हौले पाँव रखता हूँ कि कम आवाज हो। द्वार खटखटाता हूँ और झुकी कमर, पर अनुभवी चेहरा इधर बढ़ा आता है। जान लेता हूँ कि यही पुराना नौकर है।

'घर में हैं ?'

'बिटिया को पूछते हो, बेटा ?'

मैं सिर हिलाता हूँ।

'बिटिया नीचे ताल को उतरी थीं, लौटती ही होंगी।'

मैं बाहर खुले में बैठा-बैठा प्रतीक्षा करता हूँ। मन्नो अब आ रही है, आनेवाली है, आती ही होगी।

थककर फाटक की ओर पीठ कर लेता हूँ। जब यह सोचूँगा कि वह देर से आयगी, तो वह जल्दी आयगी।

घोड़े की टाप सुन पड़ती है। अपने को रोक लेता हूँ। और मुड़कर देखता नहीं।

'बाबा !'—पुकार का-सा स्वर। लगा कि दो आँखें मेरी पीठ पर हैं! उठा। बढ़कर मन्नो की ओर देखा, आँखों में न आश्चर्य था, न उत्कण्ठा थी, न उदासीनता थी। बस, मन्नो की ही आँखों की तरह वह दो आँखें मेरी ओर देखती चली गई थीं।

'बाबा !'—बूढ़ा नौकर लपककर घोड़े के पास आया और लाड़ के-से स्वर में बोला—उतरो बिटिया, बहुत देर कर दी।—और हाथ आगे बढ़ा दिया।

मन्नो सहारा लेकर नीचे उतरी।—तनिक अम्मा को तो बुलाओ, बाबा, मेरा जी अच्छा नहीं।

'सुख तो है बिटिया ?'

चिन्ता का यह स्वर सुनकर बिटिया जरा-सा हँस दी, फिर रुककर लम्बी साँस भरकर बोली—अच्छी-भली हूँ, बाबा, बड़ी अम्मा से कहो, बिछौना लगा दे।'

बाबा ने बिटिया के लिए कुर्सी खींच दी। फिर सहम कर पूछा—बिटिया, लेटोगी ?

'हाँ, बाबा।'

इस बार मन्नो ने बाबा की ओर देखा नहीं, जैसे कोई अपराध बन आया हो; फिर मेरी ओर झुककर कहा—क्या बहुत देर हुई?

'नहीं!'—मैं सिर हिलाता हूँ, पर आँख नहीं।

इस बार झिझक से नहीं अधिकार से पूछता हूँ—क्या जी अच्छा नहीं?

मन्नो ने पल भर को थकी-थकी पलकें मूँद लीं और कुछ बोली नहीं।

बूढ़ी दासी दौड़ी-दौड़ी शाल लिए आई और कंधों पर ओढ़ाकर जैसे अपने को ही दिलासा देने के लिए कहा—मन्नो, ख्याली क्यों घबराने लगी। अभी सब ठीक हुआ जाता है। इनके लिए क्या चाय भेजूँ?

मन्नो एकदम कुछ कह नहीं पाई। फिर कुछ सोचकर बोली—अम्मा, पूछ देखो। पीयेंगे तो नहीं।

मैं कुछ ठीक-ठीक समझा नहीं। व्यस्त होकर कहा—नहीं, मुझे अभी कुछ भी पीना नहीं है।

मन्नो ने जैसे न सुना, न मुझे देखा ही।

फिर जैसे अम्मा को मेरे परिचय की गम्भीरता जताने के लिए पूछा—चाची तो अच्छी हैं, अभी चाचा लौटे तो न होंगे?

बड़ी माँ झट समझ गईं, मन्नो की चाची के यहाँ से आया हूँ। बोलीं—बेटा, आने की खबर देते तो मन्नो के लिए कुछ मंगवा लेती।

'बड़ी माँ, अन्दर जाकर देखो न, मैं थकी हूँ, अब बैठूँगी नहीं।'

मैं लज्जित-सा बैठा रहा। कुछ फल ही लिये आता।

मन्नो कुछ देर मेरे चेहरे पर मेरा मन पढ़ती रही, फिर धीमे से ऐसी बोली, मानो मुझे नहीं, अपने को कहती है—यहाँ न कुछ लाना ही ठीक है, न कुछ ले ही जाना…

मैं अपनी नासमझी पर पछता कर रह गया।

मन्नो अन्दर चली तो आप-ही-आप मैं भी साथ हो लिया। कम्बल उठा कर बड़ी माँ ने बिटिया को लिटाया, बाल ढीले करते-करते माथे को छुआ और मेरे लिए कुर्सी पास खींचकर बाहर हो गई।

'मन्नो……'

मन्नो बोली नहीं। दुबली-सी बाँह तनिक-सी आगे की ओर…फिर एका-एक कुछ सोचकर पीछे खींच ली।…आज जब स्वयं भी मन्नो-सा बन गया हूँ, सौ बार अपने को न्यौछावर कर उसी क्षण को लौटा लेना चाहता हूँ। मैं कुर्सी पर बैठा-बैठा उस बाँह को छू नहीं सका था? क्यों उस हाथ को सहला नहीं सका था? उमड़ते मन को किसी ने जैसे जकड़कर वहीं, उस कुर्सी पर ठहरा लिया था।

क्या था उस झिझक में? क्या था उस झिझकनेवाले मन में? रहा होगा, यही भय रहा होगा, जो अब मुझसे मेरे प्रियजनों को दूर रखता है। उस रात जब जाने को उठा था तो आँखों का मोह पीछे बाँधता था, मन का भय आगे खींचता था। और जब जल्दी-जल्दी चलकर डाक-बँगले में पहुँच गया तो लगा कि मुक्त हो गया हूँ, क्षण-क्षण जकड़ते बन्धन से मुक्त हो गया हूँ। उस अभागी रात में जो मुक्ति पाई थी, वह मुझे कितनी फली? चाहता हूँ, एक बार मन्नो देखती तो!

रात भर ठीक से सो नहीं पाया। बार-बार नींद में लगता कि भुवाली में हूँ, भुवाली में सोया हूँ, वही 'पाइन्स' का बड़ी-बड़ी खिड़कियों वाला कमरा है। मन्नो के पलंग पर लेटा हूँ और पास पड़ी कुर्सी पर बैठी-बैठी मन्नो अपनी उन्हीं दो आँखों से मुझे निहारती है। मैं हाथ आगे करता हूँ और वह थोड़ा-सा हँसकर सिर हिलाती हुई कहती है—नहीं, इसे कम्बल के नीचे कर लो। अब इसे कौन छूएगा?

मन्नो!

मन्नो कुछ कहती नहीं, हँस भर देती है। रात भर इन दुःस्वप्नों में भटकने के बाद जगा, तो बुआ दीख पड़ीं।—कुछ हाथ नहीं लगेगा रवि।

उस सुबह फिर मैं रुका नहीं, न डाक-बंगले में, न भुवाली में। बस के अड्डे पर पहुँचा तो धूप में बुझी-बुझी भुवाली मुझे भयावनी लगी। एक बार जी को टटोला—'पाइन्स'…नहीं…नहीं…कुछ नहीं…लौट जाओ।

घर पहुँचकर बुआ मिलीं। बड़ी चेतावनीवाला खिंचा-खिंचा चेहरा था

···भरपूर। मुझे देखकर जैसे साँस रोके पूछा—कहाँ थे कल !

'रानीखेत तक गया था बुआ।'

'कह तो जाते।'

मैं न जाने किस उलझन में खोया कह गया—कहने को, बुआ, था क्या ?

दोपहर में फूफा मिले। कल लौटे थे और सदा की तरह गम्भीर थे। खाना खाते उन्हें देखता रहा। एकाएक उन्हें प्लेट पर से आँखें उठाकर बुआ की ओर देखते हुए देखा तो सचमुच में जान गया कि फूफा के भाई अवश्य ही मन्नो के पिता होंगे। दृष्टि में वही ठहराव था, वही अचंचलता थी।

फूफा ने खाने पर से उठते-उठते उलझे-से स्वर में मुझसे पूछा—रवि, बुआ तुम्हारी लखनऊ तक जाना चाहती हैं, पहुँचा आ सकोगे ?

'जी, सकूँगा।'

मैं, बुआ और बच्चे नैनी से नीचे उतर रहे हैं। मैं पीछे की सीट पर बैठा-बैठा बिदा हो जाने का प्रयत्न करता हूँ। चौड़े मोड़ से बस नीचे की ओर मुड़ी। खिड़की के बाहर देखा तो पहाड़ की हरियाली में वही कलवाली भुवाली की सफेदी दीख रही थी।

× × × ×

काठगोदाम से लखनऊ। एक रात बुआ की ससुराल रुककर बुआ से बिदा लेने गया तो बुआ ने पूछा—कहाँ जाने की सोच रहे हो, रवि ? कुछ दिन यहीं न रुको।

'नहीं बुआ।'

बुआ इस नहीं को एकाएक स्वीकार नहीं कर सकीं। पास बिठाकर कुछ देर देखती रहीं। फिर स्नेह से कहा—फिर जाओगे कहाँ ?

'बुआ, कुछ पता नहीं।'

बुआ कुछ कहना चाहती थीं, पर कह नहीं पा रही थीं। कुछ रुकते-रुकते कहा—रवि, तुम्हारे फूफा तो तुम्हें नैनी लौटने को कहते थे।

'नहीं बुआ, अब तो दक्खिन जाऊँगा, पिताजी के पास।'

बुआ को जैसे विश्वास नहीं हुआ। कुछ याद-सी करती बोलीं—रवि, इस

बार तुम्हें वहाँ अच्छा नहीं लगा।

'नही, नहीं, बुआ!'

बुआ चाहती थीं, मुझसे कुछ पूछें; मैं चाहता था बुआ से कुछ कहूँ, पर किसी से भी शब्द जुड़े नहीं।

स्टेशन पर जाने लगा तो बुआ के पाँव छुए। बुआ बहुत बड़ी नहीं हैं मुझसे। पिताजी की सबसे छोटी मौसेरी बहिन होती हैं, पर दिल में कुछ ऐसा-सा लगा कि बुआ का आशीर्वाद चाहता हूँ।

बुआ हैरान हुईं, फिर हँसकर बोलीं—रवि, तुमने पाँव छुए हैं तो आशीर्वाद जरूर दूँगी···बहुत सुन्दर बहू पाओ!

मैं न हँसा, न लजाया। बुआ चुप-सी रह गईं। जिस नटखट भाव से वह कुछ कह गई थीं, उसे मानो अनदेखे संकोच ने घेर लिया।

टिकट लिया, कुली के पास सामान छोड़ प्लेटफार्म पर घूमने लगा। आमने-सामने कोई गाड़ी नहीं थी। लाइनों पर बिछे खालीपन ने उलझे मन को एका-एक खोल दिया। जो कुछ भी सोच रहा था, सोचता चला गया। मन न भुवाली पर अटका, न 'पाइन्स' पर, न मन्नो पर। पिछला सब बीत गया लगा। बुआ का आशीर्वाद कल्पना में मुखर आया। घर होगा, घर की रानी होगी, मैं हूँगा···

बुआ का आशीर्वाद झूठ नहीं निकला। सच ही मेरा घर बना। सुन्दर घरनी आई और उसे मैं ही ब्याह कर लाया। पर उस दिन जहाँ का टिकट ले लिया था, वहाँ की गाड़ी मुझे खींचकर उस प्लेटफार्म पर ले जा नहीं सकी।

गाड़ी आ लगी है। कुली सामान लगाता है और मैं बाहर खड़े-खड़े देखता हूँ, मुसाफिर, कुली, सामान, बच्चे, बूढ़े···

'साहिब, गाड़ी छूटने में दस मिनट हैं।'

मैं अपनी घड़ी देखता हूँ, और सिर हिला देता हूँ कि मैं जानता हूँ।

कुली एक बार फिर अन्दर जाकर असबाब ऊपर-नीचे करता है और साफा ठीक करते हुए बाहर निकल कर कहता है—लाल बत्ती हो गई है साहिब।

बत्ती की ओर देखता हूँ और देखता चला जाता हूँ, वही कद है, वही

दुबली-पतली देह, वही धुला-धुला सा चेहरा, वही···वही···

आवेश से कहता हूँ—कुली, सामान उतार लो।

'साहिब!'

'जल्दी करो, जल्दी!'

कुली फिर मेरे सामान के साथ है। टिकट वापस कर नया ले लिया। स्टेशन से फल के टोकरे बँधवाये, चाय पी और बरेली के लिए गाड़ी में जा बैठा। जहाँ मुझे जाना है, वहाँ जाकर हटूँगा, जब मैं ही नहीं रुकता हूँ तो मुझे कौन रोकेगा? क्यों रोकेगा?

× × × ×

घर में आगे लान में बैठा सर्दियों की ढलती धूप में अलसा रहा हूँ। अन्दर से माँ निकली और पास बैठते हुए कहा—बेटा, इस बार छुट्टी में आ ही गये हो तो ठहर जाओ। बार-बार इनकार करना अच्छा नहीं लगता।

माँ की बात सुनकर मैं सयाने बेटे की तरह हँसता हूँ और मन-ही-मन सोचता हूँ कि माँ कितना ठीक कहती है। अपनी नौकरी पर रहता हूँ और अकेले आदमी के खर्च से कहीं अधिक कमाता हूँ, फिर क्यों इन्कार करूँगा? माँ की आशा के विपरीत बड़ी आवाज़ में कहता हूँ—माँ, जो तुम्हें रुचे, वही मुझे भायेगा।

'बेटा, लड़की देखना चाहोगे?'

'हाँ, माँ।'

लगा, माँ मन-ही-मन हँसी।

खाने के बाद रात को घूमकर आया तो कमरे में शान्ति थी। किसी को देखने के लिए कालेज के दिनोंवाली जिज्ञासा मन में नहीं रह गई थी। लगा कि अकेले रहते-रहते किसी के संग की आशा नहीं कर रहा, उसे तो अपना अधिकार करके मान रहा हूँ।

हाथ में किताब लेकर रात को लेटा तो पढ़ते-पढ़ते ऊब गया। आँखों के अँधेरे में देखा, किसी पहाड़ पर चढ़ा जा रहा हूँ। दूर चीड़ के पेड़ों के झुण्ड के झुण्ड दीखते हैं, आसमान सब सुनसान है, अपनी पद-चाप के सिवाय कोई

आवाज नहीं। एकाएक किसी का स्वर गूँजता है, इधर...उधर...और अँधेरे में हिलता एक हाथ आगे बढ़ा-बढ़ा आता है मेरे गले की ओर निकट...और निकट...

दुबली कलाई......पतली अँगुलियाँ...मैं डरता हूँ...पीछे हटता हूँ और घबराकर आँखें खोल देता हूँ।

उठा, खिड़की का परदा उठाकर बाहर झाँका। लान के दाहिने हरी घास पर पिताजी के कमरे की लाइट फैली थी। सँभला। लम्बी साँस लेकर बालों को छुआ तो माथा ठण्डा लगा। भयावना सूनापन और अँधेरे में वह हाथ... वह हाथ...

मन से जिसे भूल चुका हूँ, उसे आज ही याद क्यों आना था...क्यों याद आना था...क्यों दीख जाना था उस हाथ को, जो वर्षों गये 'पाइन्स' की उतराई से उतरते-उतरते मैंने अन्तिम बार देखा था? छुआ था, नहीं कहूँगा, क्योंकि असंख्य बार सोच-सोचकर छू भर लेने के लिए बाँह आगे करनी, छू लेना नहीं होता।

महीना भर नैनी में रहते हुए बार-बार भुवाली से लौटने के बाद जब अन्तिम बार मैं मन्नो के पास से लौटा था, तो लौट-लौटकर उस लौटने को न लौटना करना चाहता था। तीन बार नीचे उतरा था और तीन बार मुड़कर ऊपर गया था।

मन्नो शाल में लिपटी आराम कुर्सी पर अधलेटी थी। पास खड़े होकर उसकी चुप्पी को जैसे उसपर से उतार देने को उदास स्वर में कहा—कल तो नैनी से नीचे उतर जाऊँगा।

मन्नो ने नीचे फैले शाल को सहज-सहज सहेजा। एक महीने पहलेवाली दृष्टि मुख पर लौट आई। वही पराया-सा देखना, वही दूर-दूर-सा लगता चेहरा...

मन्नो...चाहता हूँ, मन्नो से कुछ तो कहूँ, पर क्या कहूँ। यह कि जल्दी लौटूँगा...

क्षण-क्षण अपने से कहता हूँ, आऊँगा, फिर आऊँगा, पर जिस निगाह से मन्नो मुझे देखती है, वह जैसे बिना बोल के यह कहे जा रही है कि अब तुम

यहाँ नहीं आओगे।

'मन्नो।'

'रवि'—और, और बस कठिन-सी होकर जरा-सा हँसी और हाथ जोड़ दिये। नमस्कार।

इन जुड़े-जुड़े हाथों को देखता रहा। जरा-सा आगे बढ़ा कि बिदा लूँ, बिदा दूँ, पर न जाने क्यों खड़ा-का-खड़ा रह गया।

समझाने के-से स्वर में मन्नो बोली—देर होती है रवि।

जी भरकर देखनेवाली अपनी आँखों को झुकाकर मैं जल्दी-जल्दी नीचे उतर गया।

मैं फिर लौटूँगा...फिर...पर क्या सदा के लिए चला जा रहा हूँ...

मुड़कर पीछे देखा और खिंचकर ठिठक गया। मन्नो वहीं, उसी मुद्रा में बैठी थी।

मानो वह जानती थी कि लौटूँगा। साथ पड़ी कुर्सी की ओर संकेत कर कहा—बैठो, रवि।—स्वर में न व्यथा थी, न संग छूटने की उदासी न मेरे आने पर आश्चर्य था। आँखों-ही-आँखों में कुछ ऐसा देखा, जैसे पूछती हो—कुछ कहना है?

मैं अपने को बच्चे की तरह छोटा करके कहता हूँ—मन्नो, मन नहीं होता जाने को।

मन्नो कुछ देर देखती रहती है। मैं चाहता हूँ मन्नो कुछ भी कहे, कहे तो...

एक छोटी-सी साँस जैसे छोटी-से-छोटी घड़ी के लिए उसके गले में अटकी, फिर, फिर घने स्वर में कहा—एक-न-एक वार तो तुम्हें चले ही जाना है, रवि...

मैं हाथों से घेरकर उस देह को नहीं, तो उस स्वर को छू लेना चाहता हूँ, चूम लेना चाहता हूँ।—मन्नो!—आगे बढ़ता हूँ, कुछ रोक लेने को, थाम लेने की मुद्रा में मन्नो दोनों हाथ आगे डाल देती है, बस।

'मन्नो!...' अपना अनुरोध उस तक पहुँचाना चाहता हूँ।

'नहीं'—इस नहीं के आगे नहीं है और कुछ नहीं।

मन्नो दुबला-सा हाथ हिलाकर आँखों से मुझे बिदा देती है और मैं विवश-सा, व्यर्थ-सा नीचे उतरता हूँ।

आँखों पर धुन्ध-सी उमड़ आती है, सँभलता हूँ, सँभलता हूँ और एक बार फिर पीछे देखता हूँ।

बिलकुल ऐसे लगता है कि किनारे पर खड़ा हूँ और किश्ती में बैठी मन्नो बही चली जा रही है...वह मुझे नहीं देखती, नहीं देखती, उसकी आँखों के आगे उसके अपने हाथों की रोक है, अपने हाथों की ओट है।

हाथों पर टिका मन्नो का सिर नीचे झुका है, आँखें शायद बन्द हैं, शायद गीली हैं। उस कड़े आहत अभिमान की बात सोचकर छटपटाता हूँ।

कदम उठाकर फाटक के पास पहुँचा तो सिसकियाँ सुनकर रुक गया।

मन-ही-मन दुहराकर कहा—मन्नो!...मन्नो!...

इसी पुकार को पलटकर जैसे उत्तर आया—ठहरो नहीं! रुको नहीं!

सच ही मैं ठहरा नहीं। उतरता चला गया और हर पग के साथ दूर होता चला गया, उस काटेज से, काटेज में रहनेवाली मन्नो से, मन्नो की उन दो आँखों से।

× × × ×

पर मन्नो की स्मृति से नहीं। मन्नो की याद मुझे आज भी आती है। आज भी वह याद आती है, वह दुपहरी जब मन्नो और मैं उस बड़ी झील के किनारे से लगी पगडण्डी पर घूमते रहे थे। मीठा-सा दिन था। पहली बार उस पीले चेहरे की मिठास के सम्मुख मैं पानी-सा बह गया था। एकटक उन घुँघराले बालों को देखता रह गया था। और देखता गया था शाल में लिपटे उन कन्धों को, जो पैरों की धीमी चाल से थककर भी झुकते नहीं थे।

परिक्रमा का अन्तिम मोड़ आया तो बहुत बड़े घने वृक्ष के नीचे देवी के दो छोटे-छोटे मन्दिर दिखे। टीन के कपाट बन्द थे। कुछ अधिक न सोचकर आगे बढ़ने को हुआ कि मन्नो को देखकर रुक गया। खड़ी-खड़ी कुछ देर सोचती रही। फिर जूते उतार नगे पाँव किनारे के पत्थरों से नीचे उतर गई। बड़े से पत्थर पर पाँव जमाया और झुककर डण्ठल से कमल तोड़ वापस लौट

आई। मैं तो कुछ सोच नहीं रहा था। शाल सिर पर कर लिया था और उन बन्द कपाटों के आगे वाली दहलीज पर फूल रखकर सिर नवा दिया।

मन्दिर के बन्द कपाटों के आगे माथा टेक मन्नो उठी तो मानो मन्नो-सी नहीं लग रही थी। ऐसे दिखा कि यह झुकी छाया मन्नो नहीं, मन्नो की व्यर्थ हो गई विवशता थी जिसने भाग्य के इन बन्द कपाटों के आगे माथा टेक दिया था। इस निर्मम अकेलेपन के लिए मन में ढेर-सा दर्द उठ आया। बहते-से स्वर में कहा—दर्शन करने का मन हो मन्नो, तो किसी से पुजारी का स्थान पूछूँ?

मन्नो ने कुछ कहने से पहले स्वर को सँभाला, फिर सिर हिलाकर कहा—नहीं रवि, ऐसा कुछ नहीं। मुझे कौन वरदान माँगने हैं। अपने लिए तो कपाट बन्द हो गये हैं। बस, इतना ही चाहती हूँ, यह कपाट उनके लिए खुले रहें, जिनसे बिछुड़कर मैं अलग आ पड़ी हूँ।

मन्नो को छूने का भय, उसके रोग का भय, जो अब तक मुझे रोकता था, बाँधता था, अलग जा पड़ा। झील की ठण्डी हवा में फहराते-से घुँघराले बालों पर झुककर बाँह से घेरते हुए कहा—मन्नो···।

मन्नो चौंकी नहीं। कन्धे पर पड़ा हाथ धीरे से अलग कर दिया और समूची आँखों से देखते हुए बोली—रवि, जिसे तुम झेल नहीं सकते, उसके लिए हाथ न बढ़ाओ!

आवाज़ में न उलाहना था, न व्यंग था, न कटुता। बस, जो कहने को था, वही कहा गया था। इस कहने का उत्तर मैं उस दिन नहीं दे पाया। बार-बार मन्नो के पास जाने पर भी नहीं दे पाया और नहीं दे पाया बिदा के उन क्षणों में, जब मन्नो को रोता छोड़ मैं अन्तिम बार 'पाइन्स' की उतराई उतरता चला गया था। जिस दुर्बलता से कायर बन कर डरा था, वह आज अपने पर ही बीत गई है। आज अपने लिए, मन्नो के लिए उस कायरता को कोसता हूँ।

× × × ×

घर में चहल-पहल थी। माँ को सुन्दर बहू मिली, मुझे भली संगिनी। भोलेपन से मुस्कुराती मीरा को देखता हूँ तो कहीं खो जाने को मन चाहता है। लेकिन अब खोऊँगा क्यों? अब तो बँध गया हूँ, बँधा रहूँगा। आसपास नाते-

रिश्ते हैं, मित्र-बन्धु हैं। ब्याहवाले घर के ऊँचे कहकहे सुनकर खुशी से मन उमड़-उमड़ आता है। कैसा आयोजन होता है वह भी? एक दिन दो बात शुरू हो जाती है, उसे सम्पूर्णतया पूर्ण कर दिया जाता है। इतने समूचे मन से ब्याह के सिवाय और क्या होता है, जो सम्पन्न होकर एक टेक पर, एक विराम पर पहुँच जाता है। तन मन, घर-द्वार, अन्दर-बाहर सब एक ही प्यार में भींग जाते हैं। कल मीरा को लेकर समुद्र किनारे चला जाऊँगा। महीना भर रुककर वहाँ के लिए प्रस्थान करेंगे, जहाँ अब तक मैं बेघर-सा होकर रहता रहा हूँ।

× × × ×

उस अपार, असीम सागर के किनारे एक-दूसरे पर छा-छा जाते हम घंटों घूमते रहे। बीच-बीच में ठहरते और मोहवश एक-दूसरे में छिपे अपने-अपने प्यार को चूमते। सुबह-शाम, दिन-रात कहाँ छिपते, कहाँ डूबते, यह हम देख-देखकर भी नहीं देखते थे।

इसके बाद, प्रहरों की तरह बीत गये वे दस वर्ष। संग-संग लगे विछोह से दूर मग्न दिन-रात। मीरा और बच्चों से दूर इस काटेज में पड़ा-पड़ा आज भी पीछे लौटता हूँ तो बहुत निकट से किसी साँस का स्वर सुनता हूँ।

हम कितने सुखी हैं, कितने! चाहता हूँ किसी की आँखों में देखकर इसका उत्तर दूँ। किसी को छूकर कुछ कहूँ, पर सुननेवाला कोई पास नहीं। बच्चों के लिए मीरा ने मेरा मोह छोटा कर लिया।

गये महीने रानीखेत जाते मीरा बच्चों के संग घण्टे भर को यहाँ रुकी थी। बरामदे में लेटे-लेटे उन तीनों को ऊपर आते देखता रहा। फाटक पर पहुँच कर मीरा पलभर को ठिठकी थी। फिर दोनों हाथों से बच्चों को घेरे अन्दर ले आई।

'मुन्ना, रानी, प्रणाम करो बेटा।'

बच्चों के झिझक से बँधे हाथ मेरी ओर उठे।

देखकर कण्ठ भर आया। मेरा भाग्य मुझसे दूर मुझसे अलग जा पड़ा है। मेरे ही बच्चे आश्चर्य की दृष्टि से मुझे देख माँ की आज्ञा का पालन कर रहे हैं।

मीरा जब तक रही, आँखें पोछती रही। कुछ कहने को, कुछ पूछने को उसका स्वर बँधा नहीं। अपने सुन्दर सुकुमार बच्चों को अपने ही डर के कारण पूरी तरह निरख नहीं पाया। केवल मीरा की ओर देखता ही रहा कि जो आज मुझे मिलने आई है, उसमें मेरी पत्नी कहाँ है, कहाँ है वह जो सचमुच मेरी थी।

भरी आँखों से मीरा कज़ाई की घड़ी देखने की निठुराई से आहत हो मैं फटी-फटी, रूखी दृष्टि से फाटक की ओर देखने लगा कि मेरा ही परिवार कुछ क्षण में मुझे यहाँ अकेला छोड़, मुझसे दूर चला जायगा। एक बार मन हुआ कि बच्चों को पकड़नेवाली उन दो बाहों को अपनी ओर खींचकर कहूँ, मैं तुम्हें नहीं जाने दूँगा। पर बच्चों की छोटी-छोटी आँखों का अपरिचय उस आवेश को दूर तक काटता चला गया।

चौंककर देखा, मीरा पास आकर झुकी और अधरों से मस्तक छूकर हौले से पीछे हट गई। उठ बैठा कि एक बार प्यार दूँ, एक बार प्यार लूँ···कि हाथों में मुँह छिपा रोते-रोते मीरा इन बाहों से आ लगी।

मीरा की आँखों से भींगी अपनी रोती आँखों को पोंछकर आस-पास देखा, तो टूटा बाँध सब कुछ बहा ले गया था। न पास मीरा थी, न बच्चे···

तकियों के सहारे सिर ऊँचा करके देखा, उतराई के तीसरे मोड़ पर तीनों चले जा रहे थे। मीरा मेरी ओर से पीठ मोड़े आगे की ओर झुकी थी, बच्चे एक-दूसरे की उँगली पकड़े कभी माँ को देखते थे, कभी राह को।

साँस रोके प्रतीक्षा करता रहा, पर किसी ने पीछे नहीं देखा, न मीरा ने न बेटे ने······केवल छोटी रानी के बालों में गुँथी गुलाबी रिबन देर तक हिल-हिलकर मेरी आँखों से कहती रही—पापा, हम चले गये; पापा हम चले गये।

÷ ÷ ÷ ÷

सच ही सब चले गये हैं। इसलिए नहीं कि उन्हें जाना था, इसलिए कि मैं चला जा रहा हूँ। ऐसे ही एक दिन मन्नो के जाने को भाँपकर मैं उतराई से उतरता चला गया था। मेरी ही तरह अकेले में मन्नो रोई थी। अब जान पाया हूँ कि हाथों में मुँह छिपाकर वह रोना कितना अकेला रोना था। पर इस बार

जाकर बरसों मैंने मन्नो की सुधि नहीं ली। जब कभी नींद में देखता, वह दुबली देह, बड़ी-बड़ी आँखें और कम्बल पर फैली पतली-पतली बाँहें, तो जागकर उद्वेग से मीरा की ओर बढ़ जाता।

एक बार दौरे पर लखनऊ आया तो बुआ मिलीं। देर तक इधर-उधर की बातें करने बाद एकटक स्वर बदल कर बोलीं—रवि, मन्नो तो अब नहीं रही।

'नही बुआ!'—मैं पिता हो जाने के गाम्भीर्य को सम्भालते कहता हूँ—नहीं बुआ...

बुआ जैसे मुझे कहीं वर्षों पहले के उस रवि से कहती है—रात को सोई तो जगी नहीं। अम्मा छुट्टी पर थीं। सुबह-सुबह ख्याली अन्दर आया, तो साँस चुक गई थी।

मैं रुँधे गले से जैसे कुछ पूछने को कहता हूँ—बुआ।

बुआ आँख पोंछती-पोंछती कुछ सोचती रही, फिर दर्द से बोलीं—रवि, एक बार उसे पत्र तो लिखते।

मैं रूमाल से रुलाई सोखने लगा।

'तुम्हारे नाम का एक पारसल छोड़ गई थी अलमारी में। खोला तो जर्सी थी।

दूसरे दिन बुआ के पास फिर आया तो जल्दी-जल्दी पाँव छूकर कहा—' अच्छा, बुआ...

'रवि!'—बुआ की वही कलवाली आवाज थी। मैंने सिर हिलाकर घोर विवशता के से स्वर में कहा—नहीं बुआ, नहीं।

बुआ समझ गईं, मैं कुछ भी जानना नहीं चाहता हूँ। पर जैसे मन-ही-मन मन्नो के लिए टूटकर बोली—यही बार-बार सोचती हूँ कि जिसके प्यार को भी कोई न छू सके, ऐसा दुर्भाग्य उसे क्यों मिला, क्यों मिला?

× × × ×

लखनऊ से लौटकर मैं कई दिन मन से मन्नो को उतार नहीं पाया। यही देखता कि 'पाइन्स' में कुर्सी पर बैठी वह मेरे लिए जर्सी तैयार कर रही है, वही हाथ हैं, वही दृष्टि है...

× × × ×

और एक दिन साल भर घर में बीमार रहने के बाद मैं भुवाली पहुँच गया।

वही चीड़ की ठण्डी हवाएँ थीं, वही सुहाती धूप थी। वही भुवाली थी और वही मैं था। पर इस बार किसी का पता लगाने मुझे पोस्ट आफिस की ओर नहीं जाना था। 'पाइन्स' के सामने वाले पहाड़ पर किसी के अभिशाप से बनी काटेज में पहली बार सोया तो भर-भर आते कण्ठ से रात भर एक ही नाम पुकारता रहा। मन्नो!...मन्नो!...आज वह होती तो मुझे झेल लेती...

हर रोज सुबह उठते बैठते बरामदे से 'पाइन्स' देखता हूँ और मन-ही-मन कहता हूँ—मन्नो!...मन्नो!...

जिस मीरा को मैंने वर्षों जाना है, वह अब पास-सी नहीं लगती, अपनी-सी नहीं लगती। उसे मैंने छू-छूकर छुआ था, चूम-चूमकर चूमा था, पर मन पर जब मोह और प्यार की उछलन आती है, तो मीरा नहीं, मन्नो की आँखें ही सगी दीखती हैं।

खिड़की के सामने लेटे-लेटे, अकेलेपन से घबराकर जब मैं बाहर देखता हूँ तो धुन्ध-भरे बादलों के घेरों में घुँघराले बालों वाला वही चेहरा दीखता है। वही...

आये दिन दवा के नये बदलते हुए रंग देखकर अब इतना तो जान गया हूँ कि इस छूटते-छूटते तन में मन को बहुत देर भटकना नहीं होगा। एक दिन खिड़की से बाहर देखते-देखते इन्हीं बादलों के घेरे में समा जाऊँगा...इन्हीं में समा जाऊँगा।

—समाप्त—